महाकवि हरिचन्द्र : एक अनुशीलन

*

डॉ. पन्नालाल साहित्याचार्य

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

प्राक्कथन

मध्यप्रदेश के सागर-अंचल में जिन-विद्या का विशेष प्रगमन हुआ है। सुदूर प्राचीन काल से ही इस क्षेत्र के वन-कुंजों में ऋषि-मुनियों ने तपःस्वाध्याय-निरत होकर ज्ञान-विज्ञान की वृद्धि के साथ ही साथ उसे सर्वजन-सुलभ भी बनाया है। इस दिशा में आचार्य, डॉ. पन्नालाल जैन का अनवरत प्रयास अनुत्तम है। उनकी हिन्दी और संस्कृत की बहुविध कृतियों से विद्वानों और जिज्ञासुओं को प्रेरणा मिली है।

प्रस्तुत ग्रन्थ 'महाकवि हरिचन्द्र : एक अनुशीलन' डॉ. जैन का शोध-निबन्ध है। इस ग्रन्थ पर सागर विश्वविद्यालय ने उन्हें पी-एच. डी. उपाधि से समलंकृत किया है। डॉ. जैन ने इसमें मानव व्यक्तित्व के विकास और सांस्कृतिक उपलब्धियों का सूक्ष्म दृष्टि से अनुसन्धान किया है। आशा है, आधुनिक युग के चारित्रिक निर्माण की दिशा का निर्धारण करते समय विचारकों और राष्ट्र-निर्माताओं को इसमें बहुमूल्य सामग्री मिलेगी।

हम कामना करते हैं कि आचार्य जैन अपनी लेखनी से भारत-भारती को निरन्तर निर्भर करते रहें।

—रामजी उपाध्याय

अध्यक्ष, संस्कृत विभाग

सागर विश्वविद्यालय, सागर

प्रस्तावना

महाकवि हरिचन्द्र संस्कृत साहित्य जगत् के प्रख्यातनामा कवि हैं। कोमलकान्त-पदावली के द्वारा नवीन-नवीन अर्थ का प्रतिपादन करना कवि की विशेषता है। यह कवि, कल्पनाओं के अन्तरिक्ष में उड़ान भरने में सिद्ध हुआ है तो इसके अगाध सागर में डुबकी लगाने में भी अतिशय निपुण है। इनकी 'धर्मशर्माभ्युदय' और 'जीवन्धरचम्पू' ये दो अमर रचनाएँ हैं। 'धर्मशर्माभ्युदय' में पन्द्रहवें तीर्थंकर धर्मनाथ और 'जीवन्धरचम्पू' में जीवन्धर स्वामी का जीवन-चरित वर्णित है। कथा पौराणिक है परन्तु कवि ने उसे काव्यमयी भाषा में ऐसा अवतीर्ण किया है कि उसे पढ़कर पाठक का हृदय भाव-विभोर हो जाता है।

धर्मशर्माभ्युदय और जीवन्धरचम्पू दोनों ही ग्रन्थ मेरे द्वारा सम्पादित तथा हिन्दी अनुवाद से अलंकृत हो भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित हो चुके हैं। दोनों ग्रन्थों की प्रस्तावनाओं में ग्रन्थकर्ता तथा काव्य की विधाओं पर संक्षिप्त-सा प्रकाश डाला गया है। इस 'महाकवि हरिचन्द्र : एक अनुशीलन' नामक शोध-प्रबन्ध में उन्हीं दो ग्रन्थों की विस्तृत समीक्षा की गयी है। ग्रन्थकर्ता के व्यक्तित्व और कृतित्व पर प्रकाश डालने के अतिरिक्त ग्रन्थों की अभ्यन्तर सामग्री का परिचय तथा शिशुपालवध, किरातार्जुनीय, नैषध तथा चन्द्रप्रभचरित आदि ग्रन्थों से तुलनात्मक उद्धरण भी अंकित किये गये हैं।

इस शोध-प्रबन्ध के चार अध्यायों का संक्षिप्त सार निम्न प्रकार है।

प्रबन्धसार

प्रथमाध्याय

काव्यधारा

'महाकवि हरिचन्द्र : एक अनुशीलन' नामक इस शोध-प्रबन्ध में चार अध्याय हैं। प्रथमाध्याय में 'आधारभूमि' और 'कथा' नामक दो स्तम्भ हैं। 'आधारभूमि' स्तम्भ के १. काव्यधारा, २. महाकवि हरिचन्द्र—व्यक्तित्व और कृतित्व, ३. अभ्युदयनामान्त काव्यों की परम्परा और ४. महाकाव्य-परिभाषानुसन्धान नामक चार स्तम्भों में—पद्यकाव्य, गद्यकाव्य और चम्पूकाव्यों की चर्चा करते हुए चम्पूकाव्यों का ऐतिहासिक क्रम से परिचय दिया गया है। नलचम्पू, यशस्तिलकचम्पू, जीवन्धरचम्पू और पुरुदेवचम्पू का कर्ता के

साथ परिचय दिया गया है। अन्य—'चम्पू रामायण,' 'भागवतचम्पू' तथा 'आनन्द-वृन्दावनचम्पू' आदि प्रसिद्ध चम्पूकाव्यों का उनके कर्ता के साथ नामोल्लेख किया गया है।

महाकवि हरिचन्द्र—व्यक्तित्व और कृतित्व

महाकवि हरिचन्द्र का परिचय देते हुए कहा गया है कि वे नोमक वंश के कायस्थ कुलोत्पन्न आर्द्रदेव और रथ्या के पुत्र थे। इनके छोटे भाई का नाम लक्ष्मण था। गुरु के प्रसाद से इन्हें वाक्‌सिद्धि प्राप्त हुई थी। यह दिगम्बर जैन धर्म के अनुयायी थे। इनका समय ११वीं और १२वीं शताब्दी के मध्य आँका जाता है। इनके रचे हुए 'धर्मशर्माभ्युदय' और 'जीवन्धरचम्पू' ये दो ग्रन्थ उपलब्ध हैं। 'धर्मशर्माभ्युदय' महाकाव्य है और 'जीवन्धरचम्पू' यथानाम चम्पूकाव्य है।

धर्मशर्माभ्युदय में जैन धर्म के पन्द्रहवें तीर्थंकर धर्मनाथ का चरित्र लिखा गया है और जीवन्धरचम्पू में भगवान् महावीर स्वामी के समकालीन क्षत्रिय-शिरोमणि श्री जीवन्धर स्वामी का चरित्र अंकित किया गया है। कुछ विद्वानों, प्रमुख रूप से श्री नाथूरामजी प्रेमी का अभिमत था कि जीवन्धरचम्पू किसी अन्य लेखक की रचना है परन्तु दोनों ग्रन्थों के वर्णन-सादृश्य से यह सिद्ध किया गया है कि ये दोनों ग्रन्थ एक ही हरिचन्द्र की रचनाएँ हैं। दोनों की भाषा और भाव का सादृश्य, अनेक उद्धरण देकर सिद्ध किया गया है। जीवन्धरचम्पू का प्रकाशन प्रेमीजी के जीवनकाल में हो चुका था और उन्हीं की सम्मति से हुआ था। जब मैंने छपने के पूर्व उसकी प्रस्तावना उनके पास भेजी तब उन्होंने धर्मशर्माभ्युदय और जीवन्धरचम्पू के तुलनात्मक उद्धरण देखकर उक्त तथ्य को स्वीकृत कर लिया था।

महाकवि हरिचन्द्र का व्यक्तित्व महान् था। कालिदास, माघ, भारवि आदि महाकवियों की श्रेणी में इनका नाम लिया जाता है। महाकाव्य के समस्त लक्षण इनकी कृतियों में अवतीर्ण हैं। पण्डितराज जगन्नाथ ने काव्य के प्राचीन-प्राचीनतर लक्षणों का समन्वय करते हुए अपने रसगंगाधर में काव्य का लक्षण लिखा है—'रमणीयार्थ-प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' अर्थात् रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करनेवाला शब्द-समूह काव्य है। वह रमणीयता चाहे अलंकार से प्रकट हो, चाहे अभिधा, लक्षणा या व्यंजना से। मात्र सुन्दर शब्दों से या मात्र सुन्दर अर्थ से काव्य, काव्य नहीं कहलाता किन्तु दोनों के संयोग से ही काव्य, काव्य कहलाता है। महाकवि हरिचन्द्र ने अपने काव्यों में शब्द और अर्थ—दोनों को बड़ी सुन्दरता के साथ संजोया है।

काव्यवैभव

रस, ध्वनि, गुण, रीति और अलंकार—साहित्य की इन समस्त विधाओं का इनकी रचनाओं में अच्छा निर्वाह हुआ है। उपमा-उत्प्रेक्षा आदि अर्थालंकार, अनुप्रास-

यमक आदि शब्दालंकार, अलक्ष्यक्रम-व्यंग्य, अर्थान्तर-संक्रमितवाच्य आदि ध्वनि, माधुर्य-ओज आदि गुण तथा वैदर्भी-पांचाली आदि रीति के विविध उदाहरण देकर धर्मशर्माभ्युदय और जीवन्धरचम्पू के काव्यवैभव का दिग्दर्शन कराया गया है।

धर्मशर्माभ्युदय तथा जीवन्धरचम्पू के अनेक स्थल इतने अधिक कौतुकावह हैं कि उन्हें पढ़कर सहृदय पाठक हर्षविभोर हो जाता है। सज्जन-दुर्जन-प्रशंसा, चन्द्रग्रहण, जरा, पुष्पावचय, जलक्रीड़ा तथा चन्द्रोदय आदि का वर्णन कवि ने जिस चमत्कार-पूर्ण वाणी में किया है उससे उनकी काव्य-प्रतिभा साकार हो उठी है।

अभ्युदयनामान्त काव्यों की परम्परा

संस्कृत-साहित्य में अभ्युदयनामान्त काव्यों की भी एक बड़ी शृंखला है। उस शृंखला में हम जिनसेनाचार्य के 'पार्श्वाभ्युदय' का महत्त्वपूर्ण स्थान देखते हैं। इसमें उन्होंने कालिदास के मेघदूत के समस्त श्लोकों को समस्या पूर्ति के रूप में आत्मसात् करके तीर्थंकर पार्श्वनाथ का दिव्य चरित लिखा है। नवीं शती के शिवस्वामी का 'कप्फिणाभ्युदय' भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। यादवाभ्युदय, भरतेश्वराभ्युदय, नौलवाभ्युदय, रामाभ्युदय, नलाभ्युदय, अच्युतरायाभ्युदय और रघुनाथाभ्युदय भी संस्कृत-साहित्य की गरिमा को बढ़ा रहे हैं। इसी परम्परा में महाकवि हरिचन्द्र का यह 'धर्मशर्माभ्युदय' महाकाव्य आता है जिसमें पन्द्रहवें जैन-तीर्थंकर धर्मनाथ का चरित निबद्ध किया गया है।

महाकाव्य परिभाषानुसन्धान

विश्वनाथ कविराज ने साहित्य दर्पण के षष्ठ परिच्छेद में ३१५ से ३२५ श्लोक तक महाकाव्य की जिस परिभाषा का उल्लेख किया है वह धर्मशर्माभ्युदय में पूर्ण रूप से घटित होती है। धीरोदात्त नायक के गुणों से युक्त, क्षत्रियवंशोत्पन्न धर्मनाथ तीर्थंकर इसके नायक हैं। शान्त रस अंगी रस है, शेष रस अंग रस हैं। जीवन्धरचम्पू की रचना गद्य-पद्यमय है इसलिए वह चम्पूकाव्य में आता है। उसमें भी धीरोदात्त नायक जीवन्धर स्वामीका चरित्र अंकित है। उसका भी अंगी रस शान्त रस है और अंग रस के रूप में सब रसों का अच्छा विन्यास है। इसके दशम लम्भ में वीर रस का प्रवाह उच्चकोटि का है। इसका शब्दविन्यास और वर्णनक्रम आश्चर्यजनक है।

कथा का आधार

द्वितीय स्तम्भ में धर्मशर्माभ्युदय और जीवन्धरचम्पू की कथाओं का आधार बतलाते हुए दोनों के आख्यान दिये गये हैं।

धर्मशर्माभ्युदय का आख्यान

भरतक्षेत्र के उत्तर कोशलदेश में राजा महासेन रहते थे। उनकी रानी का नाम सुव्रता था। पति-पत्नी में अगाध प्रेम था। अवस्था ढल गयी परन्तु सन्तान उत्पन्न

नहीं हुई। दम्पती का मन उत्कण्ठित होने लगा। प्रचेतस् मुनि ने राजा को बताया कि तुम्हारे यहाँ तीर्थंकर धर्मनाथ का जन्म होनेवाला है। इसी सन्दर्भ में उन्होंने धर्मनाथ के पूर्वभवों का वर्णन किया। समय आने पर रानी सुव्रता ने धर्मनाथ को जन्म दिया। सर्वत्र आनन्द छा गया। देवों ने जन्मकल्याणक का उत्सव किया। इस प्रकरण में सुमेरु पर्वत, देवसेना तथा क्षीरसमुद्र का उत्तम वर्णन हुआ है। धर्मनाथ तीर्थंकर ने बाल्य-काल को व्यतीत कर ज्यों ही यौवन अवस्था में पदार्पण किया त्यों ही उनके शरीर की आभा दिन दूनी रात चौगुनी विस्तृत होने लगी।

विदर्भदेश के राजा प्रतापराज ने अपनी पुत्री शृंगारवती के स्वयंवर में युव-राज धर्मनाथ को आमन्त्रित करने के लिए दूत भेजा। पिता की आज्ञानुसार युवराज धर्मनाथ ने विदर्भदेश के लिए प्रस्थान किया। इस सन्दर्भ में कवि ने गंगा नदी का और दशम सर्ग में विन्ध्याचल का नाना छन्दों में वर्णन किया है। ऋतुचक्र, वनक्रीड़ा, पुष्पावचय, जलक्रीड़ा, चन्द्रोदय, मधुपान, सुरतगोष्ठी तथा प्रभात आदि काव्य के विविध अंगों का अलंकार पूर्ण भाषा में निरूपण किया है। विदर्भदेश में पहुँचने पर प्रतापराज ने युवराज की बड़े सम्मान के साथ अगवानी की। स्वयंवर में अनेक राजकुमार एकत्रित हुए। सखियों के साथ शृंगारवती ने स्वयंवर-मण्डप में प्रवेश किया। सखी ने सब राज-कुमारों का वर्णन किया। अन्त में शृंगारवती ने युवराज धर्मनाथ के गले में वर-माला डाल दी। युवराज ने वैभव के साथ राजभवन में प्रवेश किया। वर-वधू को देखने के लिए नारियों के हृदय उत्कण्ठा से भर गये। विधिपूर्वक विवाह संस्कार हुआ। इसी बीच पिता महासेन का पत्र पाकर धर्मनाथ पत्नीसहित विमान द्वारा घर चले गये। कुछ असहिष्णु राजकुमारों ने सुषेण सेनापति का प्रतिरोध किया परन्तु वे बुरी तरह पराजित हुए।

बहुत समय तक राज्य करने के बाद उल्कापात देख धर्मनाथ संसार से विरक्त हो तपश्चर्या करने के लिए उद्यत हुए। देवों ने उनके दीक्षाकल्याणक का उत्सव किया। कुछ समय बाद उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हुआ और वे चराचर विश्व के ज्ञाता हो गये। समवसरण की रचना हुई। उसमें स्थित होकर दिव्यध्वनि के द्वारा उन्होंने तत्त्वोपदेश दिया। अन्त में वे सम्मेदाचल से मोक्ष को प्राप्त हुए।

जीवन्धरचम्पू का आख्यान

राजपुर नगर में राजा सत्यन्धर रहते थे। उनकी रानी का नाम विजया था। राजा सत्यन्धर, विषयासक्ति के कारण, राज्य का भार काष्ठांगार को सौंपकर अन्तःपुर में रहने लगे। रानी विजया ने गर्भ धारण किया। जब प्रसव का समय आया तब काष्ठांगार ने राजद्रोह वश राजा सत्यन्धर को सेना से घेरकर मार डाला। युद्ध में जाने के पूर्व सत्यन्धर ने एक मयूरयन्त्र के द्वारा गर्भवती विजया को आकाश में उड़ा दिया।

सायंकाल में वह मयूरयन्त्र राजपुर के श्मशान में उतरा। वहीं घनघोर अन्धकार के बीच रानी ने कथा-नायक जीवन्धर को जन्म दिया।

एक देवी ने चम्पकमाला दासी के वेष में आकर रानी की परिचर्या की। सद्योजात पुत्र को नगर का गन्धोत्कट सेठ ले गया। उसने अच्छी तरह उसका पालन-पोषण किया। रानी विजया दण्डकवन में एक तापसी के वेष में रहने लगी। जीवन्धर ने विद्याध्ययन किया। आर्यनन्दी गुरु ने उनकी अन्तरात्मा को उत्तम संस्कारों से सुसंस्कृत किया। गन्धर्वदत्ता तथा गुणमाला के साथ उनका विवाह हुआ। काष्ठांगार उनकी प्रभुता से मन ही मन खीझता था। एक बार उसने जल्लादों को आदेश दिया कि इसे जान से मार दें। जल्लाद श्मशान में ले गये परन्तु जीवन्धर कुमार के द्वारा उपकृत सुदर्शन यक्ष उन्हें आकाश-मार्ग से अपने स्थान पर ले गया और बड़े सम्मान के साथ उनकी सेवा करने लगा। कुछ समय बाद तीर्थयात्राके उद्देश्य से जीवन्धर कुमार यत्र-तत्र भ्रमण करते रहे। इस सन्दर्भ में उनके कई विवाह हुए। जन्म से ही बिछुड़ी माता विजया के साथ उनका मिलन हुआ। एक वर्ष बाद वैभव के साथ वे राजपुर वापस आये। वहाँ दो कन्याओं के साथ उनका विवाह हुआ। अन्त में मन्त्रणा के उद्देश्य से अपने मामा गोविन्दराज से मिलने के लिए विदर्भदेश गये और गुप्त मन्त्रणा कर गोविन्दराज के साथ राजपुर वापस आये। यहाँ लक्ष्मणा के स्वयंवर में चक्र वेध-कर उसके साथ विवाह किया और काष्ठांगार के साथ युद्ध कर उसे समाप्त किया। अपना राज्य पाकर वे प्रमुदित हुए।

सुदर्शन यक्ष ने जीवन्धर स्वामी का राज्याभिषेक किया। उन्होंने बारह वर्ष के लिए पृथिवी का लगान छोड़ दिया। प्रजा का जीवन आनन्द से व्यतीत होने लगा। अनन्तर संसार से विरक्त हो उन्होंने दीक्षा धारण की और तपश्चर्या कर राजगृही के पर्वत से मोक्ष प्राप्त किया।

इस प्रबन्ध में उनका आख्यान उत्तरपुराण के अनुसार दिया गया है और टिप्पण में अन्य ग्रन्थों के तुलनात्मक टिप्पण देकर उसकी विशेषता सिद्ध की गयी है।

द्वितीयाध्याय

द्वितीयाध्याय के प्रथम स्तम्भ का नाम साहित्यिक सुषमा है। इसके अन्तर्गत सर्वप्रथम धर्मशर्माभ्युदय की काव्य-पीठिका का परिचय देने के अनन्तर उसके काव्यवैभव का प्रदर्शन किया गया है। इस वैभव के प्रदर्शन में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, विरोधाभास, श्लेष, परिसंख्या, अर्थान्तरन्यास, भ्रान्तिमान् और दीपक आदि अलंकारों के महाकाव्यगत उदाहरण देकर सिद्ध किया गया है कि यह महाकाव्य साहित्यिक सुषमा से अत्यन्त सुशोभित है। अलंकार ही नहीं, ध्वनि की सुषमा भी इसकी शोभा बढ़ा रही है।

इसके अनन्तर 'जीवन्धरचम्पू की काव्यकला' तथा 'जीवन्धरचम्पू का

उत्प्रेक्षालोक' इन दो सन्दर्भ लेखों के द्वारा जीवन्धरचम्पू की काव्यकला और उसकी उत्प्रेक्षारूप लम्बी-लम्बी उड़ानों का दिग्दर्शन कराया गया है। दोनों ही लेखों में काव्यगत अनेक उदाहरण सानुवाद प्रस्तुत किये गये हैं। जीवन्धरचम्पू की गद्य भी अपनी निराली छटा रखता है। इसे देख, ऐसा लगता है कि महाकवि हरिचन्द्र के हृदय में न जाने कितने असंख्य शब्दों का भाण्डार भरा हुआ है। रस के अनुरूप शब्दों का विन्यास करना इनके गद्य की विशेषता है।

रस, काव्य की आत्मा है अतः उसके परिपाक की ओर कवि का ध्यान जाना आवश्यक है। दोनों ही ग्रन्थों में कवि ने शृंगार के दोनों भेद, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, अद्भुत, बीभत्स और शान्त इन नौ रसों का यथावसर अच्छा वर्णन किया है। जिस रस से काव्य का समारोप होता है वह अंगी रस कहलाता है। इस दृष्टि से दोनों ही काव्यों का अंगी रस शान्त रस है परन्तु विभिन्न अवसरों पर अंगभूत रसों का भी पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है। अनुष्टुप् छन्द तथा चित्रालंकार की विवशता के कारण यद्यपि धर्मशर्माभ्युदय में वीररस का परिपाक अच्छा नहीं हो पाया है तथापि जीवन्धरचम्पू में यह सब परतन्त्रता न होने से वीररस का परिपाक पराकाष्ठा को प्राप्त हुआ है। उसके दशम लम्भ सम्बन्धी १० पृष्ठों में युद्ध का वह वर्णन है जिसमें वीररस अबाध गति से प्रवाहित हुआ है। रस, अलंकार, गुण और रीति के समान छन्द भी काव्य के प्रधान अंग हैं। लिखते हुए गौरव होता है कि दोनों ही ग्रन्थों में रसानुरूप प्राय: समस्त प्रसिद्ध छन्दों का प्रयोग किया गया है। इस सन्दर्भ में दोनों ग्रन्थों के समस्त श्लोकों के छन्दों की छानबीन की गयी है। क्षेमेन्द्र के सुवृत्ततिलक के अनुसार ही इन काव्यों में छन्दों का प्रयोग हुआ है।

आदान-प्रदान

इस स्तम्भ के अन्तर्गत सर्वप्रथम बताया गया है कि 'जीवन्धरचरित' को उपजीव्य बनाकर संस्कृत, अपभ्रंश, कर्णाटक, तमिल तथा हिन्दी आदि में कितने काव्य उपजीवित हुए हैं उनका उल्लेख किया गया है। प्रत्येक कवि अपने से पूर्ववर्ती कवियों के काव्यों से कुछ ग्रहण करता है तो आगे आनेवाले कवियों के लिए विरासत के रूप में बहुत कुछ दे जाता है। इस सन्दर्भ में विविध उद्धरणों को उद्धृत कर यह सिद्ध किया है कि महाकवि हरिचन्द्र ने कालिदास, भारवि, बाण, दण्डी, माघ तथा वीरनन्दी आदि कवियों से क्या ग्रहण किया है तथा श्रीहर्ष और अर्हद्दास आदि कवियों के लिए क्या दिया है।

'शिशुपालवध और धर्मशर्माभ्युदय' तथा 'चन्द्रप्रभचरित और धर्मशर्माभ्युदय' इन प्रकरणों में दोनों ग्रन्थों का तुलनात्मक अध्ययन कर यह प्रकट किया गया है कि किससे किसने क्या लिया है। दोनों में कितना सादृश्य और कितनी हीनाधिकता है। वस्तुतः ये समीक्षात्मक लेख इस स्तम्भ के महत्त्वपूर्ण अंग बन गये हैं।

तृतीयाध्याय

तीर्थंकर

तृतीयाध्याय में १. सिद्धान्त, २. वर्णन और ३. प्रकृति-निरूपण ये तीन स्तम्भ रखे गये हैं। प्रथम स्तम्भ में तीर्थंकर कैसे हुआ जाता है इसका दिग्दर्शन कराने के लिए दर्शन-विशुद्धि आदि सोलह भावनाओं का वर्णन किया गया है। इस समय 'तत्त्वार्थसूत्र' आदि ग्रन्थों में जिन दर्शन-विशुद्धि आदि सोलह भावनाओं का वर्णन उपलब्ध है, उनका मूल स्रोत क्या है यह बताने के लिए षट्खण्डागम के सूत्रों की छानबीन की गयी है तथा उनके उद्धरण देकर दोनों की तुलना की गयी है। इस सबका वर्णन तीर्थंकर की पृष्ठभूमि शीर्षक से किया है।

जैन सिद्धान्त और जैनाचार

भगवान् धर्मनाथ ने सर्वज्ञ होने के बाद जो तत्त्वोपदेश दिया था उसका कुछ विस्तार से वर्णन किया गया है। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं। इन सभी का अच्छा वर्णन इस सन्दर्भ में किया गया है। जीवन्धरचम्पू के भी विभिन्न प्रकरणों में जैनाचार—श्रावक के कर्तव्यों का अच्छा निदर्शन प्राप्त है अतः उसका भी सप्रमाण संकलन किया गया है।

चार्वाक-दर्शन

धर्मशर्माभ्युदय के चतुर्थ सर्ग में चार्वाक दर्शन का पूर्वपक्ष और उत्तर-पक्ष के द्वारा समीचीन दिग्दर्शन कराया गया है। काव्य में दर्शन जैसा नीरस विषय भी सरस हो गया है यह महाकवि की काव्यप्रतिभा का ही महत्त्व मानना चाहिए। चार्वाक-दर्शन आत्मा का अस्तित्व स्वीकृत नहीं करता है अतः उसमें परलोक साधक तपश्चरणादि क्रियाओं को कोई महत्त्व नहीं दिया गया है परन्तु कवि ने सुयुक्तियों के द्वारा आत्मा का अस्तित्व सिद्ध कर तपश्चरणादि क्रियाओं की सार्थकता सिद्ध की है।

देश और नगर वर्णन

द्वितीय स्तम्भ में देश, नगर, नारी-सौन्दर्य, नेपथ्यरचना, राजा, देवसेना, सुमेरु पर्वत, क्षीरसमुद्र तथा विन्ध्याचल का वर्णन पृथक्-पृथक् लेखों के द्वारा किया गया है। धर्मशर्माभ्युदय और जीवन्धरचम्पू इन दोनों ही ग्रन्थों में देश और नगर का वर्णन करने के लिए कवि ने जिस अलंकार-विच्छित्ति का दर्शन कराया है वह अन्यत्र दुर्लभ है। इस प्रसंग में अनेक उद्धरण देकर उपर्युक्त तथ्य को सिद्ध किया है।

नारी-सौन्दर्य

नारी प्रारम्भ से ही संसार के आकर्षण का केन्द्र रही है, अतः कवियों ने, कलाकारों ने तथा चित्रकारों ने उसे अपनी रचना का लक्ष्य बनाया है। महाकवि

हरिचन्द्र ने दोनों ही काव्यों में नारी के सौन्दर्य का वर्णन जिस खूबी से किया है वह उनकी काव्य-प्रतिभा को प्रकट करने के लिए पर्याप्त है। इस स्तम्भ में सुव्रता और गन्धर्वदत्ताके नखशिख-वर्णन सम्बन्धी अनेक पद्य उद्धृत कर उल्लिखित सत्य की पुष्टि की गयी है।

राजा

राजा, संसार के सात परम स्थानों में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। शिष्टानुग्रह और दुष्टनिग्रह राजा के प्रमुख कार्य हैं। साम, दाम, दण्ड और भेद—इन चार उपायों तथा सन्धि, विग्रह, यान आदि छह गुणों का धारक होना, राजा के लिए आवश्यक है। राजा के इन सब गुणों का वर्णन दोनों ग्रन्थों में अच्छी तरह किया गया है। धर्मशर्माभ्युदय में राजा महासेन और राजा दशरथ का तथा जीवन्धरचम्पू में राजा सत्यन्धर का वर्णन साहित्यिक और राजनीतिक विधाओं से परिपूर्ण है।

देवसेना

भगवान् धर्मनाथ का जन्माभिषेक करने के लिए सौधर्मेन्द्र, अपनी चतुरंगिणी सेना के साथ सुमेरु पर्वत पर गया है। वहाँ हाथी, घोड़े, रथ और पयादे इन चारों अंगों का अच्छा वर्णन हुआ है। स्वभावोक्ति अलंकार ने कवि की तूलिका के द्वारा अंकित रेखाचित्रों में रंग भरने का काम किया है।

सुमेरु

वसुधा के समान धरातल से एक लाख योजन ऊँचे सुमेरु पर्वत के पाण्डुकवन में स्थित पाण्डुक शिला पर तीर्थंकर का जन्माभिषेक होता है। इस प्रसंग में सुमेरु पर्वत का वर्णन आया है। कवि ने श्लेष, रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों के द्वारा उसका सुन्दर वर्णन किया है।

क्षीर सागर

देवों की पंक्तियाँ अभिषेक का जल लेने के लिए क्षीरसमुद्र गयी हैं। इस सन्दर्भ में क्षीरसमुद्र के वर्णन का प्रसंग आया है। मालिनी छन्द में लहराते हुए समुद्र का वर्णन बड़ा मनोरम जान पड़ता है। ऐसा लगता है मानो कवि की उत्प्रेक्षाएँ पाठक के मन को अन्तरिक्ष में उड़ा ले जा रही हैं।

विन्ध्यगिरि

विदर्भदेश को जाते समय युवराज धर्मनाथ ने विन्ध्याचल पर निवास किया था। इसी सन्दर्भ में उसका वर्णन आया है। 'नानावृत्तमयः कश्चित् सर्गः' इस सिद्धान्त के अनुसार कवि ने उसका नाना वृत्तों—छन्दों में वर्णन किया है। अर्थालंकार तो है ही पर यमक नामक शब्दालंकार भी यहाँ अपनी अद्भुत छटा दिखला रहा है।

प्रकृति-निरूपण

तृतीय स्तम्भ में प्रकृति-निरूपण की चर्चा की गयी है।

ऋतुचक्र

धर्मशर्माभ्युदय के ११वें सर्ग में द्रुतविलम्बित छन्द के द्वारा वसन्त आदि छह ऋतुओं का बड़ा सुन्दर वर्णन हुआ है। चतुर्थ लम्भ में किया गया इन का वर्णन पाठक के मन को लुभा लेता है। जीवन्धरचम्पू के चतुर्थ लम्भ में आया हुआ वसन्त ऋतु का वर्णन भी अपने आपमें परिपूर्ण है।

तपोवन

तीर्थयात्रा के प्रसंग में जीवन्धर स्वामी ने तपोवन में विश्राम किया है। इस प्रसंग में तपोवन में पाये जानेवाले विविध अंगों का वर्णन कवि ने अपनी स्वाभाविक वाग्धारा में किया है। यहाँ अलंकार की विच्छित्ति नहीं है किन्तु परमार्थ का प्रशान्त वर्णन है। जटाधारी साधु, वन्य पशुओं का निर्भय विचरण और मुनि बालिकाओं की सदयवृत्ति को देखकर मोही मानव एक बार कुछ विचार करने के लिए उद्यत हो उठता है।

जीवन्धरचम्पू का प्रकृति-वर्णन

जीवन्धरचम्पू के प्रकृति-वर्णन ने भवभूति के प्रकृति-वर्णन को निष्प्रभ-सा कर दिया है। जीवन्धर स्वामी ने घनघोर अटवियों में एकाकी भ्रमण किया है। वहाँ उन्होंने दावानल में पके हुए हाथियों के शुण्ड देखे हैं। गरजते और बरसते हुए मेघ देखे हैं। कल-कल करते हुए पहाड़ी निर्झर और रंग-बिरंगे फूलों से सुशोभित वन की वसुन्धरा को भी देखा है।

सूर्यास्तमन आदि का वर्णन

धर्मशर्माभ्युदय में सूर्यास्त, तिमिर-प्रसार और चन्द्रोदय आदि का वर्णन कवि ने जिस अलंकारपूर्ण भाषा में किया है उसे देख सहृदय पाठक का हृदय बाँसों उछलने लगता है। इस सन्दर्भ में अनेक पद्य उद्धृत कर कवि की प्रतिभा का दिग्दर्शन कराया गया है।

प्रभात-वर्णन

संस्कृत साहित्य में शिशुपाल का प्रभात-वर्णन प्रसिद्ध है पर जब हम धर्मशर्माभ्युदय के प्रभात-वर्णन को देखते हैं तब वह निष्प्रभ दिखाई देने लगता है। शिशुपाल में यत्र-तत्र अश्लीलता के भी दर्शन होते हैं पर धर्मशर्माभ्युदय में शालीनता का पूर्ण ध्यान रखा गया है।

चतुर्थाध्याय

मनोरंजन

चतुर्थ अध्याय के पाँच स्तम्भ हैं। उनमें से प्रथम स्तम्भ में मनोरंजन का निदर्शन कराते हुए पुष्पावचय और जलक्रीड़ा का वर्णन किया गया है। पुष्पावचय में स्त्रियों की सरलता और पुरुषों की वंचकता का अच्छा चित्रण हुआ है। जलक्रीड़ा भी कौतुक बढ़ानेवाली है। इस सन्दर्भ में शिशुपालवध, धर्मशर्माभ्युदय और जीवन्धरचम्पू के विविध उद्धरण देकर उनकी समीक्षा की गयी है।

प्रकीर्णक निर्देश

द्वितीय स्तम्भ में शिशुवर्णन, प्रबोधगीत, स्वयंवर-वर्णन, चन्द्रग्रहण और जरा का अद्भुत वर्णन, सज्जन-प्रशंसा, दुर्जन-निन्दा, पुत्र के अभाव में होनेवाली विकलता और तीर्थंकर की जननी—सुव्रता द्वारा स्वप्न-दर्शन इन सबका पृथक्-पृथक् लेखों में वर्णन है। धर्मशर्माभ्युदय का स्वयंवर-वर्णन रघुवंश के स्वयंवर-वर्णन से प्रभावित है, इसका उद्धरणों द्वारा समर्थन किया गया है। जीवन्धरचम्पू का प्रबोधगीत भी रघुवंश के प्रबोधगीत का अनुसरण करता है, यह बतलाया गया है। पुत्र के अभाव में होनेवाली विकलता का वर्णन करते समय चन्द्रप्रभ में प्रतिपादित विकलता का भी वर्णन किया गया है। इस स्तम्भ में चन्द्रग्रहण तथा जरा के अद्भुत वर्णन पर प्रकाश डालते हुए उस प्रकरण के अनेक श्लोक उद्धृत किये गये हैं।

नीतिनिकुंज

नीतिनिकुंज नामक तृतीय स्तम्भ में दोनों ही ग्रन्थों में आये हुए सुभाषितों का पृथक्-पृथक् संग्रह किया गया है। सुभाषित, उस प्रकाश स्तम्भ के समान हैं जो पथभ्रान्त पुरुषों को सही मार्ग पर लगाया करते हैं। अप्रस्तुत-प्रशंसा अथवा अर्थान्तरन्यास के रूप में अनेक सुभाषित इन ग्रन्थों में अवतीर्ण हुए हैं। सुभाषितों के अतिरिक्त धर्मशर्माभ्युदय में राजा महासेन के द्वारा युवराज धर्मनाथ के लिए जो नीति का उपदेश और राज्य-शासन का दिग्दर्शन कराया गया है वह बाण के शुकनासोपदेश का स्मरण कराता है। इस सन्दर्भ में चन्द्रप्रभचरित के नीत्युपदेश का भी उल्लेख हुआ है। भक्तहृदय जीवन्धरकुमार ने तीर्थयात्रा के प्रसंग में जहाँ-तहाँ जिनेन्द्र भगवान् की जो स्तुति की है उसका 'भक्तिगंगा' नाम से निदर्शन किया गया है।

सामाजिक दशा और युद्ध निदर्शन

इस स्तम्भ में जीवन्धरचम्पू से प्रतिफलित होनेवाली सामाजिक दशा का वर्णन करते हुए वैवाहिक, परिधान, राजनयिक, युद्ध और वाहन, शैक्षणिक, यातायात और धार्मिक व्यवस्थाओं पर प्रकाश डाला गया है। धर्मशर्माभ्युदय तथा जीवन्धरचम्पू के

युद्ध-वर्णन की भी विशद चर्चा की गयी है। इस सन्दर्भ में शिशुपालवध, किरातार्जुनीय तथा चन्द्रप्रभचरित के युद्ध-वर्णन की भी समीक्षा की गयी है।

भौगोलिक निर्देश और उपसंहार

पंचम स्तम्भ में रत्नपुर, हेमांगद देश तथा जीवन्धर स्वामी के भ्रमण-क्षेत्र में आये हुए स्थानों का परिचय प्राप्त करने का प्रयत्न किया गया है। यह सिद्ध किया गया है कि रत्नपुर, बिहार प्रान्त के पटना का निकटवर्ती कोई नगर रहा है और हेमांगद देश, मैसूर प्रान्त के अन्तर्गत कोई मण्डल रहा है।

इसी स्तम्भ में धर्मशर्माभ्युदय के संस्कृत टीकाकार यशस्कीर्ति के जीवन-परिचय पर विचार किया गया है। अन्त में धर्मशर्माभ्युदय और जीवन्धरचम्पू के अनुशीलन रूप में लिखे हुए इस शोध-प्रबन्ध का उपसंहार लिखा गया है।

परिशिष्ट

परिशिष्ट में ४४ सहायक ग्रन्थ और ग्रन्थकारों की सूची दी गयी है।

प्रस्तावना में काव्य-विधा के उद्धरण देकर मैं शोध-प्रबन्ध को पुनरुक्त नहीं करना चाहता हूँ।

इस शोध-प्रबन्ध के लिखने में श्रीमान् डॉ. रामजी उपाध्याय एम. ए., पी-एच. डी., डी. लिट्, अध्यक्ष संस्कृत विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर ने पूर्ण सहयोग दिया है। उन्होंने प्रबन्ध को बड़े मनोयोग से देखा है तथा आवश्यक परिवर्तन और परिवर्धन कराया है। उनकी इस कृपा के लिए मैं आभारी हूँ। सागर विश्वविद्यालय ने इस प्रबन्ध को स्वीकृत कर महाकवि के ग्रन्थ-रत्नों से साहित्यिक क्षेत्र को अवगत कराया, इसकी प्रसन्नता है।

भारतीय ज्ञानपीठ के माध्यम से इस प्रबन्ध का प्रकाशन हो रहा है इसके लिए मैं उसके संचालकों, प्रमुख रूप से उसके मन्त्री श्री बाबू लक्ष्मीचन्द्रजी एम. ए. का अत्यन्त आभारी हूँ जिनकी उदार कृपा से ही इसका प्रकाशन हो रहा है। प्रबन्ध के लिखने में जिन ४४ ग्रन्थ तथा ग्रन्थकारों का सहयोग प्राप्त हुआ है उनके प्रति नम्र श्रद्धाभाव प्रकट करता हुआ त्रुटियों के लिए क्षमाप्रार्थी हूँ।

सागर
१ अगस्त १९७५

विनीत
पन्नालाल साहित्याचार्य

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

स्तम्भ १ : आधारभूमि ३–२०

१. काव्यधारा, २. महाकवि हरिचन्द्र—व्यक्तित्व और कृतित्व, ३. अभ्युदयनामान्त काव्यों की परम्परा, ४. महाकाव्य—परिभाषानुसन्धान।

स्तम्भ २ : कथा २१–४३

५. धर्मशर्माभ्युदय की कथा का आधार, ६. जीवन्धरचम्पू की कथा का आधार, ७. धर्मशर्माभ्युदय का आख्यान, ८. जीवन्धरचरित का तुलनात्मक अध्ययन, ९. जीवन्धरचम्पू के प्रमुख पात्रों का चरित्र-चित्रण।

द्वितीय अध्याय

स्तम्भ १ : साहित्यिक सुषमा ४७–८६

१०. धर्मशर्माभ्युदय की काव्य-पीठिका, ११. धर्मशर्माभ्युदय का काव्य-वैभव, १२. जीवन्धरचम्पू की काव्यकला, १३. जीवन्धरचम्पू का उत्प्रेक्षा-लोक, १४. धर्मशर्माभ्युदय का रस-परिपाक, १५. जीवन्धरचम्पू का रस-प्रवाह, १६. जीवन्धरचम्पू का विप्रलम्भ शृंगार और प्रणय-पत्र, १७. जीवन्धरचम्पू में शान्त रस की पावन धारा, १८. धर्मशर्माभ्युदय में छन्दों की रसानुगुणता, १९. जीवन्धरचम्पू में छन्दोयोजना।

१०

स्तम्भ २ : आदान-प्रदान ८७–१०१

२०. जीवन्धरचरित की उपजीव्यता, २१. उपजीव्य और उपजीवित, २२. शिशुपालवध और धर्मशर्माभ्युदय, २३. चन्द्रप्रभचरित और धर्मशर्माभ्युदय ।

तृतीय अध्याय

स्तम्भ १ : सिद्धान्त १०५–११८

२४. तीर्थंकर की पृष्ठभूमि, २५. धर्मशर्माभ्युदय में जैन-सिद्धान्त, २६. जीवन्धरचम्पू में जैनाचार, २७. धर्मशर्माभ्युदय में चार्वाक दर्शन और उसका निराकरण ।

स्तम्भ २ : वर्णन ११९–१४४

२८. धर्मशर्माभ्युदय में देश और नगर-वर्णन, २९. जीवन्धरचम्पू का नगरी-वर्णन, ३०. धर्मशर्माभ्युदय का नारी-सौन्दर्य, ३१. जीवन्धरचम्पू में नारी-सौन्दर्य का वर्णन, ३२. जीवन्धरचम्पू की नेपथ्य-रचना, ३३. राजा, ३४. देवसेना, ३५. सुमेरु, ३६. क्षीरसमुद्र, ३७. विन्ध्यगिरि ।

स्तम्भ ३ : प्रकृति-निरूपण १४५–१५६

३८. धर्मशर्माभ्युदय का ऋतुचक्र, ३९. जीवन्धरचम्पू का तपोवन, ४०. जीवन्धरचम्पू का प्रकृति-वर्णन, ४१. सूर्यास्तमन, तिमिरोद्गति, चन्द्रोदय, पानगोष्ठी आदि, ४२. धर्मशर्माभ्युदय का प्रभात-वर्णन ।

चतुर्थ अध्याय

स्तम्भ १ : आमोद-निदर्शन (मनोरंजन) १५९–१६७

४३. धर्मशर्माभ्युदय में पुष्पावचय और जलक्रीडा, ४४. जीवन्धरचम्पू का वसन्त-वैभव ।

स्तम्भ २ : प्रकीर्णक निर्देश १६८–१८३

४५. जीवन्धरचम्पू में शिशु-वर्णन, ४६. जीवन्धरचम्पू का प्रबोध-गीत, ४७. धर्मशर्माभ्युदय का स्वयंवर-वर्णन, ४८. चन्द्रग्रहण और जरा का अद्भुत वर्णन, ४९. सज्जन-प्रशंसा और दुर्जन-निन्दा, ५०. पुत्राभाव-वेदना, ५१. स्वप्नदर्शन ।

स्तम्भ ३ : नीति-निकुंज १८४–१९१

५२. धर्मशर्माभ्युदय का सुभाषितनिचय, ५३. धर्मशर्माभ्युदय का नीत्युपदेश और राज्य-शासन, ५४. जीवन्धरचम्पू का सुभाषितसंचय, ५५. जीवन्धर स्वामी की भक्तिगंगा।

स्तम्भ ४ : सामाजिक दशा और युद्ध-निदर्शन १९२–२०१

५६. जीवन्धरचम्पू से ध्वनित सामाजिक स्थिति, ५७. धर्मशर्माभ्युदय का युद्धवर्णन और चित्रालंकार, ५८. जीवन्धरचम्पू का युद्धनिरूपण।

स्तम्भ ५ : भौगोलिक निर्देश और उपसंहार २०२–२०७

५९. धर्मशर्माभ्युदय का रत्नपुर, ६०. जीवन्धर का हेमांगद देश और उसका भ्रमण-क्षेत्र, ६१. धर्मशर्माभ्युदय के संस्कृत-टीकाकार, ६२. उपसंहार, ६३. अन्त्यनिवेदनम्।

परिशिष्ट

सहायक-ग्रन्थ-सूची २०८–२१०

□

महाकवि हरिचन्द्र :
एक अनुशीलन

प्रथम अध्याय

स्तम्भ १ : आधारभूमि

१. काव्यधारा
२. महाकवि हरिचन्द्र—व्यक्तित्व और कृतित्व
३. अभ्युदयनामान्त काव्यों की परम्परा
४. महाकाव्य—परिभाषानुसन्धान

स्तम्भ २ : कथा

५. धर्मशर्माभ्युदय की कथा का आधार
६. जीवन्धरचम्पू की कथा का आधार
७ धर्मशर्माभ्युदय का आख्यान
८. जीवन्धरचरित का तुलनात्मक अध्ययन
९. जीवन्धरचम्पू के प्रमुख पात्रों का चरित्र-चित्रण

स्तम्भ १ : आधारभूमि

काव्यधारा

पद्यकाव्य

श्रव्यकाव्य के पद्य, गद्य और चम्पू इन तीन भेदों में पद्यकाव्य अत्यन्त विस्तृत है। भगवती शारदा ने वैदिक दुरूह गीतों की कारा से मुक्ति पाकर ज्योंही कवियों की कमनीय कल्पनाओं से ओतप्रोत काव्यकाल में पदार्पण किया त्योंही भास, कालिदास, अश्वघोष, भारवि, भवभूति, माघ, हरिचन्द्र, वीरनन्दी और श्रीहर्ष आदि कवियों ने विविध ग्रन्थ रूप पारिजात-पुष्पों से उनकी चरण-वन्दना की। यही कारण है कि संस्कृत का पद्य-साहित्य-रूप उपवन आज भी विविध प्रबन्ध-पादपों से हरा-भरा है। पद्य शब्द की निष्पत्ति 'पद गतौ' धातु से हुई है। उसकी निरुक्ति है 'पत्तुं योग्यं पद्यम्' अर्थात् जो गतिशील हो वह पद्य कहलाता है। वस्तुतः पद्य कितना गतिशील है, यह कहने की आवश्यकता नहीं। संस्कृत साहित्य ही नहीं, विश्व का समस्त साहित्य आज पद्य-रचना से प्रभावित है।

गद्यकाव्य

'गदितुं योग्यं गद्यम्' इस निरुक्ति से गद्य शब्द की निष्पत्ति 'गद व्यक्तायां वाचि' धातु से होती है और उसका अर्थ होता है स्पष्ट कहने के योग्य। तात्पर्य यह है कि मनुष्य, जिसके द्वारा अपना अभिप्राय स्पष्ट कह सके वह गद्य है। पद्य की मात्राओं और गणों की परतन्त्रता में मनुष्य ऐसा जकड़ जाता है कि खुलकर पूरी बात कहने की उसमें सामर्थ्य ही नहीं रहती। कर्ता, कर्म, क्रिया और उसके विशेषणों का जो स्वाभाविक क्रम होता है वह भी पद्य में समाप्त हो जाता है। कर्ता कहीं पड़ा है, कर्म कहीं है, क्रिया कहीं है और उनके विशेषण कहीं हैं। बिना अन्वय की योजना किये पद्य का अर्थ लगाना भी कठिन हो जाता है परन्तु गद्य में यह असंगति नहीं रहती। हृदय यह स्वीकार करना चाहता है कि भाषा में गद्य प्राचीन है और पद्य अर्वाचीन। शिशु के मुख से जब वाणी का सर्वप्रथम स्रोत फूटता है तब वह गद्य-रूप में ही फूटता है। पद्य का प्रवाह प्रबुद्ध होने पर जिस किसी के मुख से ही फूट पाता है सबके नहीं।

पद्य-साहित्य की इतनी प्रचुरता और लोकप्रियता के होने पर भी गद्य-साहित्य ही स्थिर ज्योति-स्तम्भ के समान कल्पनाओं के अन्तरिक्ष में उड़नेवाले कवियों को मार्ग-

दर्शन करा रहा है। विद्वानों के वैदुष्य की परख कविता से न होकर गद्य से ही होती देखी जाती है। अब भी संस्कृत साहित्य में यह उक्ति प्रचलित है—'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति' अर्थात् गद्य-काव्य ही कवियों की कसौटी है। कवि के वैदुष्य की हीनता, कविता-कामिनी के अंचल में सहज ही छिप सकती है पर गद्य में नहीं। कविता में छन्द की परतन्त्रता कवि की रक्षा के लिए उन्नत प्राचीर का काम देती है पर गद्य-लेखक की रक्षा के लिए कोई प्राचीर नहीं रहती। गद्य-साहित्य की विरलता में उसकी कठिनाई भी एक कारण हो सकती है। क्योंकि गद्य लिखने की क्षमता रखनेवाले विद्वान् अल्प ही होते आये हैं। यही कारण है कि संस्कृत-साहित्य में काव्य की शैली से गद्य लिखनेवाले लेखक अंगुलियों पर गणनीय हैं। यथा—वासवदत्ता के लेखक सुबन्धु, कादम्बरी और हर्षचरित के लेखक बाण, दशकुमार-चरित के लेखक दण्डी, गद्यचिन्तामणि के लेखक वादीभसिंह, तिलक-मंजरी के लेखक धनपाल और शिवराज-विजय के लेखक अम्बिकादत्त व्यास। चम्पू-साहित्य के रूप में पद्यों के साथ गद्य लिखने-वाले लेखक इनकी अपेक्षा कुछ अधिक हैं।

गद्य की धारा सदा एक रूप में प्रवाहित नहीं होती, किन्तु रस के अनुरूप परिवर्तित होती रहती है। रौद्र अथवा वीर रस के प्रकरण में जहाँ हम गद्य की समास-बहुल गौड़ी-रीति-प्रधान रचना देखते हैं वहाँ शृंगार तथा शान्त आदि रसों के सन्दर्भ में उसे अल्प-समास से युक्त अथवा समास-रहित वैदर्भी-रीतिप्रधान देखते हैं। संस्कृत गद्य-साहित्य में बाण की कादम्बरी का जो बहुमान है वह उसकी रसानुरूप शैली के ही कारण है। नाटकों में गद्य का दीर्घ-समासरहित रूप ही शोभा देता है। संस्कृत-नाटकों में भवभूति के मालती-माधव और हस्तिमल्ल के विक्रान्त-कौरव का गद्य नाट्य-साहित्य के अनुरूप नहीं प्रतीत होता। जिस गद्य को सुनकर दर्शक को झटिति भावाव-बोध न हो वह नाटकोचित नहीं है। भास और कालिदास की भाषा नाटकों के सर्वथा अनुरूप है।

चम्पू-काव्य

'गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते' इस लक्षण के अनुसार चम्पू-काव्य उस मिश्र काव्य का नाम है जिसमें गद्य और पद्य का मिश्रण रहता है। इस मिश्रण का समुचित विभाग यही प्रतीत होता है कि भावात्मक विषयों का वर्णन पद्य के द्वारा हो और वर्णनात्मक विषयों का वर्णन गद्य के द्वारा हो, परन्तु उपलब्ध चम्पू-काव्यों में इस विभाग की उपलब्धि कम होती है।

चम्पू-काव्य, गद्य काव्य का ही प्रकारान्तर से संवर्धन प्रतीत होता है इसीलिए इसका उदय-काल गद्यकाव्य के सुवर्णयुग के पश्चात् आता है। यही कारण है कि दशम शताब्दी से पूर्वरचित चम्पू की उपलब्धि अभी तक नहीं हुई है। यद्यपि गद्य और पद्य का मिश्रण वैदिक संहिताओं, विशेषकर कृष्ण-यजुर्वेदीय संहिताओं में भी उपलब्ध

है तथापि वह चम्पू का प्रकार नहीं माना जा सकता। पद्य के साथ गद्य को मिश्रित करने की पद्धति विक्रम की द्वितीय शताब्दी में भी परिलक्षित होती है। आर्यसूर की 'जातकमाला' इसका सुन्दर दृष्टान्त है। हरिषेण की प्रयाग-प्रशस्ति में भी पद्य के साथ गद्य की समन्वित रचना पायी जाती है अतः इन्हें चम्पू-काव्य के पूर्व-रूप मानने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं जान पड़ती परन्तु काव्य के सम्पूर्ण लक्षणों से समन्वित चम्पू-काव्य का जो रूप आज उपलब्ध है वह उनमें नहीं है।

लोगों की रुचि विभिन्न प्रकार की होती है, कुछ लोग तो गद्यकाव्य को अधिक चाहते हैं और कुछ पद्यकाव्य को अच्छा मानते हैं, पर चम्पूकाव्य में दोनों का ध्यान रखा जाता है इसलिए वह सबको अपनी ओर आकर्षित करता है। महाकवि हरिचन्द्र ने जीवन्धरचम्पू के प्रारम्भ में कहा भी है —

> गद्यावलिः पद्यपरम्परा च प्रत्येकमप्यावहति प्रमोदम्।
> हर्षप्रकर्षं तनुते मिलित्वा द्राग् बाल्यतारुण्यवतीव कान्ता॥

अर्थात् गद्यावली और पद्यावली—दोनों ही प्रमोद उत्पन्न करती हैं फिर हमारा यह काव्य तो दोनों से युक्त है। अतः मेरी यह रचना बाल्य और तारुण्य अवस्था से युक्त कान्ता के समान अत्याह्लाद उत्पन्न करेगी।

संस्कृत का सर्वप्रथम उत्कृष्ट चम्पू, त्रिविक्रम भट्ट का नलचम्पू

इसमें नल-दमयन्ती की कथा गुम्फित है। सात उच्छ्वासों में ग्रन्थ पूर्ण हुआ है। श्लेष, परिसंख्या आदि अलंकार पद-पद पर इसकी शोभा बढ़ा रहे हैं। पदविन्यास इतना सरस और सुकुमार है कि कवि की कला के प्रति मस्तक श्रद्धावनत हो जाता है। इसी कवि की दूसरी रचना 'मदालसाचम्पू' भी है। यह कवि ई. ९१५ में हुआ है। इसका दूसरा नाम 'यमुना-त्रिविक्रम' भी प्रसिद्ध है।

यशस्तिलकचम्पू

आचार्य सोमदेव के यशस्तिलकचम्पू की रचना ९५९ ई. में हुई है। इस चम्पू में आचार्य ने कथा-भाग की रक्षा करते हुए कितना प्रमेय भर दिया है, यह देखते ही बनता है। इसके गद्य कादम्बरी से भी बढ़-चढ़कर हैं, कल्पना का उत्कर्ष अनुपम है, कथा का सौन्दर्य ग्रन्थ के प्रति आकर्षण उत्पन्न करता है। सोमदेव ने प्रारम्भ में ही लिखा है कि जिस प्रकार नीरस तृण खानेवाली गाय से सरस दूध की धारा प्रवाहित होती है उसी प्रकार जीवनपर्यन्त न्याय-जैसे नीरस विषय में अवगाहन करनेवाले मुझसे यह काव्यसुधा की धारा बह रही है। इस ग्रन्थ-रूपी महासागर में अवगाहन करनेवाले विद्वान् ही समझ सकते हैं कि आचार्य सोमदेव के हृदय में कितना अगाध वैदुष्य भरा है। उन्होंने एक स्थल पर स्वयं कहा है कि लोकवित्त्व और कवित्व में समस्त संसार सोमदेव का उच्छिष्टभोजी है अर्थात् उनके द्वारा वर्णित वस्तु का ही वर्णन करनेवाला है। इस महाग्रन्थ में आठ समुच्छ्वास हैं। अन्त के तीन समुच्छ्वासों में सम्यग्दर्शन तथा

उपासकाध्ययनांग का विस्तृत और समयानुरूप वर्णन है। तृतीय समुच्छ्वास में राजनीति की विशद चर्चा है। आचार्य सोमदेव का नीतिवाक्यामृत नीतिशास्त्र का उत्तम ग्रन्थ है। इसके सूत्र, प्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ ने कितने ही स्थलों पर उद्धृत किये हैं। इनका एक 'अध्यात्मामृततरंगिणी' ग्रन्थ भी है जिसकी रचना अत्यन्त प्रौढ़ है। ग्रन्थ पद्यमय है। यह मेरे द्वारा सम्पादित और अनूदित होकर अहिंसा मन्दिर दिल्ली से प्रकाशित हो चुका है।

जीवन्धरचम्पू

यशस्तिलकचम्पू के पश्चात् महाकवि हरिचन्द्र का जीवन्धरचम्पू मिलता है। इसकी कथा वादीभसिंह की 'गद्यचिन्तामणि' अथवा 'क्षत्रचूडामणि' से ली गयी है। यद्यपि जीवन्धर स्वामी की कथा का मूल स्रोत गुणभद्र के उत्तर-पुराण में मिलता है तथापि चम्पू में मूल कथा से नाम तथा कथानक सम्बन्धी भिन्नता है। इसमें प्रत्येक लम्भ की कथा-वस्तु तथा पात्रों के नाम आदि गद्यचिन्तामणि से मिलते-जुलते हैं। महाकवि के इस काव्य में भगवान् महावीरस्वामी के समकालीन क्षत्रचूडामणि श्री जीवन्धरस्वामी की कथा गुम्फित की है। पूरी कथा अलौकिक घटनाओं से भरी है। जीवन्धरस्वामी का चरित्र-चित्रण इतना उत्कृष्ट है कि उससे उनका क्षत्रचूडामणित्व अर्थात् क्षत्रियों का शिरोमणिपना अनायास सिद्ध हो जाता है। इस काव्य की रचना में कवि ने विशेष कौशल दिखलाया है। अलंकार की पुट और कोमलकान्त-पदावली बरबस पाठक के मन को अनायास और आकृष्ट कर लेती है। इसमें कवि की निसर्गसिद्ध प्रतिभा झलकती है, इसीलिए प्रकरणानुकूल अर्थ और अर्थानुकूल शब्दों के चयन में उसे अल्प भी प्रयत्न नहीं करना पड़ा है। कितने ही गद्य तो इतने कौतुकावह हैं कि उन्हें पढ़कर कवि की प्रतिभा का अलौकिक चमत्कार दृष्टिगोचर होने लगता है। नगरीवर्णन, राजवर्णन, राज्ञीवर्णन, चन्द्रोदय, सूर्योदय, वनक्रीड़ा, जलक्रीड़ा, युद्ध आदि काव्य के समस्त वर्णनीय विषयों को कवि ने यथास्थान इतना सजाकर रखा है कि देखते ही बनता है। गद्यचिन्तामणि और क्षत्रचूडामणि के समान इसमें भी ग्यारह लम्भ हैं।

पुरुदेवचम्पू

इसके पश्चात् चम्पू काव्यों में महाकवि अर्हद्दास के पुरुदेवचम्पू[1] का स्थान या नाम आता है। इसमें श्लेष, परिसंख्या तथा उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों की विच्छित्ति अपना प्रमुख स्थान रखती है। इसके दस स्तबकों में भगवान् ऋषभदेव तथा उनके पुत्र भरत और बाहुबली की कथा चर्चित है। आदि के तीन स्तबकों में भगवान् ऋषभदेव के पूर्वभवों का वर्णन है और उसके आगे के स्तबकों में उनकी पंचकल्याणक-रूप कथा का

१. भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसी से प्रकाशित (सम्पादन और संस्कृत हिन्दी टीका–पन्नालाल साहित्याचार्य)।

वर्णन किया गया है। वैसे तो इसके सभी स्तबक विशिष्ट कवि-प्रतिभा के परिचायक हैं पर चतुर्थ स्तबक से लेकर आगे के स्तबकों में कवि-प्रतिभा का विशिष्ट दर्शन होता है। इसके रचयिता अर्हद्दासजी तेरहवीं शती के अन्तिम भाग के विद्वान् हैं। इन्होंने अपने आपको जैन वाङ्मय के प्रसिद्ध विद्वान् पं. आशाधरजी का शिष्य घोषित किया है।

तदनन्तर भोजराज के 'चम्पूरामायण', अभिनव कालिदास के 'भागवतचम्पू', कवि कर्णपूर के 'आनन्दवृन्दावनचम्पू', जीव गोस्वामी के 'गोपालचम्पू', अनन्त कवि के 'चम्पूभारत', केशवभट्ट के 'नृसिंहचम्पू', रामनाथ के 'चन्द्रशेखरचम्पू', श्रीकृष्ण कवि के 'मन्दारमरन्दचम्पू' और पन्त विट्ठलदेव के 'गजेन्द्रचम्पू' आदि ग्रन्थ दृष्टि में आते हैं। आचार्य बलदेव उपाध्याय[1] के उल्लेखानुसार एक सौ इकतीस चम्पूकाव्यों के नाम तथा अस्तित्व का परिज्ञान होता है। जबकि डॉ. छविनाथ त्रिपाठी ने अपनी 'चम्पूकाव्य का आलोचनात्मक एवं ऐतिहासिक अध्ययन' नामक कृति में २४५ चम्पूकाव्यों की सूची दी है। इनमें अधिकांश रचनाएँ अब भी अप्रकाशित हैं। इस अल्पकाय निबन्ध में समस्त चम्पूकाव्यों का परिचय दे सकना शक्य नहीं है, इसलिए कुछ प्रकाशित रचनाओं का परिचय व नाम देकर ही सन्तोष धारण किया है। इस प्रासंगिक भूमिका के अनन्तर महाकवि हरिचन्द्र और उनके ग्रन्थों का अनुशीलन किया जाता है।

महाकवि हरिचन्द्र : व्यक्तित्व और कृतित्व

महाकाव्यों में 'धर्मशर्माभ्युदय' और चम्पूकाव्यों में 'जीवन्धरचम्पू' प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। धर्मशर्माभ्युदय के प्रत्येक सर्ग के तथा जीवन्धरचम्पू के प्रत्येक लम्भ के अन्त में दिये हुए पुष्पिकावाक्यों से और धर्मशर्माभ्युदय के उन्नीसवें सर्ग के ९८-९९ श्लोकों के द्वारा रचित षोडशदल कमलबन्ध से सूचित 'हरिचन्द्रकृतं धर्मजिनपतिचरितम्' पद से तथा उसी सर्ग के १०१-१०२ श्लोकों से निर्मित चक्रबन्ध से निर्गत निम्नांकित—

आर्द्रदेवसुतेनेदं काव्यं धर्मजिनोदयम्।
रचितं हरिचन्द्रेण परमं रसमन्दिरम्॥

श्लोक से सिद्ध होता है कि इन दोनों ग्रन्थों के रचयिता महाकवि हरिचन्द्र हैं। यह हरिचन्द्र कौन हैं? किसके पुत्र हैं और इनके भाई का क्या नाम है? इसका परिचय धर्मशर्माभ्युदय की प्रशस्ति से निकलता है। यद्यपि यह प्रशस्ति सम्पादन के लिए प्राप्त सब प्रतियों में नहीं है, जैसे 'क' प्रति,[2] जो संस्कृत टीका से युक्त है उसमें यह प्रशस्ति नहीं है। इससे संशय होता है कि यह प्रशस्ति महाकवि हरिचन्द्र के द्वारा रचित न हो, पीछे से किसी ने जोड़ दी हो किन्तु १५३५ विक्रम संवत् की लिखी 'छ'[3] प्रति में यह मिलती है इससे इतना तो सिद्ध होता है कि यह प्रशस्ति यदि पीछे से किसी ने जोड़ी

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास।
२. यह प्रति ऐलक पन्नालाल दि. जैन सरस्वती भवन बम्बई की है।
३. यह प्रति भाण्डारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट पूना की है।

है तो १५३५ संवत् से पूर्व की जोड़ी है। इसके अतिरिक्त अपने पिता—'आर्द्रदेव' का उल्लेख ग्रन्थकर्ता ने स्वयं धर्मशर्माभ्युदय में किया ही है। प्रशस्ति के श्लोकों की भाषा, महाकवि की भाषा से मिलती-जुलती है अतः बहुत कुछ सम्भव यही है कि यह ग्रन्थकर्ता की ही रचना है। प्रशस्ति इस प्रकार है—

श्रीमानमेयमहिमास्ति स नोमकानां[1]
वंशः समस्तजगतीवलयावतंसः।
हस्तावलम्बनमवाप्य यमुल्लसन्ती
वृद्धापि न स्खलति दुर्गपथेषु लक्ष्मीः ॥१॥

मुक्ताफलस्थितिरलंकृतिषु प्रसिद्ध-
स्तत्रार्द्रदेव इति निर्मलमूर्तिरासीत्।
कायस्थ एव निरवद्यगुणग्रहः स-
न्नेकोऽपि यः कुलमशेषमलंचकार ॥२॥

लावण्याम्बुनिधिः कलाकुलगृहं सौभाग्यसद्भाग्ययोः
क्रीडावेश्म विलासवासवलभीभूषास्पदं संपदाम्।
शौचाचारविवेकविस्मयमही प्राणप्रिया शूलिनः
शर्वाणीव पतिव्रता प्रणयिनी रथ्येति[2] तस्याभवत् ॥३॥

अर्हत्पदाम्भोरुहचञ्चरीकस्तयोः सुतः श्रीहरिचन्द्र आसीत्।
गुरुप्रसादादमला बभूवुः सारस्वते स्रोतसि यस्य वाचः ॥४॥

भक्तेन शक्तेन च लक्ष्मणेन निर्व्याकुलो राम इवानुजेन।
यः पारमासादितबुद्धिसेतुः शास्त्राम्बुराशेः परमाससाद ॥५॥

पदार्थवैचित्र्यरहस्यसंपत्सर्वस्व-निर्वेशमयात्प्रसादात्।
वाग्देवतायाः समवेदि सम्यैर्यः पश्चिमोऽपि प्रथमस्तनूजः ॥६॥

स कर्णपीयूषरसप्रवाहं रसध्वनेरध्वनि सार्थवाहः।
श्रीधर्मशर्माभ्युदयाभिधानं महाकविः काव्यमिदं व्यधत्त ॥७॥

एव्यत्यसारमपि काव्यमिदं मदीय-
मादेयतां जिनपतेरनघैश्चरित्रैः।
पिण्डं मृदः स्वयमुदस्य नरा नरेन्द्र-
मुद्राङ्कितं किमु न मूर्धनि धारयन्ति ॥८॥

दक्षैः साधु परीक्षितं नवनवोल्लेखार्पणेनादराद्
यत्नेतः कषपट्टिकासु शतशः प्राप्तप्रकर्षोदयम्।
नानाभङ्गिविचित्रभावघटनासौभाग्यशोभास्पदं
सद्यः काव्यसुवर्णमस्तु कृतिनां कर्णद्वयीभूषणम् ॥९॥

---

१. मूडबिद्री के जैन मठ में स्थित २४ नम्बर की पुस्तक में 'नेमकानां' पाठ है।
२. 'क' प्रति में 'रामेति' पाठ है।

श्रीयाज्जैनमिदं मतं शमयतु क्रूरानपीयं कृपा
भारत्या सह शीलयत्वविरतं श्रीः साहचर्यव्रतम् ।
मात्सर्यं गुणिषु त्यजन्तु पिशुनाः संतोषलीलाजुषः
सन्तः सन्तु भवन्तु च श्रमविदः सर्वे कवीनां जनाः ॥१०॥

प्रशस्ति का भाव यह है—

श्रीमान् तथा अपरिमित महिमा को धारण करनेवाला वह नोमक वंश था जो समस्त भूमण्डल का आभरण था। जिसका हस्तावलम्बन पा लक्ष्मी, वृद्ध होने पर भी दुर्गम मार्गों में कभी स्खलित नहीं होती ॥१॥ उस नोमक वंश में निर्मल-मूर्ति के धारक वह आर्द्रदेव हुए जो अलंकारों में मुक्ताफल की तरह सुशोभित होते थे। वह कायस्थ थे, निर्दोष गुणग्राही थे, और एक होकर भी समस्त कुल को अलंकृत करते थे ॥२॥ उनके महादेव के पार्वती की तरह रथ्या नाम की वह प्राणप्रिया थी, जो सौन्दर्य की सिन्धु थी, कलाओं की कुलभवन थी, सौभाग्य और उत्तम भाग्य की क्रीड़ाभवन थी, विलास के रहने की अट्टालिका थी, सम्पदाओं के आभूषण का स्थान थी, पवित्र आचार, विवेक और आश्चर्य की भूमि थी ॥३॥ उन दोनों के अरहन्त भगवान् के चरण-कमलों का किंकर हरिचन्द्र नाम का वह पुत्र हुआ जिसके वचन गुरुओं के प्रसाद से सरस्वती के प्रवाहशास्त्रों में निर्मल थे ॥४॥ वह हरिचन्द्र श्रीरामचन्द्रजी के समान भक्त तथा समर्थ लघु भाई लक्ष्मण के साथ निराकुल हो बुद्धिरूपी पुल को पाकर शास्त्ररूपी समुद्र के द्वितीय तट को प्राप्त हुआ था ॥५॥ पदार्थों की विचित्रता-रूप गुप्त सम्पत्ति के समर्पणस्वरूप सरस्वती के प्रसाद से सभ्यों ने उसे सरस्वती का अन्तिम पुत्र होने पर भी प्रथम पुत्र माना था ॥६॥ जो रस-रूप ध्वनि के मार्ग का सार्थवाह था ऐसे उसी महाकवि ने कानों में अमृत-रस के प्रवाह के समान यह धर्मशर्माभ्युदय नाम का महाकाव्य रचा है ॥७॥ मेरा यह काव्य निःसार होने पर भी जिनेन्द्र भगवान् के निर्दोष चरित्र से उपादेयता को प्राप्त होगा। क्या राजमुद्रा से अंकित मिट्टी के पिण्ड को लोग उठा उठा-कर स्वयं मस्तक पर धारण नहीं करते ? ॥८॥ समर्थ विद्वानों ने नये-नये उल्लेख अंकित कर बड़े आदर के साथ जिसकी परीक्षा की है, जो विद्वानों के हृदय-रूप कसौटी के ऊपर सैकड़ों बार खरा उतरा है और जो विविध उक्तियों से विचित्र भाव की घटना रूप सौभाग्य का शोभाशाली स्थान है, ऐसा हमारा यह काव्यरूपी सुवर्ण विद्वानों के कर्ण-युगल का आभूषण हो ॥९॥ यह जिनेन्द्र भगवान् का मत जयवन्त हो, यह दया क्रूर-प्राणियों को भी शान्त करे, लक्ष्मी निरन्तर सरस्वती के साथ साहचर्य-व्रत धारण करे, खलपुरुष गुणवान् मनुष्यों में ईर्ष्या को छोड़ें, सज्जन सन्तोष की लीला को प्राप्त हों, और सभी लोग कवियों के परिश्रम को जाननेवाले हों ॥१०॥

उक्त प्रशस्ति से विदित होता है कि नोमकवंश के कायस्थ कुल में आर्द्रदेव नामक एक श्रेष्ठ पुरुषरत्न थे। उनकी पत्नी का नाम रथ्या था। महाकवि हरिचन्द्र इन्हीं के पुत्र थे। प्रशस्ति के पंचम श्लोक में उपमालंकार के द्वारा इन्होंने अपने छोटे

भाई लक्ष्मण का भी उल्लेख किया है। जिस प्रकार रामचन्द्रजी अपने भक्त और शक्त—समर्थ छोटे भाई लक्ष्मण के द्वारा समुद्र के पार को प्राप्त हुए थे उसी प्रकार महाकवि हरिचन्द्र भी अपने भक्त तथा शक्त छोटे भाई लक्ष्मण के द्वारा गृहस्थी के भार से निर्व्याकुल हो शास्त्र रूपी समुद्र के द्वितीय पार को प्राप्त हुए थे। कवि ने यह तो लिखा है कि गुरु के प्रसाद से उनकी वाणी निर्मल हो गयी थी पर वे गुरु कौन हैं? यह नहीं लिखा। प्रतिपादित पदार्थों के वर्णन से प्रतीत होता है कि वे दिगम्बर-सम्प्रदाय के अनुयायी थे।

यद्यपि यह जन्मना कायस्थ थे और कायस्थों में वैष्णव धर्म का प्रचार देखा जाता है परन्तु अपने परीक्षा-प्रधान गुण के कारण इन्होंने जैन-धर्म स्वीकृत किया था ऐसा जान पड़ता है। स्वयं जैन न होते हुए केवल अर्थलाभ के उद्देश्य से उन्होंने जैन महाकाव्यों की रचना की होगी यह सम्भावना नहीं की जा सकती क्योंकि 'धर्मशर्माभ्युदय' और 'जीवन्धरचम्पू' दोनों ही ग्रन्थों में जैन तत्त्व का जो भी वर्णन किया गया है उससे कवि की जैनधर्म में पूर्ण आस्था प्रकट होती है। अन्तरंग की आस्था के बिना ऐसा वर्णन सम्भव नहीं दिखता।

महाकवि, धर्म के विषय में मनुष्य की आस्था को स्वतन्त्र छोड़ देना अच्छा समझते थे। कोई भी मनुष्य अपनी इच्छानुसार किसी भी धर्म में अपनी आस्था रखने और तदनुसार आचरण करने में स्वतन्त्र है। धर्मशर्माभ्युदय के चतुर्थ सर्ग में वर्णित सुसीमा नगरी का राजा दशरथ जैन था परन्तु उसकी सभा में जो सुमन्त्र मन्त्री था वह चार्वाक मत का अनुयायी था। चन्द्रग्रहण को देख राजा दशरथ, संसार शरीर और भोगों से निर्विण्ण होकर मुनि-दीक्षा धारण करने का विचार सभा में प्रकट करते हैं उसके उत्तर में सुमन्त्र मन्त्री अपनी धारणा के अनुसार परलोक का खण्डन करता हुआ राजा के उस प्रयत्न को व्यर्थ बतलाता है।[1] राजा दशरथ सुमन्त्र के वक्तव्य का सुयुक्तियों से खण्डन तो करते हैं पर यह धमकी नहीं देते कि तुम हमारे अधीनस्थ मन्त्री होकर हमारे धर्म की निन्दा करते हो, साथ ही हमारे प्रयत्न को व्यर्थ बतलाते हो अतः हमारे मन्त्री नहीं रह सकते? सुमन्त्र मन्त्री के मन में भी यह आतंक उत्पन्न हुआ नहीं दिखता कि मैं महाराज के द्वारा स्वीकृत धर्म की बुराई कर चार्वाकमत की प्रशंसा करता हूँ, इससे महाराज रुष्ट न हो जायें। इस सन्दर्भ से यह सिद्ध होता है कि महाकवि हरिचन्द्र धर्म के विषय में प्रत्येक मानव को स्वतन्त्र रहने देना चाहते हैं। अपनी रचनाओं में जैन सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हुए वे किसी अन्य सिद्धान्त की कटु आलोचना नहीं करते हैं इससे कवि की धर्म-विषयक उदारता प्रमाणित होती है।

---

१. देव त्वदारब्धमिदं विभाति नभःप्रसूनाभरणोपमानम्।
जीवात्मना धर्ममपीह नास्ति कुतस्तनी तत्परलोकवार्ता ॥६५॥
विहाय तद्दृष्टमदृष्टहेतोर्वृथा कृथाः पार्थिव मा प्रयत्नम्।
को ना स्तनाग्रात्पयसोऽनुधावन् धैनोर्दुग्धं विदग्धो ननु दोग्धि शृङ्गम् ॥
।४-६६। धर्मशर्माभ्युदय

महाकवि हरिचन्द्र सरल और विनयी थे। उन्हें इस बात का अहंकार नहीं था कि मैं एक बड़ा कवि हूँ। ग्रन्थ के प्रारम्भ में अपनी लघुता बतलाते हुए वे बहुत ही नम्र शब्दों में कहते हैं—

वियत्पथप्रान्तपरीक्षणाद्वा लङ्घेतदम्भोनिधिलङ्घनाद्वा।
मात्राधिकं मन्दधिया मयापि यद्वर्ण्यते जैनचरित्रमत्र ॥११॥
पुराणपारीणमुनीन्द्रवाग्भिर्यद्वा ममाप्यत्र गतिर्भवित्री।
कुब्जोऽपि सिध्यत्यधिरोढुमर्णाः सोपानमार्गेण मनस्स्थापि मनोऽभिलाषः ॥१२॥

मुझ मन्दबुद्धि के द्वारा भी इस ग्रन्थ में जो जिनेन्द्रदेव का चरित्र कहा जा रहा है सो मेरा यह कार्य समुद्र को लाँघने अथवा आकाश-मार्ग के अन्त के अवलोकन से भी कुछ अधिक है—उक्त दोनों कार्य तो अशक्य हैं ही पर यह कार्य उनसे भी कुछ अधिक अशक्य है।

अथवा पुराण-रचना में निपुण महामुनियों के वचनों से मेरी भी इसमें गति हो जायेगी, क्योंकि सीढ़ियों के द्वारा लघु मनुष्य की भी मनोभिलाषा उत्तुंग भवन सम्बन्धी शिखर पर चढ़ने में पूर्ण हो जाती है।

महाकवि हरिचन्द्र की यह विनयोक्ति कालिदास की निम्नांकित विनयोक्ति के अनुरूप है—

क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ॥२॥
मन्दः कवियशः-प्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्।
प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः ॥३॥
अथवा कृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन् पूर्वसूरिभिः।
मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः ॥४॥ (रघुवंश सर्ग १)

कवि कहता है—

नृपो गुरूणां विनयं प्रदर्शयन् भवेदिहामुत्र च मङ्गलास्पदम्।
स चाविनीतस्तु तनूनपादिव ज्वलन्नशेषं दहति स्वमाश्रयम् ॥३४॥
(सर्ग १८)

गुरुओं की विनय को प्रदर्शित करनेवाला राजा इस लोक तथा परलोक में मंगलभाक् होता है। यदि वही राजा अविनीत—विनयहीन (पक्ष में अवि—मेष रूप वाहन पर भ्रमण करनेवाला) हुआ तो अग्नि के समान प्रज्वलित होता हुआ अपने समस्त आश्रय को जला देता है।

महाकवि हरिचन्द्र का परिवार विस्तृत नहीं था। उन्होंने प्रशस्ति में माता-पिता के अतिरिक्त मात्र लक्ष्मण नामक छोटे भाई का उल्लेख किया है। साथ ही यह भी उल्लेख किया है कि उनका वह भाई भक्त और शक्त—दोनों था। अपने अग्रज की सुख-सुविधा का सदा ध्यान रखता था और कुटुम्ब के परिपालन में समर्थ था। भाई के इन

गुणों के कारण ही वे गृहस्थी की चिन्ताओं से मुक्तप्राय रहते थे तथा इसीलिए शास्त्र-समुद्र के पारगामी हो सके थे। गृहस्थी की चिन्ताओं में उलझा हुआ मानव सरस्वती की आराधना में निमग्न नहीं हो सकता है। इन्हें अपने भाई की अनुकूलता अपने स्नेह के कारण ही प्राप्त हुई थी। उनका कहना है कि अपने आश्रित मनुष्य को यदि स्नेह से युक्त रखना चाहते हो तो उसे सिद्धार्थ—कृतकृत्य करो—उसकी सुख-सुविधा का पूर्ण ध्यान रखो। यदि कदाचित् उसे सिद्धार्थ न कर सके तो वह पीड़ित होने पर स्नेह को छोड़कर खल—दुर्जन हो जायेगा। इसका श्लेषमय चित्रण देखिए—

अनुज्झितस्नेहभरं विभूतये विधेहि सिद्धार्थसमूहमाश्रितम्।
स पीलितः स्नेहमपास्य तत्क्षणात्खलीभवन् केन निवार्यते पुनः ॥ (१८-१८)

स्नेह का भार न छोड़नेवाले (पक्ष में तेल का भार न छोड़नेवाले) आश्रित जन को विभूति प्राप्त करने के लिए सिद्धार्थ-समूह—कृतकृत्य (पक्ष में पीत सरसों) बना लो। क्योंकि पीड़ित किया नहीं कि वह स्नेह (पक्ष में तेल) छोड़कर तत्क्षण खल—दुर्जन (पक्ष में खली) होता हुआ पुनः किसके द्वारा रोका जा सकता है।

यह भी हो सकता है कि महाकवि हरिचन्द्र स्त्री-रहित हों, इसीलिए उनका छोटा भाई उन्हें एकाकी जानकर उनकी सुख-सुविधा का ध्यान रखता हो और वे स्वयं भी गार्हस्थ्य के चक्र से निवृत्त होने के कारण तत्सम्बन्धी आकुलता में न पड़कर शारदा देवी की उपासना में संलग्न हो गये हों। इस आशंका का समर्थन इससे भी होता है कि इन्होंने स्त्री के शरीर का जो चित्रण अपने काव्य में किया है उससे स्त्री के प्रति उनका पूर्ण विराग सिद्ध होता है। देखिए—

विण्मूत्रादेर्धाम मध्यं वधूनां तच्छिद्रव्यन्दद्वारमेवेन्द्रियाणि।
श्रोणीबिम्बं स्थूलमांसास्थिकूटं कामान्धानां प्रीतये धिक्तथापि ॥२०-१७॥

स्त्रियों का मध्यभाग मल-मूत्र आदि का स्थान है, इनकी इन्द्रियाँ मल-मूत्रादि निकलने का द्वार हैं और उनका नितम्बबिम्ब स्थूल मांस तथा हड्डियों का समूह है फिर भी धिक्कार है कि वह कामान्ध मनुष्यों की प्रीति के लिए होता है।

यद्यपि महाकवि ने प्रशस्ति में अपने निवास का कुछ भी उल्लेख नहीं किया है तथापि ग्रन्थान्तर्गत वर्णनों से जान पड़ता है कि मध्यप्रान्त से उनका अच्छा सम्बन्ध रहा है। उन्होंने उत्तरकोशल देश के रत्नपुर नगर से लेकर विदर्भदेश की कुण्डिनपुरी तक धर्मनाथ की स्वयंवर-यात्रा का वर्णन किया है: इसी प्रसंग के बीच, मार्ग में पड़नेवाली गंगा नदी का साहित्यिक रीति से सुन्दर वर्णन किया है। विन्ध्याचल का दशमसर्गव्यापी वर्णन यह सूचित करता है कि कवि ने इस पर्वत का साक्षात्कार अवश्य किया है।

इसके अतिरिक्त जीवन्धरचम्पू के सप्तम लम्भ में एक किसान का वर्णन किया है—

करधृतसृजुतोत्रः कम्बलच्छन्नदेहः
कटितटगतदात्रः स्कन्धसम्बद्धसीरः।

वनभुवि पथि कश्चिदागमत्तस्य पार्श्वं
निमतिनियतरूपा प्राणिनां हि प्रवृत्तिः ॥२॥

जो हाथ में सीधा पैना लिये था, कम्बल से जिसका शरीर आच्छादित था, जिसकी कमर में हँसिया लटक रहा था तथा जिसके कन्धे पर हल रखा हुआ था ऐसा कोई पुरुष वनभूमि में उनके समीप आया ।

किसान का यही रूप मध्यप्रदेश में आज भी देखा जाता है । जान पड़ता है कि कवि की आँखों में मध्यप्रदेश के किसान का यह रूप बार-बार झूलता रहा है तभी तो उसका इतना स्वाभाविक वर्णन किया है ।

हरिचन्द्र नाम के अनेक विद्वान् और महाकवि हरिचन्द्र का समय

'कर्पूरमंजरी नाटिका' में महाकवि राजशेखर ने प्रथम यवनिका के अनन्तर एक जगह विदूषक के द्वारा[1] हरिचन्द्र का उल्लेख किया है । एक हरिचन्द्र का उल्लेख बाणभट्ट ने 'श्रीहर्षचरित'[2] में किया है । एक हरिचन्द्र विश्वप्रकाशकोष के कर्ता महेश्वर के पूर्वज चरकसंहिता के टीकाकार साहसांक नृपति के प्रधान वैद्य भी थे । पर इन सबका 'धर्मशर्माभ्युदय' और 'जीवन्धरचम्पू' के कर्ता हरिचन्द्र के साथ कोई एकीभाव सिद्ध नहीं होता, क्योंकि धर्मशर्माभ्युदय के २१वें सर्ग में जैन-सिद्धान्त का जो वर्णन है वह यशस्तिलकचम्पू और चन्द्रप्रभचरित से प्रभावित है अतः उसके कर्ता, आचार्य सोमदेव और आचार्य वीरनन्दी से परवर्ती हैं पूर्ववर्ती नहीं । 'कर्पूरमंजरी' के कर्ता राजशेखर और 'श्रीहर्षचरित' के कर्ता बाणभट्ट पूर्ववर्ती हैं । जीवन्धरचम्पू और धर्मशर्माभ्युदय के कर्ता एक ही हरिचन्द्र हैं ऐसा आगे तुलनात्मक उद्धरणों से सिद्ध किया जायेगा । जीवन्धरचम्पू का कथानक जहाँ वादीभसिंह सूरि की 'गद्यचिन्तामणि' तथा 'क्षत्रचूडामणि' से लिया गया है वहाँ गुणभद्र के 'उत्तरपुराण' से भी वह प्रभावित है अतः हरिचन्द्र गुणभद्र से परवर्ती हैं । साथ ही धर्मशर्माभ्युदय में श्रावक के जो आठ मूल-गुणों का वर्णन किया गया है वह यशस्तिलकचम्पू के रचयिता सोमदेव के मतानुसार है इसलिए सोमदेव के परवर्ती हैं । सोमदेव ने यशस्तिलकचम्पू की रचना १०१६ वि. सं. में पूर्ण की है । धर्मशर्माभ्युदय की एक प्रति पाटण (गुजरात) के संघवीपाड़ा के पुस्तक-भण्डार में वि. सं. १२८७ की लिखी विद्यमान है ।[3] इससे यह निश्चित होता है कि महाकवि हरिचन्द्र उक्त संवत् से पूर्ववर्ती हैं । इस तरह पूर्व और पर-अवधियों पर विचार करने से जान पड़ता है कि हरिचन्द्र ११-१२ शताब्दी के विद्वान् हैं । धर्मशर्माभ्युदय

---

१. विदूषक : (उज्जुअं एव्व किं ण भण्णइ, अम्हाणं चेडिआ हरिअन्द-णन्दिअन्द-कोटिस-हालप्पमुहाणं पि पुरदो सुकइ त्ति ।)

२. पदबन्धोज्ज्वलो हारी कृतवर्णक्रमस्थितिः ।
भट्टारहरिचन्द्रस्य गद्यबन्धो नृपायते ॥

३. १२८७ वर्षे हरिचन्द्र-कवि-विरचित-धर्मशर्माभ्युदयमहाकाव्यपुस्तिका श्रीरत्नाकर-सूरि-आदेशेन कीर्तिचन्द्रगणिना लिखितमिति भद्रम् (पाटण के संघवीपाड़ा के पुस्तक-भण्डार की सूची) ।

पर कालिदास के रघुवंश, भारवि के किरातार्जुनीय, वीरनन्दी के चन्द्रप्रभचरित, माघ के शिशुपाल-वध की शैली का प्रभाव है, इसका आगे विचार किया जायेगा।

महाकवि हरिचन्द्र की रचनाएँ

महाकवि हरिचन्द्र की दो रचनाएँ उपलब्ध हैं—१. धर्मशर्माभ्युदय और २. जीवन्धरचम्पू। यद्यपि[1] स्व. नाथूरामजी प्रेमी के अनुसार जीवन्धरचम्पू के कर्ता, धर्मशर्माभ्युदय के कर्ता से भिन्न हैं परन्तु धर्मशर्माभ्युदय और जीवन्धरचम्पू के भावों तथा शब्दों की समानता से जान पड़ता है कि दोनों का कर्ता एक होना चाहिए। इसके अतिरिक्त जीवन्धरचम्पू की जो हस्तलिखित[2] प्रति उपलब्ध है उसके पुष्पिका-वाक्यों में इसके कर्ता हरिचन्द्र का ही उल्लेख किया गया है। ग्रन्थान्त में ग्रन्थकर्ता ने स्वयं अपने नाम का उल्लेख इस प्रकार किया है—

अष्टाभिः स्वगुणैरयं कुरुपतिः पुष्टोऽथ जीवन्धरः
सिद्धः श्रीहरिचन्द्रवाङ्मयमधुस्यन्दिप्रसूनोच्चयैः।
भक्त्याराधितपादपद्मयुगलो लोकातिशायिप्रभां
निस्तुल्यां निरपायसौख्यलहरीं संप्राप मुक्तिश्रियम् ॥५८॥

—जी. चं. लम्भ ११

इस प्रकार जो अपने आठ गुणों से पुष्टि को प्राप्त हुए थे, और हरिचन्द्र कवि ने अपने मधुर-वचन-रूपी पुष्पों के समूह से भक्तिवश जिनके दोनों चरण-कमलों की पूजा की थी वे जीवन्धर स्वामी सिद्ध होकर लोकोत्तरप्रभा से युक्त, अनुपम तथा अविनाशी सुख की परम्परा से सुशोभित मुक्तिरूपी लक्ष्मी को प्राप्त हुए।

कीथ महोदय[3] भी हरिचन्द्र को ही जीवन्धरचम्पू का कर्ता मानते हैं। यह कहना कि धर्मशर्माभ्युदय को देखकर किसी परवर्ती कवि ने उसके भाव और शब्दों को आत्मसात् कर इसकी रचना की है, उचित नहीं जान पड़ता। मर्मज्ञ विद्वान् की दृष्टि में यह बात अनायास आ जाती है कि यह बात कवि ने अन्यत्र से ली है और यह स्वतः लिखी है। अन्ततोगत्वा नक़ल नक़ल ही है। जिस प्रकार सोमदेव के यशस्तिलकचम्पू के नीतिभाग और नीति-वाक्यामृत में एककर्तृक होने के कारण पद-पद पर सादृश्य पाया जाता है उसी प्रकार जीवन्धरचम्पू और धर्मशर्माभ्युदय में एककर्तृक होने से पद-पद पर सादृश्य पाया जाता है। दोनों ही ग्रन्थों में रस का प्रवाह, अलंकार की पुट और शब्द-विन्यास की शैली एक-सी है। यहाँ मैं दोनों ग्रन्थों के कुछ अवतरण देकर इस विषय को स्पष्ट कर देना उचित समझता हूँ। विस्तार के भय से अवतरणों का अनुवाद नहीं दिया जा रहा है—

---

१. जैनसाहित्य का इतिहास, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई।
२. ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन, बम्बई।
३. देखो, पं. सीताराम जयराम जोशी का 'संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास'।

१. धर्मशर्माभ्युदय

अपारसंसारतमस्यपारे
    सन्तश्चतुर्वर्गफलानि सर्वे ।
एतीश यो द्वि-द्विदिवाकरेन्दु-
    व्याजेन धत्ते चतुरः प्रदीपान् ।—सर्ग १, श्लोक ३५

१. जीवन्धरचम्पू

अपारसंसारसन्तमसान्धीकृतजीवलोकस्य पुरुषार्थचतुष्टयप्रकाशनायेव दिवाकर-युगलनिशाकरयुगलव्याजेन प्रदीपचतुष्टयमाबिभ्राणे । —पृष्ठ ४

२. धर्मशर्माभ्युदय

जनैः प्रतिग्रामसमीपमुच्चैः कृता वृषाद्यैर्वरधान्यकूटाः ।
[illegible] विश्रामशैला इव भान्ति भानोः ॥—सर्ग १, श्लोक ४८

२. जीवन्धरचम्पू

उदयास्ताचलमध्यसंचारखिन्नस्य सरोजबन्धोर्विश्रमाय वेधसा विरचितैरिव धरा-धरैर्धान्यराशिभिरुद्भासितम् । —पृष्ठ ५

३. धर्मशर्माभ्युदय

कल्पद्रुमान् कल्पितदानशीलान् जेतुं किलोत्तालपतत्रिनादैः ।
आहूय दूराद्वितरन्ति वृक्षाः फलान्यचिन्त्यानि जनाय यत्र ॥—सर्ग १, श्लोक ५५

३. जीवन्धरचम्पू

अतिदूरप्रवृद्धशाखाविलसितकैतवेन हस्तमुदस्य विचित्रपतत्रिविरुतैः कल्पपादपान् जेतुमिवाहूयमानैः । —पृ. ५

४. धर्मशर्माभ्युदय

वृद्धिं परामुदरमाप यथा यथास्याः
    श्यामाननः स्तनभरोऽपि तथा तथाभूत् ।
यद्वा नितान्तकठिनां प्रकृतिं भजन्तो
    मध्यस्थमप्युदयिनं न जडाः सहन्ते ।—सर्ग ६, श्लोक ५

४. जीवन्धरचम्पू

यथा यथासीदुदरं विवृद्धं तथा तथास्याः कुचकुम्भयुग्मम् ।
श्यामाननत्वं सममाप राज्ञा स्वप्नस्य पाकादनुतापकर्त्री ॥—लम्भ १, श्लोक ५६
संवृद्धमुदरं वीक्ष्य तत्स्तनौ मलिनाननौ ।
न सहन्ते हि कठिना मध्यस्थस्यापि संपदम् ॥—लम्भ १, श्लोक ५७

५. धर्मशर्माभ्युदय

सा भारतीव चतुरास्तिगभीरमर्थं
बेलेव गूढमणिमण्डलमम्बुराशेः ।
पौरन्दरी दिगिव मेरुतिरोहितेन्दुं
गर्भं तदा नृपवधूर्दधती रराज ॥—सर्ग ६

५. जीवन्धरचम्पू

सा नरपालसती महाकविभारतीव गम्भीरार्थम्, शारदाम्बुजसरसीव राजहंसम्, रत्नाकरवेलेव मणिम्, पुरन्दरहरिदिवेन्दुमण्डलम् । — पृ. २३

६. धर्मशर्माभ्युदय

उत्खातपङ्किलबिसाविव राजहंसौ
शुभ्रौ सभृङ्गवदनाविव पद्मकोषौ ।
तस्याः स्तनौ हृदि रसैः सरसीव पूर्णे
संरेजतुर्गवलमेचकचूचुकाग्रौ ॥—सर्ग ६, श्लोक ८

६. जीवन्धरचम्पू

श्यामाननं कुचयुगं दधती वधूः सा
पाथोजिनीव मधुपाञ्चितकोशयुग्मा ।
पङ्कास्थहंसमिथुना सरसीव रेजे
लोलम्बचुम्बितगुलुच्छयुगा लतेव ॥—लम्भ १, पद्य ५८

७. धर्मशर्माभ्युदय

एकेन तेन बलिना स्वबलेन तस्या
भङ्क्त्वा बलित्रयमवर्धत मध्यदेशः ।
....
.... ॥—सर्ग ६, श्लोक ७

७. जीवन्धरचम्पू

मध्यदेशश्चकोराक्ष्याः शिशुना बलिना तदा ।
भङ्क्त्वा बलित्रयं राशस्तापेनाभूत्समं गुरुः ॥—लम्भ १, श्लोक ६०

८. धर्मशर्माभ्युदय

चित्रं किमेतज्जिनयामिनीपति-
र्यथा यथा वृद्धिमनश्वरीमगात् ।
सीमानमुल्लङ्घ्य तथा तथाखिलं
प्रमोदवार्धिर्जगदप्यपूरयत् ॥—सर्ग ९, श्लोक २

८. जीवन्धरचम्पू

यथा यथा जीवकयामिनीशो
विवृद्धिभागाद्विलसत्कलापः ।
तथा तथावर्धत मोदवार्धि-
रुद्वेलमुख्यनिकायभर्तुः ॥—लम्भ १, श्लोक ९९

९. धर्मशर्माभ्युदय

उदञ्चदुच्चैःस्तनवप्रशालिन-
स्तदङ्गकन्दर्पविलासवेश्मनः ।
वरोरुयुग्मं नवतप्तकाञ्चन-
प्रपञ्चितस्तम्भनिभं व्यराजत ॥—सर्ग २, श्लोक ४१

९. जीवन्धरचम्पू

मनोजगेहस्य तदङ्गकस्य
वक्षोजवप्रेण विराजितस्य ।
ऊरुद्वयं स्तम्भनिभं विरेजे
प्रतप्तचामीकरचारुरूपम् ॥—लम्भ ३, श्लोक ५५

१०. धर्मशर्माभ्युदय

ललामलेखाशशकलेन्दुनिर्गलत्-
सुधोरुधारेव घनत्वमागता ।
तदीयनासा द्विजरत्नसंहते-
स्तुलेव कान्त्या जगदप्यतोलयत् ॥—सर्ग २, श्लोक ४३

१०. जीवन्धरचम्पू

नासा तदीया मुखचन्द्रबिम्बा-
द्विनिर्गलद्भव्यसुधोरुधारा ।
घनत्वमाप्तेव रदालिमुक्ता
मणी-तुलायष्टिरिव व्यलासीत् ॥—लम्भ ३, श्लोक ६४

११. धर्मशर्माभ्युदय

कपोललावण्यमयाम्बुपल्वले
पतत्सतृष्णाखिलनेत्रपत्रिणाम् ।
ग्रहाय पाशाविव वेधसा कृतौ
तदीयकर्णौ पृथुलांसचुम्बिनौ ॥—सर्ग २, श्लोक ५७

११. जीवन्धरचम्पू

जनदृक्पक्षिबन्धाय पाशौ किं वेधसा कृतौ ।
तत्कर्णावुत्पलव्याजाज्जनदृक्पक्षिरक्षिणौ ॥—लम्भ ४, श्लोक ६६

१२. धर्मशर्माभ्युदय

उच्चैस्तनशिखोल्लासि-पत्रशोभामदूरतः ।
वनालीं वीक्ष्य भूपालः प्रेयसीमित्यभाषत ॥—सर्ग ३, श्लोक २२
अनेकविटपस्पृष्टपयोधरतटा स्वयम् ।
वदत्युद्यानमालेयमकुलीनत्वमात्मनः ॥—सर्ग ३, श्लोक २४

१२. जीवन्धरचम्पू

अभिसारिकामिवोच्चैः स्तनशिखरशोभितपत्ररचनामनेकविटपसंस्पृष्ट-
पयोधरतटां चारामवीथीम् ।—पृ. ७७

१३. धर्मशर्माभ्युदय

सजो विचित्रा हृदि जीवितेश्वरैः
समाहितास्ताश्चकोरचक्षुषाम् ।
तदन्तरेऽन्तर्विशतो मनोभुव-
श्चकासिरे वन्दनमालिका इव ॥—सर्ग १२, श्लोक ५४

१३. जीवन्धरचम्पू

वक्षःस्थलेष्वत्र चकोरचक्षुषां
प्रियैः प्रक्लृप्ताः सुखमालिका बभुः ।
अन्तःप्रवेशोद्यतशम्बरद्विषः
सनातनास्तोरणमालिका इव ।—लम्भ ४, श्लोक ११

१४. धर्मशर्माभ्युदय

उदग्रशाखाकुसुमार्थमुद्भुजा
व्युदस्य पाणिद्वयमञ्चितोदरी ।
नितम्बभूस्रस्तदुकूलबन्धना
नितम्बिनी कस्य चकार नोत्सवम् ॥—सर्ग १२, श्लोक ४२

१४. जीवन्धरचम्पू

सपरिजनसजार्थवामहस्तेन काचिद्
विधृतसुरभिशाखा सव्यहस्तात्तकाञ्ची ।
अमलकनकगौरी निर्गलन्नीविबन्धा
नयनसुखमनन्तं कस्य वा हाङ् न तेने ॥—लम्भ ४, श्लोक ७

एक विचारणीय बात

इतना सब होने पर भी एक बात अवश्य विचारणीय है कि कवि ने जीवन्धर-चम्पू में पाँच अणुव्रतों का धारण और तीन मकार का त्याग इनको श्रावक के आठ मूल गुण बतलाया है और धर्मशर्माभ्युदय में मद्य, मांस, मधु, त्याग तथा पंचोदुम्बर फल के त्याग को आठ मूल गुण बताया है। जैसा कि दोनों ग्रन्थों में कहा गया है—

हिंसानृतस्तेयवधूव्यवायपरिग्रहेभ्यो विरतिः कथंचित् ।
मद्यस्य मांसस्य च माक्षिकस्य त्यागस्तथा मूलगुणा इमेऽष्टौ ॥
—जी. च., लम्भ ७, श्लोक १६

मद्यमांसासवत्यागः पञ्चोदुम्बरवर्जनम् ।
अमी मूलगुणाः सम्यग्दृष्टेरष्टौ प्रकीर्तिताः ॥
—धर्म., सर्ग २१, श्लोक १३२

इसी प्रकार चार शिक्षाव्रतों के वर्णन में भी कुछ वैशिष्ट्य है—

सामायिकः प्रोषधकोपवासस्तथातिथीनामपि संग्रहश्च ।
सल्लेखना चेति चतुःप्रकारं शिक्षाव्रतं शिक्षितमागमज्ञैः ॥
—जी. च., लम्भ ७, श्लोक १८

सामायिकमथाद्यं स्याच्छिक्षाव्रतमगारिणाम् ।
आर्तरौद्रे परित्यज्य त्रिकालं जिनवन्दनात् ॥१४९॥
निवृत्तिर्भुक्तभोगानां वा स्यात्पर्वचतुष्टये ।
प्रोषधाख्यं द्वितीयं तच्छिक्षाव्रतमितीरितम् ॥१५०॥
भोगोपभोगसंख्यानं क्रियते यदलोलुपैः ।
तृतीयं तत्तदाख्यं स्याद्दुःखदावानलोदकम् ॥१५१॥
गृहागताय सत्काले शुद्धं दानं यतात्मने ।
अन्ते सल्लेखना वाथ्यत्तच्चतुर्थं प्रकीर्त्यते ॥१५२॥

अर्थात् जीवन्धरचम्पू में सामायिक, प्रोषधोपवास, अतिथिसंविभाग और सल्लेखना ये चार शिक्षाव्रत गिनाये गये हैं। और धर्मशर्माभ्युदय में सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग परिमाण और अतिथिसंविभाग अथवा सल्लेखना ये चार शिक्षाव्रत कहे गये हैं।

एक ही ग्रन्थकर्ता अपने दो ग्रन्थों में दो प्रकार की मान्यताओं का उल्लेख करता है यह विचारणीय बात है। मूल-गुण, गुणव्रत और शिक्षाव्रतों के नामोल्लेख में जैनाचार्यों में शासन-भेद है। इतना अवश्य है कि आचार्यों ने एतद्विषयक अपनी मान्यता का उल्लेख करते हुए किसी दूसरी मान्यता का निराकरण किया हो, यह देखने में नहीं आया। फलतः जो दो-तीन प्रकार की मान्यताएँ प्रचलित हैं वे सबको स्वीकार्य हैं। सम्भव है कि कवि ने एक ग्रन्थ में एक मान्यता का उल्लेख किया हो और दूसरे ग्रन्थ में दूसरी मान्यता का। धर्मशर्माभ्युदय में शिक्षाव्रतों का वर्णन करते समय अतिथि-संविभाग के विकल्प में सल्लेखना का भी नामोल्लेख करते हुए कवि ने अपनी तटस्थता सूचित की है।

महाकवि हरिचन्द्र की दूसरी रचना—जीवन्धरचम्पू का विशद परिचय आगे दिया जायेगा।

अभ्युदयनामान्त काव्यों की परम्परा

अभ्युदयान्त नामवाले काव्यों में जिनसेन का 'पार्श्वाभ्युदय' बहुत प्रसिद्ध है। यह कालिदास के मेघदूत की समस्या पूर्ति के रूप में उपलब्ध है। इसमें मेघदूत के दोनों खण्ड समाये हुए हैं। नवमी शती के महाकवि शिवस्वामी का 'कप्फिणाभ्युदय' महाकाव्य है। इसका कथानक बौद्धों के 'अवदानों से गृहीत है। १३वीं शती में दाक्षिणात्य कवि वेंकटनाथ वेदान्तदेशिक ने 'यादवाभ्युदय' नामक २४ सर्गात्मक महाकाव्य लिखा है, जिस पर अप्पय दीक्षित ने (ई. १६००) एक विद्वत्तापूर्ण टीका लिखी है। इसी १४वीं शती में महाकवि [illegible] के '[illegible]' नामक काव्य की रचना हुई है पर अभी इसकी उपलब्धि नहीं हुई है। ईसवीय १४वीं शती के राजनाथ ने 'साल्वाभ्युदय' नामक महाकाव्य की रचना की है जिसमें विजयनगर के वीर सेनापति साल्व नरसिंह का चरित्र निबद्ध है। यशोवर्मा का 'रामाभ्युदय', वामनभट्ट बाण का 'नलाभ्युदय', राजनाथ तृतीय का 'अच्युतरामाभ्युदय' और रघुनाथ की विदुषी पत्नी रामभद्राम्बा का 'रघुनाथाभ्युदय' ग्रन्थ प्रसिद्ध है।

इसी परम्परा में महाकवि हरिचन्द्र का यह 'धर्मशर्माभ्युदय' महाकाव्य है जिसमें पन्द्रहवें जैन तीर्थंकर धर्मनाथ का चरित्र निबद्ध किया गया है।

महाकाव्य—परिभाषानुसन्धान

धर्मशर्माभ्युदय में महाकाव्य की परिभाषा[2] पूर्ण रूप से संघटित है। धीरोदात्त नायक के गुणों से सहित, क्षत्रिय-वंशोत्पन्न धर्मनाथ तीर्थंकर इसके नायक हैं। शान्तरस अंगी रस है, शेष रस अंग रस के रूप में यथास्थान संनिविष्ट हैं। मोक्ष इसका फल है, नमस्कारात्मक पद्यों से इसका प्रारम्भ हुआ है। इसकी दुर्जन-निन्दा और सज्जन-प्रशंसा उच्चकोटि की है। सर्गों की रचना एक छन्द में हुई है और सर्गान्त में छन्द वैषम्य है। दशम सर्ग नाना छन्दों में रचा गया है। सन्ध्या, ऋतु, वन, समुद्र, सम्भोग और विप्रलम्भशृंगार, मुनि, स्वर्ग के देव-देवियाँ, युद्ध, प्रयाण, विवाह तथा पुत्र-जन्म आदि वर्णनीय विषयों का सुन्दर वर्णन इसमें हुआ है। अहिंसा सिद्धान्त के प्रतिकूल होने से इसमें मृगया-शिकार और वैदिक यज्ञों का वर्णन नहीं किया गया है। नायक के नाम पर इसका धर्मशर्माभ्युदय नाम रखा गया है और सर्गों के नाम वर्ण्य विषय के अनुसार हैं।

□

---

१. 'संस्कृत-काव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान' (ले. डॉ. नेमिचन्द्रजी डी. लिट्, आरा) के आधार से—(भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसी से प्रकाशित)।

२. महाकाव्य की परिभाषा साहित्यदर्पण के परिच्छेद ६ में श्लोक ३१५ से ३२५ तक द्रष्टव्य है।

स्तम्भ २ : कथा

धर्मशर्माभ्युदय की कथा का आधार

जैन धर्म की मान्यता के अनुसार तीर्थ-धर्म की प्रवृत्ति करनेवाले २४ महापुरुष होते हैं जिन्हें तीर्थंकर कहते हैं। यह तीर्थंकर दश कोड़ाकोड़ी सागर के प्रमाणवाले प्रत्येक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के युग में होते आये हैं। इस समय यहाँ अवसर्पिणी का युग चल रहा है। एक-एक युग के सुषमा-सुषमा आदि छह-छह भेद होते हैं। वे ही छह काल कहलाते हैं। तीर्थंकरों की उत्पत्ति तृतीय काल के अन्त से लेकर चतुर्थ काल के अन्त तक होती है। इस युग के तीर्थंकरों में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव थे और अन्तिम तीर्थंकर महावीर। धर्मनाथ, पन्द्रहवें तीर्थंकर थे, इन्हीं का पावन चरित्र काव्य की शैली से धर्मशर्माभ्युदय में लिखा गया है।

गुणभद्राचार्य के उत्तरपुराण के ६१वें पर्व में और महाकवि पुष्पदन्त के अपभ्रंश महापुराण की ५९वीं सन्धि में धर्मनाथ तीर्थंकर का चरित्र संक्षेप से लिखा मिलता है। उत्तरपुराण में यह चरित्र केवल ५५ श्लोकों में और महापुराण की ५९वीं सन्धि के प्रथम ७ कड़वकों के अन्तर्गत मात्र १४१ पंक्तियों में वर्णित है। उसी संक्षिप्त कथा को महाकवि हरिचन्द्र ने अपने इस काव्य में बड़ी सुन्दरता के साथ पल्लवित किया है।

यद्यपि सामान्य रूप से धर्मशर्माभ्युदय की कथा का आधार उत्तरपुराण और अपभ्रंश महापुराण माना जाता है परन्तु उसमें धर्मनाथ के माता-पिता के नाम दूसरे दिये हैं। धर्मशर्माभ्युदय में पिता का नाम महासेन और माता का नाम सुव्रता बतलाया है जबकि उत्तरपुराण और महापुराण में पिता का नाम भानु महाराज और माता का नाम सुप्रभा दिया हुआ है। उनमें स्वयंवर यात्रा का वर्णन नहीं है। धर्मशर्माभ्युदय के कर्ता ने काव्य की शोभा और सजावट के लिए उसे कल्पना-शिल्पि-निर्मित किया है। स्वयंवर-यात्रा के कारण इसमें काव्य के कितने ही अंगों का वर्णन अच्छा बन पड़ा है। अन्त में समवसरण के मुनियों की जो संख्या दी है उसमें भी जहाँ कहीं भेद प्रतीत होता है।

इस महाकाव्य की कथा २१ सर्गों में निरूपित है जो आगे दी जायेगी।

जीवन्धरचम्पू की कथा का आधार

गद्यचिन्तामणि, क्षत्रचूड़ामणि, जीवकचिन्तामणि और जीवन्धरचम्पू की कथा एक सदृश है। स्थानों तथा पात्रों के नाम एक सदृश हैं, घटनाचक्र—वृत्तवर्णन भी तीनों का समान है परन्तु उत्तरपुराण का वर्णन जहाँ कहीं समानता रखता है तो अनेक

स्थानों पर असमानता भी। उसमें स्थान तथा पात्रों के नाम भी दूसरे-दूसरे हैं। बीच-बीच में कुछ ऐसी घटनाएँ भी उपलब्ध हैं जिनका उक्त तीनों ग्रन्थों में उल्लेख नहीं है। गद्यचिन्तामणिकार ने यद्यपि प्रारम्भिक वक्तव्य में—

निःसारभूतमपि बन्धनतन्तुजातं मूर्ध्ना जनो वहति हि प्रसवानुषङ्गात्।
जीवन्धरप्रभवपुण्यपुराणयोगाद्वाक्यं ममाप्युभयलोकहितप्रदायि॥

श्लोक द्वारा जीवन्धर से सम्बद्ध पुराण का उल्लेख किया है और विद्वान् लोग उनके इस पुराण से गुणभद्र के उत्तरपुराणान्तर्गत जीवकचरित का समझते आते हैं पर कथा में भेद होने से ऐसा लगता है कि वादीभसिंह ने अपने ग्रन्थों का आधार उत्तरपुराण को न बनाकर किसी दूसरे ही पुराण को बनाया है। पुराण का काव्यीकरण तो हो सकता है और अनावश्यक कथाभाग छोड़ा भी जा सकता है परन्तु स्थान और पात्रों के नाम आदि में परिवर्तन सम्भव नहीं दिखता। हाँ, जीवन्धरचम्पूकार महाकवि हरिचन्द्र ने अपने ग्रन्थ का आधार जहाँ गद्यचिन्तामणि को बनाया है वहाँ उत्तरपुराण के वृत्तवर्णन का भी उपयोग किया है। उदाहरण के लिए एक स्थल पर्याप्त है—

जीवन्धर का गुरु लोकपाल विद्याधर, अपनी पूर्व कथा जीवन्धर को सुना रहा है। वह भस्मक व्याधि के कारण जैनतपस्या से भ्रष्ट होकर अन्य साधु का रूप रख लेता है और भोजन करने के लिए जीवन्धर के साथ गन्धोत्कट की भोजनशाला में पहुँचता है। जीवन्धर के सामने गरम भोजन आता है उसे देख वे रोने लगते हैं, साधु उनसे रोने का कारण पूछता है और जीवन्धर कौतुकपूर्ण रीति से रोने के गुण बतलाते हैं। इस घटना का वादीभसिंह की गद्यचिन्तामणि और क्षत्रचूडामणि में उल्लेख नहीं है पर गुणभद्र के उत्तरपुराण में पाया जाता है। जीवन्धरचम्पूकार ने भी इस घटना का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है, देखिए—

सहायैः सह संविश्य भोक्तुं प्रारब्धवानसौ।
अथार्भकस्वभावेन सर्वमुष्णमिदं कथम्॥२७१॥
भुञ्जेऽहमिति रोदित्वा जननीमकदर्थयत्।
रुदन्तं तं समालोक्य भद्रैतत्ते न युज्यते॥२७२॥
अपि त्वं वयसाल्पीयान् धीरस्थो वीर्यादिभिर्गुणैः।
अधरीकृतविश्वोऽसि हेतुना केन रोदिषि॥२७३॥
इति तापसवेषेण भाषितः स कुमारकः।
शृणु पूज्य न वेत्सि त्वं रोदनेऽस्मिन्गुणानिमान्॥२७४॥
निर्याति संहृतश्लेष्मा वैमल्यमपि नेत्रयोः।
शीतीभवति चाहारः कथमेतन्निवार्यते॥२७५॥
इत्याहयत्तत्समाकर्ण्य मातास्य मुदिता सती।
यथाविधि सहायैस्तं सह सम्यगभोजयत्॥२७६॥

—उत्तरपुराण, पर्व ७५

तावदर्भकस्वभावेन सर्वमुष्णमिदं कथं भुञ्जेऽहमिति रोदनवशेन नयनकञ्जयुग-सञ्जातमकरन्दपूरकानुकारिणीभिरश्रुधाराभिर्नयनकमलवास्तव्यलक्ष्मीवक्षःस्थलस्थत्रुटितमाला-मुक्ता इव किरन्तं भवन्तं समीक्ष्य भिक्षुरयं विश्वातिशायिमतिमहिममहितस्य भूयम-परोदननिदानस्यापि तत्र रोदनं कथमिति चित्रमिसीयते चित्तमित्याबभाषे ।

श्रुत्वा वाणीं तस्य मन्दस्मितेन तन्वन्निर्यत्क्षीरधारेति शङ्काम् ।

इत्थं वाचामाचचक्षे भवान्वै मोचामाध्वीमाधुरीमादधानाम् ॥१४॥

श्लेष्मच्छेदो नयनयुगलीनिर्मलत्वं च नासा-

शिङ्घाणानां भुवि निपतनं कोष्णता भोज्यवर्गे ।

शीर्षाबद्धभ्रमकरपयोदोषबाधानिवृत्ति-

रन्येऽप्यस्मिन् परिचितगुणा रोदने संभवन्ति ॥

—जीवन्धरचम्पू, लम्भ २

क्षत्रचूडामणि की भूमिका में दोनों ग्रन्थों के उद्धरण देकर श्री टी. एस. कुप्पूस्वामी ने यह सिद्ध किया है कि तामिलभाषा के जीवकचिन्तामणि के कर्ता तिरुतक्क-देव ने कथाभाग वादीभसिंह के ग्रन्थों—गद्यचिन्तामणि और क्षत्रचूडामणि से लिया है। गद्यचिन्तामणि के 'जीवन्धरप्रभवपुण्यपुराणयोगात्' इस सामान्य पद से उत्तरपुराण की स्पष्टता होती भी तो नहीं है। श्लोक का सीधा अर्थ यह है कि 'जिस प्रकार फूलों की संगति के कारण लोग बन्धन में उपयुक्त होनेवाले निःसार तन्तुओं को मस्तक पर धारण करते हैं उसी प्रकार मतः मेरे वचन भी जीवन्धरस्वामी से उत्पन्न पवित्र पुराण के साथ सम्बन्ध रखते हैं—उसका वर्णन करते हैं अतः दोनों लोकों में हितप्रदान करनेवाले होंगे।'

इस परिप्रेक्ष्य में जीवन्धरचम्पू की कथा का आधार गद्यचिन्तामणि, क्षत्रचूडामणि तथा आंशिक रूप से उत्तरपुराण के निश्चित होने पर भी गद्यचिन्तामणि और क्षत्रचूडामणि का आधार स्तम्भ अन्वेषण की प्रतीक्षा करता है।

आगे कुछ उद्धरण दिये जाते हैं जिनसे क्षत्रचूडामणि और जीवन्धरचम्पू का भाव-सादृश्य ही नहीं, शब्द-सादृश्य भी स्पष्ट प्रकट होता है—

गद्यचिन्तामणि और क्षत्रचूडामणि वादीभसिंह सूरि की अमर रचनाएँ हैं। इनमें से क्षत्रचूडामणि में कथा का उपक्रम बतलाते हुए उन्होंने लिखा है कि सुधर्म गणधर ने राजा श्रेणिक के प्रति जो कथा कही थी वही मैं कह रहा हूँ। यथा—

श्रेणिकप्रश्नमुद्दिश्य सुधर्मो गणनायकः ।

यथोवाच मयाप्येतदुच्यते मोक्षलिप्सया ॥३॥

—क्षत्रचूडामणि, प्रथम लम्भ

जीवन्धरचम्पू में भी यही कहा गया है—

या कथा भूतधात्रीशं श्रेणिकं प्रतिवर्णिता ।

सुधर्मगणनाथेन तां वक्तुं प्रयतामहे ॥१०॥

—जीवन्धरचम्पू, प्रथम लम्भ

इसके सिवाय कथा का सादृश्य यहाँ तक कि शब्दों का सादृश्य भी दोनों का मिलता-जुलता है। जीवन्धरचम्पू के ११वें लम्भ में एक श्लोक आता है—

काष्ठाङ्गारायते कीशो राज्यमेतत्फलायते ।
मद्यते वनपालोऽयं त्याज्यं राज्यमिदं मया ॥

यह श्लोक क्षत्रचूडामणि के निम्न श्लोक का परिवर्तित रूप ही विदित होता है—

मद्यते वनपालोऽयं काष्ठाङ्गारयते हरिः ।
राज्यं फलायते तस्मान्ममैव त्याज्यमेव तत् ॥२८॥ लम्भ ११

जीवन्धरचम्पू के सातवें लम्भ के निम्न श्लोक क्षत्रचूडामणि के सप्तम लम्भ के उद्धृत श्लोकों से अत्यधिक अनुरूप हैं—

पञ्चधाणुव्रतसम्पन्न-गुणशिक्षाव्रतोज्ज्वलाः ।
सम[illegible] गृहमेधिनः ॥१५॥—जीवन्धरचम्पू
त्रिचतुःपञ्चभिर्युक्ता गुणशिक्षाणुभिर्व्रतैः ।
तत्त्वधीरुचिसंपन्नाः सावद्या गृहमेधिनः ॥२२॥—क्षत्रचूडामणि
हिंसानृतस्तेयवधूव्यवायपरिग्रहेभ्यो विरतिः कथंचित् ।
मद्यस्य मांसस्य च माक्षिकस्य त्यागस्तथा मूलगुणा इमेऽष्टौ ॥१६॥
—जीवन्धरचम्पू

अहिंसासत्यमस्तेयं स्वस्त्रीमितवसुग्रहौ ।
मद्यमांसमधुत्यागैस्तेषां मूलगुणाष्टकम् ॥२३॥
—क्षत्रचूडामणि

इसी प्रकार आगे चलकर क्षत्रचूडामणि के 'वृषस्यन्ती' और 'अश्वस्यन्ती' इन प्रमुख शब्दों को जी. च. में ज्यों का त्यों ले लिया गया है। जैसे—

वृषस्यन्ती वरारोहा वृषस्कन्धं कुरूद्वहम् ।
वीक्ष्य तस्याङ्गसौन्दर्यं नातृपत् सा त्रपाकुला ॥२५॥
—लम्भ ७, जीवन्धरचम्पू

सा तु जाता वृषस्यन्ती वृषस्कन्धस्य वीक्षणात् ।
अप्राप्ते हि रुचिः स्त्रीणां न तु प्राप्ते कदाचन ॥३५॥
—लम्भ ७, क्षत्रचूडामणि

अश्वस्यन्ती विशालाक्षी विश्वाधिकविभोज्ज्वलम् ।
कुरुवीरमुवाचेदं कुसुमायुधवञ्चिता ॥२८॥
—लम्भ ७, जीवन्धरचम्पू

अश्वस्यन्तीं विभाव्यैनामाकूतज्ञो व्यरज्यत ।
अनुरागकृदज्ञानां वशिनां हि विरक्तये ॥३६॥
—लम्भ ७, क्षत्रचूडामणि

और भी कुछ सादृश्य देखिए—

'यच्च समुपस्थितायां विपदि विषादस्य परिग्रहः सोऽयं चण्डातप-चकितस्य दावहुतभुजि पातः।'

—गद्यचिन्तामणि, पृ. २९, लम्भ १

किं कल्पते कुरङ्गाक्षि शोचनं दुःखशान्तये।
आतपक्लेशनाशाय पावकस्य प्रवेशवत्॥

—प्र. ल., श्लोक ५३, जी. च.

सुमित्राद्यास्तयोः पुत्रास्तेष्वप्यन्यतमोऽस्म्यहम्।
वयसैव वयं पक्वा विश्वेऽपि न तु विद्यया॥

—क्षत्रचूडा., लम्भ ७, श्लोक ६१

तयोः सुताः सुमित्राद्यास्तेष्वप्यन्यतमोऽस्म्यहम्।
विद्याहीना वयं सर्वे नद्या हीना इवाद्रयः॥

—जी. च., लम्भ ७, श्लोक ४७

इन सब सादृश्यों को देखते हुए जान पड़ता है कि जीवन्धरचम्पू की कथा का आधार वादीभसिंह सूरि द्वारा विरचित क्षत्रचूडामणि और गद्यचिन्तामणि ही है। कतिपय स्थलों पर उत्तरपुराण भी इसका उपजीव्य है।[1]

धर्मशर्माभ्युदय का आख्यान

लवणसमुद्र के मध्य में कमल के समान शोभा देनेवाला जम्बूद्वीप है। इसके बीच में सुमेरु पर्वत है। दक्षिण की ओर भरत क्षेत्र है। उसके आर्यखण्ड में उत्तरकोशल नाम का देश है और उस देश में सुशोभित है रत्नपुर नाम का नगर। रत्नपुर के राजा महासेन थे। महासेन, अपनी महती सेना के कारण सचमुच ही महासेन थे। उनकी रानी का नाम सुव्रता था। सुव्रता, जहाँ शील, संयम आदि गुणों के द्वारा अपने नाम को सार्थक करती थी वहाँ वह सौन्दर्यसागर की एक अनुपम वेला भी थी। अवस्था ढल गयी फिर भी सुव्रता के पुत्र उत्पन्न नहीं हुआ इसलिए राजा महासेन का मन चन्द्ररहित गगन के समान मलिन रहने लगा। पुत्र के बिना राजा चिन्तानिमग्न थे उसी समय वनमाली ने वन में वरुण नामक मुनिराज के आगम की सूचना दी। मुनि-आगमन का सुखद समाचार पाकर राजा का रोम-रोम खिल उठा तथा नेत्रों से हर्ष के आँसू बरस पड़े।

राजा महासेन, सुव्रता के साथ गजेन्द्र पर आरूढ़ हो मुनि-दर्शन के लिए चल पड़े। उनके साथ नगरवासियों की बड़ी भीड़ भी चल रही थी। वन के निकट पहुँचते ही राजा ने राजकीय वैभव — छत्र, चमर आदि का त्याग कर दिया और पैदल ही चलकर मुनिराज के समीप पहुँचे। प्रदक्षिणा और नमस्कार की प्रक्रिया को पूरा कर राजा ने

---

1. गद्यचिन्तामणि, उत्तरपुराण और जीवन्धरचम्पू—मेरे द्वारा सम्पादित और हिन्दी में अनूदित होकर भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित हैं।

उनके मुखारविन्द से धर्म का उपदेश सुना और अन्त में सकुचाते हुए, सुव्रता के पुत्र न होने का कारण पूछा। मुनिराज ने कहा—तुम्हारी इस रानी के गर्भ से तीर्थंकर पुत्र उत्पन्न होनेवाला है, चिन्ता क्यों करते हो? इतना कहकर उन्होंने तीर्थंकर के पूर्वभवों का निम्न प्रकार वर्णन सुनाया।

धातकीखण्ड द्वीप के वत्स देश में सुसीमा नाम का नगर था। वहाँ राजा दशरथ राज्य करते थे। एक दिन रात्रि में चन्द्रग्रहण देखकर उनका भवभीरु मन संसार, शरीर और भोगों से विरक्त हो गया। उन्होंने राज्य-वैभव छोड़कर मुनिदीक्षा लेने का विचार सभा में रखा। जिसे सुनकर चार्वाक मत का पक्षपाती सुमन्त्र मन्त्री परलोक का खण्डन करता हुआ राजा के प्रयत्न को व्यर्थ बतलाने लगा। परन्तु राजा ने सारगर्भित युक्तियों द्वारा सुमन्त्र की मन्त्रणा का निरसन कर विमलवाहन मुनिराज के पास दीक्षा धारण कर ली। घोर तपश्चर्या की और दर्शन-विशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओं का चिन्तन कर तीर्थंकर-प्रकृति का बन्ध किया। वे आयु के अन्त में समाधि धारण कर सर्वार्थसिद्धि विमान में अहमिन्द्र हुए। हे राजन्! छह माह के बाद वही अहमिन्द्र का जीव, तुम्हारी रानी सुव्रता के गर्भ में अवतीर्ण होगा और पन्द्रहवें तीर्थंकर के रूप में प्रसिद्ध होगा। मुनिराज के इन वचनों से राजा महासेन और रानी सुव्रता के हर्ष का पार नहीं रहा। अन्त में मुनिराज को नमस्कार कर राजदम्पती अपने घर गये।

इन्द्र की आज्ञा पाकर श्री, ह्री आदि देवियों का समूह जिनमाता की सेवा करने के लिए गगन-मार्ग से पृथिवीतल पर अवतीर्ण हुआ और राजा की आज्ञा से अन्तःपुर में प्रविष्ट हो रानी सुव्रता की सेवा करने लगा। रानी ने नियोगानुसार ऐरावत हाथी आदि सोलह स्वप्न देखे। राजा महासेन ने उनका उत्तम फल सुनाकर उसे सन्तुष्ट किया। रानी गर्भवती हुई।

गर्भावस्था के कारण रानी सुव्रता के शरीर की शोभा निराली हो गयी। माघ-शुक्ल-त्रयोदशी की पुण्य वेला में पुष्य नक्षत्र के रहते हुए धर्मनाथ तीर्थंकर का जन्म हुआ। तीर्थंकर का जन्म होते ही समस्त लोक में आनन्द छा गया। सौधर्म इन्द्र, चतुर्विध देवों के साथ नाना प्रकार के उत्सव करता हुआ रत्नपुर नगर आया। इन्द्राणी ने प्रसूतिका-गृह में स्थित जिनमाता की गोद में मायानिर्मित बालक को रखकर जिन-बालक को उठा लिया तथा लाकर इन्द्र को सौंप दिया। इन्द्र भी जिन-बालक को लेकर ऐरावत हाथी पर सवार हुआ और सुरसेना के साथ आकाश-मार्ग से सुमेरु पर्वत पर पहुँचा। सुमेरु पर्वत की अद्भुत शोभा देख, इन्द्र का हृदय बाग-बाग हो गया। सुरसेना पाण्डुक वन में विश्राम करने लगी। पाण्डुक वन में स्थित पाण्डुक शिला को देखकर इन्द्र बहुत ही सन्तुष्ट हुआ।

पाण्डुक शिला के ऊपर स्थित मणिमय सिंहासन पर इन्द्र ने जिन-बालक को विराजमान किया। कुबेर अभिषेक की तैयारियाँ करने लगा। अभिषेक का जल लाने के लिए देवों की पंक्तियाँ क्षीरसागर गयीं। वे क्षीरसागर की अद्भुत शोभा देख बहुत ही

प्रसन्न हुए। क्षीरसागर के जल से भरे हुए कलशों के द्वारा सौधर्मेन्द्र तथा ऐशानेन्द्र ने जिन-बालक का अभिषेक किया। इन्द्र ने भगवान् की स्तुति की और इन्द्राणी ने आभूषण पहनाये। तदनन्तर उसी वैभव के साथ वापस आकर जिन-बालक को माता की गोद में सौंप इन्द्र ने अद्भुत नृत्य किया। यह सब कर चुकने के अनन्तर देव लोग अपने-अपने स्थानों पर चले गये।

विक्रिया ऋद्धि से बालवेश को धारण करनेवाले देवों के साथ भगवान् धर्मनाथ बालक्रीड़ा करने लगे। क्रम-क्रम से उन्होंने यौवन अवस्था में पदार्पण किया। उनके शरीर की सुषमा यद्यपि जन्म से ही अनुपम थी तथापि यौवन की मधुर बेला में पहले की अपेक्षा सहस्रगुणी हो गयी। विदर्भ देश के राजा प्रतापराज ने अपनी पुत्री शृंगारवती के स्वयंवर में कुमार धर्मनाथ को बुलाने के लिए प्रमुख दूत भेजा। पिता की आज्ञा पाकर धर्मनाथ, सेना सहित विदर्भ देश की ओर चल पड़े। बीच में गंगा नदी मिली, उसे पार करते विन्ध्याचल पर पहुँचे।

विन्ध्याचल के प्राकृतिक सौन्दर्य से मुग्ध हो उन्होंने वहाँ निवास किया। प्रभाकर मित्र ने विन्ध्याचल की अद्भुत शोभा का वर्णन किया। किन्नरदेव ने विक्रिया से सुन्दर आवास की रचना कर वहाँ ठहरने की प्रार्थना की। उनके पुण्योदय से विन्ध्याचल पर एक साथ छहों ऋतुएँ प्रकट हो गयीं जिससे वन की शोभा अद्भुत दिखने लगी। साथ के स्त्री-पुरुष वनक्रीड़ा के लिए वन में बिखर गये। पुष्पित-पल्लवित लताओं के निकुंजों में स्त्री-पुरुषों ने विविध क्रीडाएँ कीं। पुष्पावचय किया। श्रान्त होने पर सबने नर्मदा के नीर में जल-क्रीड़ा की। जलशकुन्तों से युक्त लहराती हुई नर्मदा में जलक्रीड़ा कर युवा-युवतियों ने अपूर्व आनन्द का अनुभव किया।

सायंकाल आया, संसार की अनित्यता का पाठ पढ़ाता हुआ सूर्य अस्त हो गया। रजनी का सघन तिमिर सर्वत्र फैल गया। थोड़ी देर बाद प्राची-पुरन्ध्री के ललाट पर चन्दनबिन्दु की शोभा को प्रकट करता हुआ चन्द्रमा उदित हुआ। चारुचन्द्र की चमकती हुई चाँदनी में दम्पतियों ने पेयरस का पान किया, स्त्रियों ने नये-नये प्रसाधन धारण किये। पान-गोष्ठियों के माध्यम से स्त्री-पुरुषों ने रात्रि पूर्ण की। धीरे-धीरे प्राची में उषा की लाली छा गयी। प्रभात हुआ और युवराज धर्मनाथ ने आगे के लिए प्रस्थान किया। नर्मदा नदी को पार कर वे विदर्भ देश में पहुँचे। वहाँ कुण्डिनपुर के राजा प्रतापराज ने उनका बहुत स्वागत किया।

स्वयंवर-मण्डप राजकुमारों से परिपूर्ण था। युवराज धर्मनाथ के पहुँचते ही सबकी दृष्टि उनकी ओर आकृष्ट हुई। सखियों के साथ शृंगारवती ने स्वयंवर-मण्डप में प्रवेश किया। सखी ने क्रम-क्रम से सब राजकुमारों का वर्णन किया परन्तु शृंगारवती की दृष्टि किसी पर स्थिर नहीं हुई। अन्त में धर्मनाथ की रूपमाधुरी पर मुग्ध होकर शृंगारवती ने उनके कण्ठ में वरमाला डाल दी। धर्मनाथ ने जब कुण्डिनपुर की सड़कों पर प्रवेश किया तब वहाँ की नारियाँ कुतूहल से प्रेरित हो अपने-अपने कार्य छोड़ झरोखों

में आ डटीं। धर्मनाथ का विधिपूर्वक विवाह हुआ। उसी समय पिता का पत्र पाकर धर्मनाथ, कुबेरनिर्मित विमान के द्वारा सपत्नीक घर आ गये और सेना का सब भार सुषेण सेनापति के अधीन कर आये।

रत्नपुर में धर्मनाथ का अभूतपूर्व सत्कार हुआ। इसी के मध्य उनके पिता महासेन महाराज, संसार से विरक्त हो गये। उन्होंने युवराज धर्मनाथ के लिए नीति का उपदेश देकर उनका राज्याभिषेक कराया और स्वयं वन में जाकर दीक्षा धारण कर ली। राजा धर्मनाथ ने अच्छी तरह राज्य का पालन किया।

सुषेण सेनापति प्रतिरोधी राजकुमारों को परास्त कर सकुशल वापस आ गया। एक दूत ने अनेक राजाओं के साथ हुए युद्ध में सुषेण सेनापति की शूरता का वर्णन जब राजा धर्मनाथ से प्रकट किया तब वे बहुत प्रसन्न हुए।

दीर्घकाल तक राज्य करने के बाद एक दिन उल्कापात देख, धर्मनाथ का मन संसार से विरक्त हो गया। जिससे समस्त राज्य को तृण के समान छोड़कर वे वन में दीक्षित हो गये। केवलज्ञान प्राप्त होने पर इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने समवसरण-धर्मसभा की रचना की। उसके मध्य में सिंहासन पर अन्तरिक्ष में विराजमान हुए श्री धर्मनाथ भगवान् का अष्टप्रातिहार्यरूप दिव्य ऐश्वर्य सबको आकृष्ट कर रहा था।

भगवान् ने दिव्य ध्वनि के द्वारा जैन-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। अन्त में सम्मेदशिखर से मोक्ष प्राप्त किया।

जीवन्धर-चरित का तुलनात्मक अध्ययन

गद्यचिन्तामणि, उत्तरपुराण तथा जीवन्धरचम्पू आदि के आधार पर जीवन्धर-चरित का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है।

एक बार मगध सम्राट् राजा श्रेणिक भगवान् महावीर के समवसरण सम्बन्धी आम्रादि चारों वनों में घूम रहे थे। वहीं पर अशोक वृक्ष के नीचे जीवन्धर मुनिराज ध्यानारूढ़ थे। महाराज श्रेणिक उनके अनुपम सौन्दर्य तथा अतिशय प्रशान्त ध्यानमुद्रा से आकृष्टचित्त हो उनका परिचय प्राप्त करने के लिए उत्सुक हो उठे। फलतः उन्होंने समवसरण के भीतर जाकर सुधर्माचार्य गणधरदेव से पूछा—"ये मुनिराज कौन हैं? जान पड़ता है अभी हाल कर्मों का क्षय कर मुक्त हो जानेवाले हैं।" इसके उत्तर में चार ज्ञान के धारक सुधर्माचार्य कहने लगे—

हे श्रेणिक! इसी जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र सम्बन्धी हेमांगद देश में राजपुर नगर सुशोभित है। इस नगर का राजा सत्यन्धर था और उसकी दूसरी विजय-लक्ष्मी के समान विजया नाम की रानी थी। राजा सत्यन्धर का काष्ठांगारिक नाम का मन्त्री था और दैवजन्य उपद्रवों को नष्ट करनेवाला रुद्रदत्त[1] नाम का पुरोहित था। एक दिन

---

१. गद्यचिन्तामणि आदि में इस पुरोहित का कोई उल्लेख नहीं है।

विजयारानी ने दो स्वप्न देखे। पहला स्वप्न था कि राजा सत्यन्धर ने मेरे लिए आठ घण्टाओं से सुशोभित अपना मुकुट दिया है और दूसरा स्वप्न था कि वह जिस अशोकवृक्ष के नीचे बैठी थी उसे किसी ने कुल्हाड़ी से काट दिया है और उसके स्थान पर एक छोटा-सा अशोक का वृक्ष उत्पन्न हो गया है। प्रातःकाल होते ही रानी ने राजा से स्वप्नों का फल पूछा। राजा ने कहा कि मेरे मरने के पश्चात् तुम शीघ्र ही ऐसा पुत्र प्राप्त करोगी, जो आठ लाभों को पाकर पृथिवी का भोक्ता होगा। स्वप्नों का प्रिय तथा अप्रिय फल सुनकर रानी का चित्त शोक और हर्ष से भर गया। उसकी व्यग्रता देख राजा ने उसे अच्छे शब्दों से सन्तुष्ट कर दिया, जिससे दोनों का काल सुख से व्यतीत होने लगा।

उसी राजपुर नगर में एक गन्धोत्कट नामक धनी सेठ रहता था। उसने एक बार तीन ज्ञान के धारक शीलगुप्त मुनिराज से पूछा, "भगवन्! हमारे बहुत-से अल्पायु पुत्र हुए हैं, क्या कभी दीर्घायु पुत्र भी होगा?" मुनिराज ने कहा, "हाँ, तू दीर्घायु पुत्र प्राप्त करेगा। किस तरह? यह भी सुन। तेरे एक मृत पुत्र उत्पन्न होगा। उसे छोड़ने के लिए जब तू वन में जायेगा तब वहीं किसी पुण्यात्मा पुत्र को पायेगा। वह पुत्र समस्त पृथिवी का उपभोक्ता हो अन्त में मोक्ष-लक्ष्मी को प्राप्त करेगा।" जिस समय मुनिराज, गन्धोत्कट से यह वचन कह रहे थे उसी समय वहाँ एक यक्षी बैठी थी। मुनिराज के वचन सुन यक्षी के मन में होनहार राजपुत्र की माता का उपकार करने की इच्छा हुई। निदान, जब राजपुत्र की उत्पत्ति का समय आया तब वह यक्षी उसके पुण्य से प्रेरित हो राजकुल में गयी और एक गरुडयन्त्र[2] का रूप बनाकर पहुँची।

वसन्त ऋतु का समय था। एक[3] दिन रुद्रदत्त पुरोहित प्रातःकाल राजा के घर गया। उस समय रानी आभूषणरहित बैठी थी। पुरोहित ने पूछा कि राजा कहाँ हैं? रानी ने उत्तर दिया कि अभी सोये हुए हैं, इस समय उनके दर्शन नहीं हो सकते। रानी के इन वचनों को अपशकुन समझ वह लौट आया और काष्ठांगारिक मन्त्री के घर गया। पाप-बुद्धि पुरोहित ने मन्त्री से एकान्त में कहा, "तू राजा को मार डाल।" मन्त्री ने पुरोहित की बात मानने में असमंजसता दिखायी तो पुरोहित ने दृढ़ता के साथ कहा, "राजा के जो पुत्र होनेवाला है वह तेरा प्राणघातक होगा इसलिए इसका प्रतिकार कर।" रुद्रदत्त इतना कहकर घर चला गया और रोग से पीड़ित हो तीसरे दिन मर कर चिरकाल तक दुख देनेवाली नरक गति में जा पहुँचा।

इधर काष्ठांगारिक ने रुद्रदत्त के कहने से अपनी मृत्यु की आशंका कर राजा

---

१. गद्यचिन्तामणि आदि में तीन स्वप्नों की चर्चा है—पहले स्वप्न में एक विशाल अशोक वृक्ष देखा, दूसरे स्वप्न में उस वृक्ष को नष्ट हुआ देखा और तीसरे स्वप्न में उस नष्ट वृक्ष में से उत्पन्न हुए एक छोटे अशोक वृक्ष को देखा जिसकी आठ शाखाओं पर आठ मालाएँ लटक रही थीं।

२. गद्यचिन्तामणि में चर्चा है कि राजा सत्यन्धर ने रानी का आकाश-भ्रमण सम्बन्धी दोहद पूर्ण करने के लिए कारीगर से मयूरयन्त्र बनवाया था और उसमें बैठाकर उसे आकाश में घुमाया था।

३. गद्यचिन्तामणि आदि में इसकी कोई चर्चा नहीं है।

को मारने की इच्छा की। उसने धन देकर दो हजार शूरवीर राजाओं को अपने अधीन कर लिया। वह उन्हें साथ लेकर युद्ध के लिए राजमन्दिर की ओर चल पड़ा। जब राजा को इस बात का पता चला तब उसने रानी को गरुडयन्त्र पर बैठाकर वहाँ से शीघ्र ही दूर कर दिया। काष्ठांगारिक मन्त्री ने पहले जिन राजाओं को अपने वश कर लिया था, उन राजाओं ने जब सत्यन्धर को देखा तब वे मन्त्री को छोड़ राजा की ओर हो गये। राजा सत्यन्धर ने उन सबको साथ ले काष्ठांगारिक मन्त्री पर आक्रमण किया और उसे खदेड़कर भयभीत कर दिया। काष्ठांगारिक के पुत्र कालांगारिक ने जब पिता को हार का यह समाचार सुना तब वह बहुत-सी सेना लेकर अकस्मात् वहाँ जा पहुँचा। उसकी सहायता से काष्ठांगारिक ने राजा सत्यन्धर को मार डाला और स्वयं राजा बन बैठा।

विजयारानी गरुडयन्त्र पर बैठकर श्मशान[1] में पहुँची। वह शोक से बहुत विह्वल थी परन्तु पूर्वोक्त यक्षी उसकी रक्षा कर रही थी। उसी श्मशान में रात्रि के समय विजयारानी ने पुत्र को जन्म दिया। पुत्र-जन्म का रानी को थोड़ा भी आनन्द उत्पन्न नहीं हुआ। इसके विपरीत भाग्य की प्रतिकूलता पर शोक ही उत्पन्न हुआ। यक्षी[2] ने सारगर्भित शब्दों में उसे सान्त्वना दी। गन्धोत्कट सेठ भी अपने मृत पुत्र को छोड़ने के लिए उसी श्मशान में पहुँचा और शीलगुप्त मुनिराज के वचनों का स्मरण कर दीर्घायु पुत्र की खोज करने लगा। रोने का शब्द सुन विजयारानी के पुत्र की ओर उसकी दृष्टि गयी। सेठ ने 'जीव-जीव' कहकर उस पुत्र को दोनों हाथों से उठा लिया। विजयारानी[3] ने आवाज से सेठ को पहचान लिया और उसे अपना परिचय देकर कहा, "भद्र! तू मेरे पुत्र का इस प्रकार पालन करना कि जिससे किसी को परिचय न मिल सके।" 'मैं ऐसा ही करूँगा' कहकर सेठ उस पुत्र को घर ले गया और अपनी पत्नी सुनन्दा को डाँट दिखाते हुए बोला[4], "तू ने जीवित पुत्र को मृत कैसे कह दिया?" सुनन्दा उस पुत्र को पाकर बड़ी प्रसन्न हुई। सेठ ने जन्म-संस्कार कर उसका 'जीवक' अथवा 'जीवन्धर' नाम रखा। सेठ के घर जीवन्धर का अच्छी तरह लालन-पालन

१. यहाँ उत्तरपुराण में श्मशान का वर्णन करते हुए गुणभद्र स्वामी ने जलती चिताओं में से अधजले मुरदे खींचकर उन्हें खण्ड-खण्ड कर खाती हुई डाकिनियों का वर्णन किया है और इसका अनुकरण कर जीवन्धरचम्पूकार ने भी अच्छा गद्य लिखा है पर गद्यचिन्तामणि में मात्र श्मशान का उल्लेख कर छोड़ दिया है। उसमें डाकिनी-शाकिनी आदि का कोई उल्लेख नहीं किया है। डाकिनी आदि व्यन्तर देवों का मांस-भक्षण शास्त्र-सम्मत भी तो नहीं है जिन्होंने वर्णन किया है उन्होंने मात्र कवि-सम्प्रदायवश किया है।

२. गद्यचिन्तामणिकार ने यक्षी को विजयारानी की चम्पकमाला दासी के वेष में प्रस्तुत किया है पर उत्तरपुराण में इसकी चर्चा नहीं है।

३. गद्यचिन्तामणिकार ने गन्धोत्कट के पहुँचने पर रानी को वृक्ष की ओट में अन्तर्हित कर दिया है और ज्यों ही गन्धोत्कट ने उस बालक को उठाया त्यों ही आकाश में 'जीव' इस शब्द का उच्चारण कराया है।

४. पराया पुत्र समझ सुनन्दा इसका ठीक-ठीक पालन नहीं करेगी, इस आशंका से दूरदर्शी सेठ ने सुनन्दा के सामने यह भेद प्रकट नहीं किया कि यह किसी दूसरे का पुत्र है।

होने लगा।

विजयारानी[1] उसी गरुडयन्त्र में बैठकर दण्डक वन में स्थित तपस्वियों के आश्रम में चली गयी और वहाँ अपना परिचय न देकर तापसी के वेष में रहने लगी। यक्षी बीच-बीच में आकर उसका शोक दूर करती रहती थी।

राजा सत्यन्धर[2] की भामारति और अनंगपताका नाम की दो छोटी स्त्रियाँ और थीं। उन दोनों ने मधुर और बकुल नाम के दो पुत्र प्राप्त किये। इन दोनों ही रानियों ने धर्म का स्वरूप सुन श्रावक के व्रत धारण कर लिये थे इसलिए ये दोनों ही भाई गन्धोत्कट[3] के यहाँ ही पालन-पोषण को प्राप्त हो रहे थे। उसी नगर में विजयमति, सागर, धनपाल और मतिसागर नाम के चार श्रावक और थे जो कि अनुक्रम से राजा के सेनापति, पुरोहित, श्रेष्ठी और मन्त्री थे। इन चारों की स्त्रियों के नाम अनुक्रम से जयावती, श्रीमती, श्रीदत्ता और अनुपमा थे। इनसे क्रमशः देवसेन, बुद्धिषेण, वरदत्त और मधुमुख नाम के पुत्र हुए थे। मधुमुख आदि को लेकर वे छहों पुत्र जीवन्धरकुमार के साथ वृद्धि को प्राप्त हुए थे। इधर गन्धोत्कट की स्त्री सुनन्दा ने भी नन्दाढ्य नाम का पुत्र उत्पन्न किया।

[4]एक दिन जीवन्धरकुमार नगर के बाहर अपने साथियों के साथ गोली बंटा आदि खेल रहे थे कि इतने में एक तपस्वी ने आकर पूछा कि यहाँ से गाँव कितनी दूर है? तपस्वी का प्रश्न सुन जीवन्धरकुमार ने उत्तर दिया, "आप वृद्ध होकर भी अज्ञानी हैं? बालकों की क्रीड़ा देख कौन नहीं जान लेगा कि नगर पास ही है।" जीवन्धर की उत्तर-प्रणाली से तपस्वी बहुत प्रसन्न हुआ और जान गया कि यह कोई राजवंश का उत्तम बालक है। फिर भी परीक्षार्थ उसने कहा कि तुम मुझे भोजन दोगे? जीवन्धरकुमार ने उसे भोजन देना स्वीकृत कर लिया और साथ लेकर घर आने पर अपने पिता गन्धोत्कट से कहा, "मैंने इसे भोजन देना स्वीकृत किया है, फिर आपकी जो आज्ञा

---

१. गद्यचिन्तामणि में चर्चा है कि चम्पकमाला दासी का वेष रखनेवाली यक्षी ने रानी के सामने भाई के घर चले जाने का प्रस्ताव रखा पर रानी ने विपत्ति के समय स्वयं किसी के यहाँ जाना स्वीकृत नहीं किया। तब वह उसे दण्डक वन में भेज आयी।

२. यह कथा गद्यचिन्तामणि आदि में नहीं है मात्र बुद्धिषेण का उल्लेख सुरमंजरी के प्रकरण में अवश्य आया है।

३. गन्धोत्कट सेठ बड़ा बुद्धिमान् और दीर्घदर्शी था। उसने विचार किया कि यदि काष्ठांगार से अलग रहते हैं तो यह राजपुत्र जीवन्धर को कभी भी अपनी कुदृष्टि से ताड़ सकता है इसलिए ऊपर से वह उससे मिल गया और मिलकर उसने अत्यधिक धन प्राप्त किया। उसके मन में आया कि यदि राजपुत्र की रक्षा के लिए अलग से सेना रखी जायेगी तो भेद जल्दी खुल जायेगा, इसलिए उसने काष्ठांगारिक की आज्ञा से उस दिन नगर में उत्पन्न हुए सब बालकों को अपने घर बुला लिया और सबका पालन अपने ही घर कराने लगा। उसका अभिप्राय था कि बड़े होने पर ये जीवन्धर के अभिन्न मित्र होंगे और वही एक छोटी-मोटी सेना का काम देंगे। साथ ही अनेक बालकों के बीच राजपुत्र-जीवन्धर का अभिज्ञान प्राप्त करना भी काष्ठांगारिक के लिए दुर्भर रहेगा—गद्यचिन्तामणि में इसका अच्छा संकेत है।

४. इस घटना का गद्यचिन्तामणिकार ने कोई उल्लेख नहीं किया है। हाँ, जीवन्धरचम्पूकार ने किया है और सुन्दरता के साथ किया है।

हो।" पुत्र की विनम्रता से गन्धोत्कट बहुत प्रसन्न हुआ। उसने कहा, "तू भोजन कर, यह तपस्वी मेरे साथ भोजन कर लेगा।" जीवन्धर भोजन के लिए भोजनशाला में बैठे। भोजन गरम था इसलिए रोने लगे। उन्हें रोते देख तपस्वी ने पूछा "तू अच्छा बालक होकर भी क्यों रोता है?" इसके उत्तर में जीवन्धरकुमार ने रोने के अनेक गुण बता दिये। जिसे सुन हास्य गूंज उठा और प्रसन्नता का वातावरण छा गया।[१]

जीवन्धरचम्पू और गद्यचिन्तामणि में चर्चा है कि वह तपस्वी भस्मक-व्याधि से पीड़ित होने के कारण उस भोजनशाला में बने हुए समस्त भोजन को खा गया फिर भी उसे तृप्ति नहीं हुई। आश्चर्य से चकित बालक जीवन्धर ने अपने हाथ का एक ग्रास उसे दिया। जिसे खाते ही उसकी क्षुधा शान्त हो गयी। कृतज्ञता से प्रेरित तपस्वी ने बालक जीवन्धर को विद्या पढ़ाना उचित समझा।

जब गन्धोत्कट भोजन कर चुका तब शान्ति से बैठे हुए तपस्वी ने कहा, "यह बालक बहुत होनहार है। मैं इसे पढ़ाना चाहता हूँ।" गन्धोत्कट ने कहा, "मैं श्रावक हूँ इसलिए अन्य लिंगियों को नमस्कार नहीं करता। नमस्कार के अभाव में आपको बुरा लगेगा अतः आपसे पढ़ाई का काम नहीं हो सकता।" इसके उत्तर में तपस्वी ने अपना परिचय दिया, "मैं सिंहपुर का राजा था, आर्यवर्मा मेरा नाम था, वीरनन्दी मुनि से धर्म का स्वरूप सुन सम्यग्दर्शन धारण कर लिया और अपने धृतिषेण पुत्र को राज्य देकर दीक्षा धारण कर ली, परन्तु भस्मक-व्याधि से पीड़ित होने के कारण मैंने तपस्वी का वेष धारण कर लिया है, मैं सम्यग्दृष्टि हूँ, तुम्हारा धर्मबन्धु हूँ।" इस प्रकार तपस्वी के वचन सुन तथा उसकी परीक्षा कर गन्धोत्कट सेठ ने उसके लिए मित्रों सहित जीवन्धरकुमार को सौंप दिया।[२] तपस्वी ने थोड़े ही समय में जीवन्धरकुमार को समस्त विद्याओं का पारगामी बना दिया और स्वयं फिर से दीक्षा धारण कर मोक्ष प्राप्त किया।[3]

तदनन्तर कालकूट-नामक भीलों के राजा ने अपनी सेना के साथ नगर पर आक्रमण कर गायों का समूह चुरा ले जाने का उत्पात किया। काष्ठांगारिक ने घोषणा करायी कि गायों को छुड़ानेवाले के लिए गोपेन्द्र की स्त्री गोपश्री से उत्पन्न गोदावरी नाम की कन्या दी जायेगी। इस घोषणा को सुनकर जीवन्धरकुमार, काष्ठांगारिक के पुत्र कालांगारिक तथा अन्य साथियों के साथ कालकूट भील के पास पहुँचे और उसे

---

१. इस विनोद घटना का भी गद्यचिन्तामणि में कोई वर्णन नहीं है परन्तु जीवन्धरचम्पू में बड़ी सरसता के साथ इसका वर्णन किया गया है।

२. जीवन्धरचम्पू आदि में गुरु ने विद्याध्ययन-समाप्ति के पश्चात् अपना परिचय देते हुए कहा है, "मैं विद्याधरों के निवास-स्थल में लोकपाल नाम का राजा था।" आदि।

३. जीवन्धरचम्पू आदि में वर्णन है कि तपस्वी ने विद्याएँ पूर्ण होने के बाद जीवन्धर को रत्नत्रय का उपदेश दिया और साथ में यह भी कहा, "तुम राजा सत्यन्धर के पुत्र हो। काष्ठांगार ने तुम्हारे पिता को मार डाला था।" यह सुनकर जीवन्धरकुमार को काष्ठांगार पर बहुत क्रोध आया और उसे मारने को तत्पर हो गये परन्तु तपस्वी ने उसे समझाकर एक वर्ष तक ऐसा न करने के लिए शान्त कर दिया।

परास्त कर गायें वापस ले आये। इस घटना से कुमार की बहुत कीर्ति फैली। कुमार[1] ने अपने सब साथियों से कहा, "तुम लोग एक स्वर से राजा काष्ठांगारिक से कहो कि भील को नन्दाढ्य ने जीता है।" इस प्रकार राजा के पास सन्देश भेजकर उन्होंने पूर्व-घोषित गोदावरी कन्या विवाह-पूर्वक नन्दाढ्य को दिलवायी।

भरतक्षेत्र सम्बन्धी विजयार्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणी में एक गगनवल्लभ[2] नाम का नगर है, उसमें विद्याधरों का राजा गरुडवेग राज्य करता था। दैवयोग से उसके भागीदारों ने उसका अभिमान नष्ट कर दिया, इसलिए वह भागकर रत्नद्वीप में चला गया और वहाँ मनुजोदय पर्वत पर एक सुन्दर नगर बसाकर रहने लगा। उसकी स्त्री का नाम धारिणी था और उन दोनों के गन्धर्वदत्ता नाम की पुत्री थी। जब वह विवाह के योग्य अवस्था में पहुँची तब राजा ने मन्त्रियों से वर के लिए पूछा। उत्तर में मन्त्री ने भविष्य के ज्ञाता मुनिराज से जो सुन रखा था वह कहा—

"हे राजन्! मैंने एक बार सुमेरु पर्वत के नन्दन वन में स्थित विपुलमति नामक चारणऋद्धि-धारक मुनिराज से आपकी कन्या के वर के विषय में पूछा था तो उन्होंने कहा था कि भरतक्षेत्र के हेमांगद देश में एक राजपुरी नाम की नगरी है। उसके राजा सत्यन्धर और रानी विजया के एक जीवन्धर नाम का पुत्र हुआ है वह वीणा के स्वयंवर में गन्धर्वदत्ता को जीतेगा। वही उसका पति होगा। राजा ने उसी मतिसागर मन्त्री से पुनः पूछा कि भूमिगोचरियों के साथ हम लोगों का सम्बन्ध किस प्रकार हो सकता है? इसके उत्तर में उसने मुनिराज से जो अन्य बातें सुन रखी थीं वे स्पष्ट कह सुनायीं— उसने कहा कि राजपुरी नगरी में एक वृषभदत्त सेठ रहता था, उसकी स्त्री का नाम पद्मावती था और उन दोनों के एक जिनदत्त नाम का पुत्र था। किसी एक समय राजपुरी के उद्यान में सागरसेन जिनराज पधारे थे। उनके केवलज्ञानसम्बन्धी उत्सव में वह अपने पिता के साथ आया था। आप भी वहाँ पधारे थे इसलिए उसे देख आपका उसके साथ प्रेम हो गया था। वही जिनदत्त धन कमाने के लिए रत्नद्वीप आयेगा, उसी से हमारे इष्ट कार्य की सिद्धि होगी।"

इस तरह कितने ही दिन बीत जाने पर जिनदत्त रत्नद्वीप आया। राजा गरुडवेग ने उसका पर्याप्त सत्कार किया और उसे सब बात समझाकर गन्धर्वदत्ता सौंप दी। जिनदत्त सेठ ने भी राजपुरी नगरी में वापिस आकर मनोहर नामक उद्यान में गन्धर्वदत्ता के वीणा-स्वयंवर की घोषणा करायी। स्वयंवर में जीवन्धरकुमार ने

१. गद्यचिन्तामणि आदि में उल्लेख है कि काष्ठांगार की सेना के हार जाने पर नन्दगोप ने घोषणा करायी थी और विजय के बाद जब वह अपनी कन्या जीवन्धर को देने लगा तब उन्होंने न लेकर अपने मित्र पद्मास्य को दिलायी।

२. गद्यचिन्तामणि आदि में गरुडवेग का नगर नित्यालोक बतलाया है तथा उसके भाग कर रत्नद्वीप में बसने का कोई उल्लेख नहीं है। वर के विषय में मुनिराज की भविष्यवाणी न देकर ज्योतिषियों की बात लिखी है। जिनदत्त सेठ के बदले श्रीदत्त सेठ का उल्लेख है। श्रीदत्त समुद्र यात्रा के लिए गया था, पर लौटते समय विद्याधर की माया से उसे लगा कि हमारा जहाज डूब गया है। वह उसके साथ विजयार्ध पर्वत पर स्थित नित्यालोकनगर में पहुँचता है।

गन्धर्वदत्ता की सुघोषा नामक वीणा लेकर उसे इस तरह बजाया कि वह अपने आपको पराजित समझने लगी तथा उसी क्षण उसने जीवन्धर के गले में वरमाला डाल दी। इस घटना से काष्ठांगारिक का पुत्र [1]कालांगारिक बहुत क्षुभित हुआ। वह गन्धर्वदत्ता को हरण करने का उद्यम करने लगा, परन्तु बलवान् जीवन्धरकुमार ने उसे शीघ्र ही परास्त कर दिया। गन्धर्वदत्ता के पिता गरुडवेग ने अनेक विद्याधरों के साथ आकर सबको शान्त किया और विधिपूर्वक गन्धर्वदत्ता का जीवन्धरकुमार के साथ पाणिग्रहण करा दिया।

इसी राजपुरी नगरी में एक वैश्रवणदत्त नाम का सेठ रहता था। उसकी आम्रमंजरी नामक स्त्री से सुरमंजरी नाम की कन्या हुई थी। उस सुरमंजरी की एक श्यामलता नाम की दासी थी। वसन्तोत्सव के समय श्यामलता, सुरमंजरी के साथ उद्यान में आयी थी। वह अपनी स्वामिनी का चन्द्रोदय नामक चूर्ण लिये थी और उसकी प्रशंसा लोगों में करती फिरती थी। उसी नगरी में एक कुमारदत्त सेठ रहता था, उसकी विमला नामक स्त्री से गुणमाला नामक पुत्री हुई थी। गुणमाला की एक विद्युल्लता नाम की दासी थी। वह अपनी स्वामिनी का सूर्योदय नामक चूर्ण लिये थी और उसकी प्रशंसा लोगों में करती फिरती थी। चूर्ण की उत्कृष्टता को लेकर दोनों कन्याओं में विवाद चल पड़ा। उस वसन्तोत्सव में जीवन्धरकुमार भी अपने मित्रों के साथ गये हुए थे। जब चूर्ण की परीक्षा के लिए उनसे पूछा गया तब उन्होंने सुरमंजरी के चूर्ण को उत्कृष्ट सिद्ध कर दिया।[2]

नगर के लोग वसन्तोत्सव में लीन थे। उसी समय कुछ दुष्ट बालकों ने चपलतावश एक कुत्ते को मारना शुरू किया।[3] भय से व्याकुल होकर वह भागा और एक कुण्ड में गिर कर मरणोन्मुख हो गया। जीवन्धरकुमार ने यह देख उसे अपने नौकरों से बाहर निकलवाया और पंच नमस्कार मन्त्र सुनाया जिसके प्रभाव से वह चन्द्रोदय पर्वत पर सुदर्शन यक्ष हुआ। पूर्वभव का स्मरण कर वह जीवन्धर के पास आया और उनकी स्तुति करने लगा। अन्त में वह जीवन्धरकुमार से यह कहकर अपने स्थान पर चला गया कि दुख और सुख में मेरा स्मरण करना।

जब सब लोग क्रीड़ा कर वन से लौट रहे थे तब काष्ठांगारिक के अशनिघोष नामक हाथी ने कुपित होकर जनता में आतंक उत्पन्न कर दिया। सुरमंजरी उसकी चपेट में आनेवाली ही थी कि जीवन्धरकुमार ने ठीक समय पर पहुँचकर हाथी को

---

१. जीवन्धरचम्पू आदि में कालांगारिक की कोई चर्चा नहीं है। स्वयं काष्ठांगार ने आगत राजकुमारों को उत्तेजित किया है।

२. गद्यचिन्तामणि तथा जीवन्धरचम्पू आदि में चर्चा है कि जीवन्धरकुमार ने गुणमाला के चूर्ण को उत्कृष्ट सिद्ध किया था इसलिए सुरमंजरी कुपित होकर बिना स्नान किये ही घर वापस चली गयी थी।

३. गद्यचिन्तामणि आदि में चर्चा है कि भोजन को सूँघने के अपराध से कुपित ब्राह्मणों ने उस कुत्ते को दण्ड तथा पत्थर आदि से इतना मारा कि वह मरणोन्मुख हो गया।

मदरहित कर दिया। इस घटना से सुरमंजरी का जीवन्धर के प्रति अनुराग बढ़ गया और उसके माता-पिता ने जीवन्धर के साथ उसका विवाह कर दिया।[1]

जीवन्धर कुमार का सुयश सब ओर फैलने लगा जिससे काष्ठांगारिक मन ही मन कुपित रहने लगा। 'इसने हमारे हाथी को बाधा पहुँचायी है' यह बहाना लेकर काष्ठांगारिक ने अपने चण्डदण्ड नामक मुख्य रक्षक को आदेश दिया कि इसे शीघ्र ही यमराज के घर भेज दो। आज्ञानुसार चण्डदण्ड अपनी सेना लेकर जीवन्धर की ओर दौड़. परन्तु यह पहले से ही सावधान थे अतः उन्होंने उसे पराजित कर भगा दिया। इस घटना से काष्ठांगारिक और भी अधिक कुपित हुआ। अबकी बार उसने बहुत-सी सेना भेजी परन्तु दयालु जीवन्धरकुमार ने निरपराध सैनिकों को मारना अच्छा नहीं समझा, इसलिए सुदर्शन यक्ष का स्मरण कर सब उपद्रव शान्त कर दिया। सुदर्शन यक्ष उन्हें विजयगिरि हाथी पर बैठाकर अपने घर ले गया। जीवन्धरकुमार का यक्ष के साथ जाने का समाचार गन्धर्वदत्ता को छोड़कर किसी को विदित नहीं था इसलिए सब लोग बहुत दुःखी हुए परन्तु गन्धर्वदत्ता ने सबको सान्त्वना देकर स्वस्थ कर दिया।

जीवन्धरकुमार, यक्ष के घर में बहुत दिन तक सुख से रहे। पश्चात् चेष्टाओं द्वारा उन्होंने यक्ष से अपने जाने की इच्छा प्रकट की। उनका अभिप्राय जान यक्ष ने उन्हें कान्ति से देदीप्यमान, इच्छित कार्य को सिद्ध करनेवाली और मनचाहा रूप बना देनेवाली एक अँगूठी देकर पर्वत से नीचे उतार दिया तथा सब मार्ग समझा दिया।[2]

[3]कुछ दूर चलने पर जीवन्धर चन्द्राभनगर पहुँचे। वहाँ धनपति[4] नाम का राजा था और तिलोत्तमा नाम की उसकी स्त्री थी। दोनों के पद्मोत्तमा[5] नाम की पुत्री थी। एक बार वनविहार के समय पद्मोत्तमा को साँप ने काट खाया। सर्प-विष से पद्मोत्तमा मूर्च्छित हो गयी। उपचार करने पर भी जब अच्छी नहीं हुई तब राजा धनपति ने उसे अच्छी कर देनेवाले के लिए आधा राज्य और वही कन्या देने की घोषणा करायी। राजा धनपति के सेवकों के आग्रह से जीवन्धर उसके घर गये और यक्ष का स्मरण कर मन्त्र द्वारा उन्होंने पद्मोत्तमा का विष दूर कर दिया। राजा बहुत सन्तुष्ट हुआ और उसने जीवन्धर के लिए अपना आधा राज्य तथा पद्मोत्तमा कन्या दे दी। राजा धनपति के लोकपाल आदि बत्तीस पुत्र थे। उन सबके स्नेहवश जीवन्धर वहाँ कुछ समय तक सुख से रहे।

---

१. गद्यचिन्तामणि आदि में यहाँ सुरमंजरी के साथ विवाह न कर गुणमाला के साथ विवाह कराने का उल्लेख है।

२. गद्यचिन्तामणि आदि में विष दूर करनेवाली, मनचाहा रूप बना देनेवाली और उत्कृष्ट मोहक संगीत करानेवाली तीन विद्याएँ दीं, ऐसा उल्लेख है।

३. गद्यचिन्तामणि आदि में चन्द्राभनगर पहुँचने के पूर्व वन में दावानल से झुलसते हुए हाथियों और यक्ष के स्मरण से आकस्मिक वृष्टि द्वारा उनका उपद्रव शान्त होने का वर्णन है।

४. गद्यचिन्तामणि आदि में राजा का नाम लोकपाल दिया है।

५. गद्यचिन्तामणि आदि में कन्या का नाम पद्मा दिया है।

तदनन्तर चुपचाप वहाँ से चलकर क्षेमदेश के क्षेमनगर पहुँचे। वहाँ के बाह्य उद्यान में सहस्रकूट जिनालय देखकर बहुत प्रसन्न हुए। उनके पहुँचते ही चम्पा फूल उठा, कोकिलाएँ बोलने लगीं, सूखा सरोवर भर गया और मन्दिर के द्वार के कपाट अपने आप खुल गये। कुमार ने सरोवर में स्नान कर भक्तिपूर्वक जिनेन्द्रदेव की पूजा की और वहाँ के सुभद्र सेठ की निर्वृति नामक स्त्री से उत्पन्न क्षेमसुन्दरी[1] कन्या के साथ विवाह किया। एक दिन प्रसन्न होकर सुभद्र सेठ ने जीवन्धर से कहा, "जब मैं पहले राजपुर नगर में रहता था तब राजा सत्यन्धर ने मुझे यह धनुष और ये बाण दिये थे। ये आपके ही योग्य हैं अतः आप ही ग्रहण कीजिए।"—यह कहकर वह धनुष और बाण उन्हें दे दिये। जीवन्धरकुमार धनुष-बाण लेकर बहुत सन्तुष्ट हुए। [2]वहाँ पर उनकी प्रथम स्त्री गन्धर्वदत्ता अपनी विद्या के द्वारा उनके पास गयी और उन्हें सुख से बैठा देख किसी के जाने बिना वापस आ गयी।

[3]वहाँ से चलकर जीवन्धरकुमार सुजन[4] देश के हेमाभनगर पहुँचे। वहाँ का राजा दृढ़मित्र था और उसकी स्त्री का नाम नलिना[5] था। दोनों के एक हेमाभा नाम की कन्या थी। हेमाभा के जन्म के समय किसी निमित्तज्ञानी ने बताया कि मनोहर नामक आयुधशाला में जिसका बाण लक्ष्यस्थान से लौटकर पीछे आवेगा वही इस कन्या का पति होगा। अन्य धनुषधारियों के कहने से जीवन्धरकुमार ने भी अपना बाण छोड़ा और वह लक्ष्य को बेधकर वापस उनके पास आ गया। निमित्तज्ञानी के कहे अनुसार उनका हेमाभा[6] के साथ विवाह हो गया। गन्धर्वदत्ता की सहायता से नन्दाढ्य स्मर-तरंगिणी नामक शय्या पर सोकर भोगिनी विद्या के द्वारा जीवन्धरकुमार के पास पहुँच गया। राजा दृढ़मित्र के गुणमित्र, बहुमित्र, सुमित्र और धनमित्र आदि कितने ही पुत्र थे। उन सबके साथ जीवन्धरकुमार का समय सुख से व्यतीत होता रहा। तदनन्तर उसी हेमाभनगर में श्रीचन्द्रा के साथ युवक नन्दाढ्य का विवाह हुआ।[7] सरोवर का रक्षक एक विद्याधर मुनिराज के मुख से सुनकर जीवन्धर स्वामी के पूर्वभवों का वर्णन इस प्रकार करने लगा।[8]

---

१. गद्यचिन्तामणि आदि में कन्या का नाम क्षेमश्री है। क्षेमनगर पहुँचने के पूर्व गद्यचिन्तामणि आदि में एक तपोवन में तपस्वियों को समीचीन धर्म का उपदेश देने का वर्णन है।

२. गद्यचिन्तामणि आदि में धनुष-बाण देने तथा गन्धर्वदत्ता के पहुँचने का कोई उल्लेख नहीं है।

३. गद्यचिन्तामणि आदि में हेमाभनगर पहुँचने के पूर्व अटवी में एक विद्याधरी की कामुकता का वर्णन है।

४. गद्यचिन्तामणि आदि में मध्यदेश का उल्लेख है।

५. गद्यचिन्तामणि आदि में रानी का नाम नलिनी लिखा है।

६. अन्यत्र कन्या का नाम कनकमाला लिखा है। गद्यचिन्तामणि आदि में दृढ़मित्र के सुमित्र आदि पुत्रों द्वारा एक आम का फल तोड़ना, उसमें सफल नहीं होना और जीवन्धरकुमार के द्वारा उसका तोड़ा जाना, इससे प्रभावित होकर सुमित्र आदि के द्वारा जीवन्धर को अपने घर ले जाना, उनसे शस्त्रविद्या सीखना और अन्त में कनकमाला का विवाह कर देना आदि का वर्णन है।

७. इस विवाह का वर्णन गद्यचिन्तामणि आदि में नहीं है।

८. जीवन्धर के पूर्वभवों का वर्णन गद्यचिन्तामणि आदि में अन्यत्र दिया है तथा उसमें नाम आदि का बहुत भेद है।

"धातकीखण्ड द्वीप के पूर्वमेरुसम्बन्धी पूर्वविदेह क्षेत्र में पुष्कलावती नाम का देश है। उसकी पुण्डरीकिणी नगरी में राजा जयन्धर राज्य करता था। उसकी जयावती रानी से तू जयद्रथ नाम का पुत्र हुआ था। किसी समय जयद्रथ क्रीड़ा करने के लिए मनोहर नामक वन में गया। वहाँ उसने सरोवर के किनारे एक हंस शिशु को देखकर कौतुकवश चतुर सेवकों के द्वारा उसे पकड़वा लिया और उसके पालन करने का प्रयत्न करने लगा। यह देख उस शिशु के माता-पिता शोकाकुल हो आकाश में बार-बार करुण क्रन्दन करने लगे। उनका शब्द सुन तेरे एक सेवक ने बाण द्वारा उस शिशु के पिता को मारकर नीचे गिरा दिया। यह देख, जयद्रथ की माता का हृदय दया से आर्द्र हो गया। उसने पूछा कि यह क्या है? किंकर से सब समाचार जानकर वह पक्षी के मारनेवाले सेवक पर बहुत कुपित हुई तथा तुझे भी डाँटकर कहने लगी कि तेरे लिए यह कार्य उचित नहीं है, तू शीघ्र ही इस शिशु को इसकी माता से मिला दे। इसके उत्तर में तूने कहा कि यह कार्य मैंने अज्ञानतावश किया है और जिस दिन उस शिशु को पकड़वाया था उसके सोलहवें दिन उसकी माता से मिला दिया। काल पाकर जयद्रथ भोगों से विरक्त हो साधु हो गया और अन्त में सल्लेखना कर सहस्रार नामक स्वर्ग में देव हुआ। वहाँ की आयु समाप्त कर तू जीवन्धर हुआ है और पक्षी को मारनेवाला सेवक काष्ठांगारिक हुआ है। उसी ने तुम्हारा जन्म होने के पूर्व तुम्हारे पिता राजा सत्यन्धर को मारा है। तुमने सोलह दिन तक हंस-शिशु को माता-पिता से अलग रखा था उसी के फलस्वरूप तुम्हारा सोलह वर्ष तक माता-पिता तथा भाइयों से वियोग हुआ है। जीवन्धरकुमार उस विद्याधर से अपने पूर्वभव सुनकर बहुत प्रसन्न हुए।"[1]

इधर जब नन्दाढ्य राजपुरी नगरी से बाहर हुआ तब मधुर आदि मित्र शंका में पड़ गये। उन्होंने गन्धर्वदत्ता से पूछा तो उसने स्पष्ट बताया कि इस समय जीवन्धर और नन्दाढ्य, दोनों भाई सुजनदेश के हेमाभनगर में सुख से विराज रहे हैं। गन्धर्वदत्ता से पता आदि पूछकर सब मित्र उन दोनों से मिलने के लिए चल पड़े। मार्ग में जब दण्डक वन में पहुँचे तो वहाँ तापसी के वेष में रहनेवाली विजयारानी से उनकी भेंट हुई। वार्तालाप के प्रसंग में काष्ठांगारिक के द्वारा जीवन्धर के मारे जाने का अपूर्ण समाचार सुनकर विजया को बहुत दुःख हुआ परन्तु पश्चात् पूर्ण समाचार सुनकर समाधान को प्राप्त हुई।

दण्डक वन से आगे जाने पर मधुर आदि को भीलों की सेना ने घेर लिया परन्तु अपनी शूरवीरता से उसे परास्त कर वे आगे निकल गये। हेमाभनगर के निकट पहुँचकर उन्होंने वहाँ के गोपालों की गायें छीन लीं। उनकी चिल्लाहट सुन जीवन्धर-

---

१. जीवन्धरचम्पू तथा गद्यचिन्तामणि आदि में उल्लेख है कि जीवन्धर पूर्वभव में धातकीखण्ड द्वीप के भूमितिलक नगर के राजा पवनवेग के यशोधर नामक पुत्र थे। हंसशिशु के पकड़ने पर पिता ने जीवन्धर को उपदेश दिया था।

कुमार ने उनका सामना कर उन्हें परास्त किया। अन्त में मधुर आदि मित्रों ने अपने नामांकित बाण चलाकर जीवन्धर को अपना परिचय दिया। सबका सुखद मिलन हुआ।

मधुर आदि मित्रों के द्वारा अपनी माता का परिचय प्राप्त कर जीवन्धरकुमार दण्डक वन गये और चिरकाल से बिछुड़ी हुई माता से मिलकर परम आनन्द का अनुभव किया। विजया माता ने जीवन्धरकुमार को समस्त घटना-चक्र से अवगत कराया। माता को आश्वासन देकर वे अपने मित्रों के साथ राजपुर वापस आये। यहाँ उन्होंने अपने आने का समाचार प्रकट नहीं होने दिया। राजपुरनगर में उन्होंने सागरदत्त सेठ की कमला नामक स्त्री से उत्पन्न विमला नामक पुत्री के साथ विवाह किया और उसके बाद वृद्ध का रूप रख[1] गुणमाला को चकमा दे उसके साथ विवाह किया। इस तरह कुछ दिन तक उन्होंने राजपुरनगर में अज्ञातवास कर किसी शुभ दिन विजयगिरि नामक हाथी पर सवार हो बड़ी धूमधाम से गन्धोत्कट के घर में प्रवेश किया। इस घटना से काष्ठांगारिक को बहुत बुरा लगा परन्तु उसके मन्त्रियों ने उसे शान्त कर दिया।

विदेह[2] देश के विदेह नामक नगर में राजा गोपेन्द्र रहते थे, उनकी स्त्री का नाम पृथ्वीसुन्दरी था और उन दोनों के एक रत्नवती नाम की कन्या थी। उसकी प्रतिज्ञा थी कि जो चन्द्रकवेध में चतुर होगा उसी के साथ वह विवाह करेगी। राजा गोपेन्द्र कन्या को लेकर राजपुर आया और वहाँ उसने उसका स्वयंवर रचा। स्वयंवर में जीवन्धरकुमार ने चन्द्रकवेध को वेध दिया जिससे रत्नवती ने उसके गले में वरमाला डाल दी। इस घटना से काष्ठांगारिक बहुत कुपित हुआ। उसने युद्ध के द्वारा रत्नवती को छीनने की योजना बनायी। जब जीवन्धर को इसका बोध हुआ तब उन्होंने सत्यन्धर महाराज के सब सामन्तों के पास दूत भेजकर यह समाचार विदित कराया, "मैं राजा सत्यन्धर की विजयारानी से उत्पन्न पुत्र हूँ। काष्ठांगारिक को हमारे पिता ने मन्त्री बनाया था परन्तु इसने उन्हें मारकर राज्य प्राप्त कर लिया। आप लोग इस कृतघ्न को अवश्य नष्ट करें।"

जीवन्धरकुमार का सन्देश पाकर सब सामन्त इनकी ओर आ मिले। अन्त में युद्ध कर जीवन्धर ने काष्ठांगारिक को मारकर अपना राज्य प्राप्त कर लिया। सुदर्शन यक्ष ने सब लोगों के साथ मिलकर जीवन्धर का राज्याभिषेक किया। गन्धोत्कट राजसेठ हुए। माता विजया और आठों रानियाँ सब एकत्रित हुईं। सबका समय सुख

---

१. गद्यचिन्तामणि तथा जीवन्धरचम्पू आदि में सुरमंजरी के साथ विवाह करने का उल्लेख है।

२. गद्यचिन्तामणि आदि में उल्लेख है कि विदेह देश में राजा गोविन्द रहते थे, उनके नद्वृती रानी से उत्पन्न लक्ष्मणा नाम की पुत्री थी। गोविन्द महाराज, जीवन्धरकुमार के मामा थे अतः काष्ठांगार के ऊपर चढ़ाई करने के पूर्व विचार-विमर्श करने के लिए वे उनके पास गये थे। उसी समय काष्ठांगार का एक पत्र भी उन्हें राजपुरी बुलाने के विषय में गया था। फलस्वरूप राजा गोविन्द पूरी तैयारी के साथ राजपुरी की ओर चले। उनके साथ में उनकी 'लक्ष्मणा' नामक पुत्री भी थी। राजपुरी में उसका स्वयंवर हुआ और उसने चन्द्रकवेध के वेधने पर जीवन्धर को अपना पति बनाया था।

से व्यतीत होने लगा।

एक बार जीवन्धरकुमार ने सुरमलय नामक उद्यान में वरधर्म नामक मुनिराज से धर्म का स्वरूप सुना और व्रत लेकर सम्यग्दर्शन को निर्मल किया। नन्दाढ्य आदि भाइयों ने भी यथाशक्ति व्रत लिये। तदनन्तर जीवन्धर किसी एक दिन अपने अशोक वन में गये। वहाँ लड़ते हुए दो बन्दरों के झुण्डों को देखकर संसार से विरक्त हो गये।[1] वहीं उन्होंने प्रशान्तवंक नामक मुनिराज से अपने पूर्वभव सुने। उसी समय सुरमलय उद्यान में भगवान् महावीर का समवसरण आया सुन वैभव के साथ वहाँ गये और गन्धर्वदत्ता के पुत्र वसुन्धरकुमार को राज्य देकर नन्दाढ्य आदि के साथ दीक्षित हो गये। महादेवी विजया और गन्धर्वदत्ता आदि रानियों ने भी चन्दना आर्या के पास दीक्षा ले ली।

सुधर्माचार्य राजा श्रेणिक से कहने लगे कि अभी जीवन्धर मुनिराज महातपस्वी श्रुतकेवली हैं परन्तु घातिया कर्मों को नष्ट कर केवलज्ञानी होंगे और भगवान् महावीर के साथ विहार कर उनके मोक्ष चले जाने के बाद विपुलाचल से मुक्ति प्राप्त करेंगे।

इस प्रकार अनेक ग्रन्थों के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट है कि जीवन्धर स्वामी का उदात्त चरित्र अलौकिक घटनाओं से परिपूर्ण है तथा आत्मोन्नति में परम सहायक है।

जीवन्धरचम्पू के प्रमुख पात्रों का चरित्र-चित्रण

१. महाराज सत्यन्धर

महाराज सत्यन्धर हेमांगद देश और राजपुरी नगरी के राजा थे। कथानायक जीवन्धर के पिता हैं। प्रजा तथा मन्त्री आदि मूल वर्ग को अपने अधीन रखते थे, अत्यन्त शूरवीर थे, यशस्वी थे और अपनी दानवीरता से कल्पवृक्ष की गरिमा को भी मन्द करनेवाले थे, कुरुवंश के शिरोमणि थे। शत्रुओं को जीतकर जब अपने राज्य को स्थिर कर चुके तब विषयासक्ति के कारण राज्य-कार्यों से विमुख हो गये। राज्य का कार्य काष्ठांगार मन्त्री के स्वायत्त कर आप रागरंग में मस्त हो गये। राजा के भविष्य को समझनेवाले धर्मदत्त आदि मन्त्री राजा को हितावह उपदेश देते हैं और काष्ठांगार का विश्वास न करने की प्रार्थना करते हैं परन्तु विषयासक्ति की प्रबलता और काष्ठांगार के ऊपर जमे हुए अपने विश्वास के कारण मन्त्रियों के हितकर उपदेश को उपेक्षित कर देते

---

१. गद्यचिन्तामणि तथा जीवन्धरचम्पू आदि में चर्चा है कि राजा जीवन्धर जब अशोक वन में पहुँचे तब एक वानर और वानरी में प्रणयकलह हो रही थी। प्रणयकलह शान्त होने पर वानर ने एक पनस का फल वानरी के लिए दिया परन्तु वनपाल ने वानरी से वह पनस फल छीन लिया। इस घटना से जीवन्धर के मन में यह विचार आया, "जिस प्रकार इस वनपाल ने वानरी से पनस फल छीना है उसी प्रकार मैंने भी काष्ठांगार से राज्य छीना है। इस छीना-झपटी से भरे हुए संसार में कोई भी मनुष्य स्थायी रूप से सुखी नहीं है।" ऐसा विचार करके संसार से विरक्त हो गये और मुनिराज के मुख से धर्मोपदेश सुनकर घर लौट आये तथा गन्धर्वदत्ता के पुत्र सत्यन्धर को राज्य देकर मुनि हो गये।

हैं। अन्त में काष्ठांगार की दुरभिसन्धि के लक्ष्य हो मृत्यु को प्राप्त होते हैं। राजा को धर्म, अर्थ और काम का पारस्परिक विरोध बचाते हुए प्रवृत्ति करना चाहिए। जहाँ इनके विरोध की उपेक्षा होती है वहाँ पतन निश्चित होता है। राजा सत्यन्धर इनके उदाहरण हैं।

२. विजयारानी

विजयारानी विदेह के राजा गोविन्द महाराज की बहन और राजा सत्यन्धर की प्रमुख रानी थीं। यद्यपि राजा सत्यन्धर की भामारति और अनंगपताका नाम की दो रानियाँ और भी थीं[1] परन्तु पति का अगाध प्रेम इसे ही प्राप्त था। इसने तीन स्वप्न देखे, जिनमें प्रथम स्वप्न का फल राजा की मृत्यु था। उसे सुनकर वह बहुत दुखी हुई परन्तु राजा के उपदेश से प्रणयलीला पूर्ववत् चलती रही। राजा सत्यन्धर का पतन होने पर श्मशान में पुत्र की उत्पत्ति हुई।

विजयारानी का जीवन बड़ा कष्टसहिष्णु और विपत्ति में व्यग्र नहीं होनेवाला दिखता है। आत्मगौरव की तो वह प्रतीक ही जान पड़ती है। राजा की मृत्यु और सद्योजात पुत्र का गन्धोत्कट सेठ के यहाँ स्थानान्तरण होने पर जब यक्षी उसे अपने भाई के घर जाने की सलाह देती है तब वह आत्मगौरव की रक्षा के लिए उस सलाह को ठुकरा देती है और दण्डक वन के एक तपोवन में तापसी के वेष में रहना पसन्द करती है। उसमें एक नीति यह भी मालूम होती है कि वेषान्तर से रहने में काष्ठांगार को उसका पता न चल सके। अन्यथा उसके रहते काष्ठांगार सदा संशयालु रहता और उसके नाश का प्रयत्न करता रहता। अन्त में पुत्र के साथ माता का मिलन होता है। पुत्र, पिता का राज्यसिंहासन प्राप्त करता है और विजयारानी पुनः अपने महलों में प्रवेश करती है। अन्तिम अवस्था में विजयारानी आर्यिका के व्रत धारण करती है। विजयारानी के जीवन में सुख-दुख का बड़ा सुन्दर समन्वय दिखाई देता है।

३. काष्ठांगार

काष्ठांगार जीवन्धरचम्पू का प्रतिनायक है। यह बड़ा कृतघ्न मन्त्री है। राजा सत्यन्धर ने जिसे मन्त्री पद पर आसीन किया और अन्त में अपना सारा राजपाट भी जिसके अधीन कर दिया उसका इस तरह कृतघ्न होना नीचता की पराकाष्ठा है। केवल राज्य प्राप्त कर स्वायत्त होने की आकांक्षा मनुष्य का इतना पतन नहीं करा सकती, इसका दूसरा भी कारण होना चाहिए, जिसे उत्तरपुराण में गुणभद्राचार्य ने स्पष्ट किया है।

महाराज सत्यन्धर का एक रुद्रदत्त नाम का पुरोहित था, जो भविष्यवक्ता भी था। उसने काष्ठांगार को बतलाया था कि राजा सत्यन्धर की विजयारानी के गर्भ से

---

१. उत्तरपुराण के आधार पर।

उत्पन्न हुआ पुत्र तुम्हारा प्राणघातक होगा। राजा सत्यन्धर के रहते वह विजया और उसके भावी पुत्र को नष्ट करने में समर्थ नहीं था अतः उसने सर्वप्रथम राजा सत्यन्धर को ही नष्ट करने का उपाय रचा। सत्यन्धर को मारकर वह उनके राज्य का अधिकारी हो गया। श्मशान में उत्पन्न पुत्र उसी रात्रि को गन्धोत्कट सेठ के अधीन हो गया और रानी विजया दण्डक वन में तापसी के वेष में रहने लगी। काष्ठांगार ने समझा कि मैंने राजा को मार डाला है और रानी मयूरयन्त्र में बैठकर गयी थी अतः गिरने पर उसका और उसके गर्भस्थ बालक का प्राणघात स्वयं हो गया होगा। इस प्रकार निश्चिन्त होकर अपना राज्य-शासन चलाता है।

आतंक से किसी की अकीर्ति दबती नहीं है उलटी फैलती है। काष्ठांगार की भी अकीर्ति राजघातक के रूप में सर्वत्र फैल गयी अतः वह अन्त में विजयारानी के भाई गोविन्द महाराज के पास सन्देश भेजता है कि राजा का घात एक उन्मत्त हाथी ने किया है और उसका कलंक मुझे लगाया जा रहा है। आप आकर हमारे इस कलंक का परिमार्जन कर दीजिए। तबतक जीवन्धर भी वयस्क होकर अपने मातुल गोविन्द महाराज के घर पहुँच चुके थे। काष्ठांगार के कपट पत्र का उपयोग करते हुए, मित्र के नाते एक बड़ी सेना साथ लेकर गोविन्द महाराज काष्ठांगार के यहाँ आये। वहीं उन्होंने अपनी पुत्री लक्ष्मणा का स्वयंवर रचा। जीवन्धर ने चन्द्रकवेध को वेधकर लक्ष्मणा की वरमाला प्राप्त की। इससे उत्तेजित हो काष्ठांगार भड़क उठा। इधर युद्ध की तैयारी पूरी थी अतः युद्ध हुआ और काष्ठांगार उसमें मारा गया।

४. जीवन्धर

आप महाराज सत्यन्धर और विजयारानी के पुत्र हैं। उत्तरपुराण के उल्लेखानुसार इन्होंने एक हंस के बच्चे को उसके माता-पिता के पास से पकड़वा लिया था। बच्चे का पिता हंस इस दुख से दुखी होकर आकाश में झंकार कर रहा था अतः इसे उन्होंने अपने किसी सेवक से मरवा दिया। पीछे चलकर गद्यचिन्तामणि के अनुसार पिता के और उत्तरपुराण के अनुसार माता के उपदेश से इन्होंने सोलह दिन बाद उस हंस-शिशु को उसकी माता के पास भेज दिया। करनी का फल सबको मिलता है, अतः जीवन्धर को भी उसके फलस्वरूप उत्पत्ति के पूर्व ही पिता की मृत्यु तथा माता से सोलह वर्ष का विछोह सहन करना पड़ा। जीवन्धर मोक्षगामी पुरुष थे, करुणा इनकी रग-रग में भरी थी। कालकूट भील के द्वारा गायों के चुरा लिये जाने पर जब गोपों के परिवार काष्ठांगार के द्वार पर रोते हैं और उसकी अकर्मण्य सेना जब पराजित होकर लौट आती है तब आप अपने सखाओं के साथ जाकर भील को परास्त करते हैं और गोपों का पशुधन वापस लाकर उन्हें देते हैं।

एक मरणोन्मुख कुक्कुर को देखकर उनकी करुणा जाग उठती है और उसे वे पंचनमस्कार मन्त्र सुनाकर कृतकृत्य करते हैं। कुक्कुर का जीव मरकर सुदर्शन यक्ष

होता है और कृतज्ञता के नाते जीवन्धर का बड़ा उपकार करता है। कृतघ्न काष्ठांगार और कृतज्ञ सुदर्शन यक्ष, दोनों के जीवन में स्वर्ग और नरक के समान अन्तर दिखाई देता है। भीतमूर्ति गुणमाला की रक्षा के लिए अकेले ही एक उन्मत्त हाथी से जूझ पड़ते हैं। सर्पदंश से मूर्च्छित कन्या का विषहरण करने के लिए मान्त्रिक के रूप में सामने आते हैं तो काष्ठांगार की मृत्यु के बाद बारह वर्ष तक पृथिवी को करभार से मुक्त कर देशवासियों के लिए एक कल्पवृक्ष के रूप में दिखाई देते हैं।

आपका जीवन बड़ा ही पवित्र और परोपकारमय रहा है। इनके जीवन की विशेषता से प्रभावित होकर ही वादीभसिंह ने इन्हें क्षत्रचूड़ामणि—क्षत्रियों के शिरोमणि अथवा राजराज—राजाओं के राजा-जैसे शब्दों से संज्ञित किया है। शलाकापुरुष[1] न होनेपर भी पुराणकारों ने अपने पुराणों में इनका चरित्र अंकित किया है और कवियों ने इस पर गद्यपद्यात्मक काव्य लिखे हैं। जीवन्धरचम्पूकार ने तो स्पष्ट ही घोषित किया है—'जीवन्धरस्य चरितं दुरितस्य हन्तृ'—जीवन्धर का चरित्र पाप को नष्ट करनेवाला है। आपने अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर के समवसरण में दीक्षा धारण कर राजगृही के निकटवर्ती विपुलाचल से मोक्ष प्राप्त किया है। जीवन्धर, जीवन्धरचम्पू के नायक हैं।

५. गन्धोत्कट

जीवन्धर के जीवन में गन्धोत्कट को उनके पिता का स्थान प्राप्त है जिसे उसने बड़ी कुशलता से निभाया है। यह राजपुरी का एक बड़ा सेठ था। इसके पुत्र अल्पायु होते थे अतः इसने मुनि महाराज से पूछा, "क्या कभी हमारे भी दीर्घायु पुत्र होगा?" मुनिराज ने उसे सन्तोष दिलाया और कहा, "जब तुम अपने मृत पुत्र को छोड़ने के लिए श्मशान आओगे तब तुम्हें एक भाग्यशाली उत्तम पुत्र प्राप्त होगा।" ऐसा ही हुआ। जीवन्धर के बाद उसकी सुनन्दा स्त्री से एक स्वयं का भी पुत्र हो गया पर उसके जीवन में कभी यह देखने को नहीं मिलता कि नन्दाढ्य उसका निज का पुत्र है और जीवन्धर दूसरे का। उसकी स्त्री सुनन्दा भी बड़ी उदात्त महिला है।

६. गन्धर्वदत्ता

यह जीवन्धर की प्रथम और प्रमुख पत्नी है। विद्याधर गरुड़वेग की पुत्री है, संगीत की मर्मज्ञ है और जीवन्धर के भ्रमण काल में अपनी विद्याओं के उपयोग से सबको सान्त्वना देती रहती है। गन्धर्वदत्ता के कारण ही जीवन्धर का विद्याधरों के साथ सम्पर्क बढ़ा है।

---

१. २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ नारायण, ९ प्रतिनारायण और ९ बलभद्र ये त्रेसठ शलाकापुरुष कहलाते हैं।

७. गुणमाला

यह राजपुरी के कुबेरमित्र सेठ और उसकी स्त्री विनयमाला की पुत्री है। हाथी के उपद्रव से जीवन्धरकुमार ने इसकी रक्षा की थी। उसी समय से इसका जीवन्धर के प्रति और जीवन्धर का इसके प्रति अनुराग बढ़ गया था। अनुराग की पूर्ति के लिए इसने जीवन्धर के पास शुक के द्वारा प्रणय-पत्र भेजा और जीवन्धर ने भी उसी शुक के द्वारा प्रतिपत्र भेजा। अन्त में दोनों का विवाह हुआ। श्रीहर्ष के द्वारा नैषध काव्य में नल और दमयन्ती के बीच हंस का दूत बनाया जाना इसी शुकदूत की कल्पना का प्रसार है।

८. सुरमंजरी

यह राजपुरी के कुबेरदत्त सेठ और उसकी सुमति स्त्री की पुत्री है। अपने सुगन्धित चूर्ण के विषय में गुणमाला से पराजित होने पर जीवन्धर में इसकी आस्था बढ़ गयी थी। इतनी अधिक, कि इसने अपने अन्तःपुर में अन्य पुरुषों का प्रवेश भी निषिद्ध कर दिया था। परिभ्रमण से वापस आने पर जब जीवन्धर को इस बात का पता चला तब वे एक वृद्ध के रूप में उसके घर गये। जीवन्धरचम्पू का वह सन्दर्भ हास्य रस का अच्छा उदाहरण है। अन्त में दोनों का विवाह हुआ।

जहाँ जीवन्धर और नन्दाढ्य में सौभ्रात्र है वहाँ जीवन्धर की आठों रानियों में सौमनस्य दृष्टिगोचर होता है। पारिवारिक सुख-शान्ति के लिए इसका होना अत्यन्त आवश्यक है।

जीवन्धरचम्पू चरितकाव्य है अतः उसमें अनेक पात्रों का चरित्र-चित्रण हुआ है और धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्य है उसमें चरित्र-चित्रण को गौण कर काव्यात्मक वर्णन को प्रमुखता दी गयी है।

□

द्वितीय अध्याय

स्तम्भ १ : साहित्यिक सुषमा

१. धर्मशर्माभ्युदय की काव्य-पीठिका
२. धर्मशर्माभ्युदय का काव्य-वैभव
३. जीवन्धरचम्पू की काव्य-कला
४. जीवन्धरचम्पू का उत्प्रेक्षालोक
५. धर्मशर्माभ्युदय का रस-परिपाक
६. जीवन्धरचम्पू का रस-प्रवाह
७. जीवन्धरचम्पू का विप्रलम्भ-शृंगार और प्रणय-पत्र
८. जीवन्धरचम्पू में शान्तरस की धारा
९. धर्मशर्माभ्युदय में छन्दों की रसानुगुणता
१०. जीवन्धरचम्पू की छन्दो-योजना

स्तम्भ २ : आदान-प्रदान

११. जीवन्धरचरित की उपजीव्यता
१२. उपजीव्य और उपजीवित
१३. शिशुपालवध और धर्मशर्माभ्युदय
१४. चन्द्रप्रभचरित और धर्मशर्माभ्युदय

स्तम्भ १ : साहित्यिक सुषमा

धर्मशर्माभ्युदय की काव्य-पीठिका

कवि कैसे हुआ जाता है ? तथा काव्य में किस-किस तत्त्व की आवश्यकता है ? इसका सुन्दर विश्लेषण कवि ने काव्य के प्रारम्भ में ही किया है। वे लिखते हैं—

अर्थ[1] भले ही हृदय में स्थित हो परन्तु जिसे काव्य-रचना की शक्ति प्राप्त नहीं है ऐसा मनुष्य कवि नहीं हो सकता क्योंकि पानी अधिक भी भरा हो फिर भी कुत्ता जिह्वा से जल का स्पर्श छोड़कर उसे अन्य प्रकार से पीना नहीं जानता।

रमणीय[2] अर्थ का प्रतिपादक शब्द-समूह ही काव्य कहलाता है, यह तत्त्व हृदयंगत करते हुए कवि ने कहा है—

वाणी[3], अच्छे-अच्छे पदों से सुशोभित क्यों न हो परन्तु मनोहर अर्थ से शून्य होने के कारण विद्वानों का मन सन्तुष्ट नहीं कर सकती। जैसा कि थूवर से झरता हुआ दूध का प्रवाह यद्यपि नयनप्रिय होता है—देखने में सुन्दर होता है तथापि मनुष्यों के लिए रुचिकर नहीं होता।

कवि की वाणी में शब्द और अर्थ—दोनों की गरिमा को स्वीकृत करते हुए कहा है—

बड़े[4] पुण्य से किसी एक आदि कवि की ही वाणी शब्द और अर्थ—दोनों की विशिष्ट रचना से युक्त होती है। देखो न, चन्द्रमा को छोड़कर अन्य किसी की किरण अन्धकार को दूर करने और अमृत को झरानेवाली नहीं होती।

उपर्युक्त शब्दों द्वारा कवि ने, सुकवि बनने के लिए शक्ति, व्युत्पत्ति और प्रतिभा इन तीनों की आवश्यकता प्रकट की है। जैसा कि काव्यमीमांसा में राजशेखर ने भी लिखा है—

"काव्यकर्मणि कवेः समाधिः परं व्याप्रियते", इति श्यामदेवः, मनस एकाग्रता समाधिः। समाहितं चित्तमर्थान् पश्यति। 'अभ्यासः' इति मङ्गलः अविच्छेदेन शील-

---

१. अर्थे हृदिस्थेऽपि कविर्न कश्चिन्निर्विघ्नगीर्गुम्फविचक्षणः स्यात्।
जिह्वाञ्चलस्पर्शमपास्य पातुं श्वा नान्यथाम्भो घनमप्यवैति ।१४। धर्म., प्रथम सर्ग
२. रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्—रसगंगाधर
३. हृद्यार्थवन्ध्या पदबन्धुरापि वाणी बुधानां न मनो धिनोति।
न रोचते लोचनवल्लभापि स्नुहीक्षरत्क्षीरसरिन्नरेभ्यः ।१५। धर्म., प्रथम सर्ग
४. वाणी भवेत्कस्यचिदेव पुण्यैः शब्दार्थसन्दर्भविशेषगर्भा।
इन्दुं विनान्यस्य न दृश्यते द्युत्तमोधुनाना च सुधाधुनी च ।१६।—धर्म., प्रथम सर्ग

अभ्यासः। स हि सर्वगामी सर्वत्र निरतिशयं कौशलमाधत्ते। समाधिरान्तरः प्रयत्नो बाह्यस्त्वभ्यासः। तावुभावपि शक्तिमुद्भासयतः। 'सा केवलं काव्ये हेतुः' इति यायावरीयः। विप्रसृतिश्च प्रतिभाव्युत्पत्तिभ्याम्। शक्तिकर्तृके हि प्रतिभाव्युत्पत्तिकर्मणी। शक्तस्य प्रतिभाति शक्तश्च व्युत्पद्यते। या शब्दग्राममर्थसार्थमलङ्कारतन्त्रमुक्तिमार्गमन्यदपि तथाविधमधिहृदयं प्रतिभासयति सा प्रतिभा। अप्रतिभस्य पदार्थसार्थः परोक्ष इव, प्रतिभावतः पुनरपश्यतोऽपि प्रत्यक्ष इव। यतो मेधाविरुद्रकुमारदासादयो जात्यन्धाः कवयः श्रूयन्ते।"

उक्त सन्दर्भ का तात्पर्य यह है कि काव्य की उत्पत्ति में मन की एकाग्रता और अभ्यास प्रथम कारण हैं। ये दोनों कवि की शक्ति को उद्भासित करते हैं। शक्ति के उद्भासित होने पर कवि की प्रतिभा और व्युत्पत्ति प्रकट होती है। उस प्रतिभा के द्वारा अभिनव अर्थ की ओर व्युत्पत्ति के द्वारा अर्थानुकूल शब्द-समूह की उपस्थिति होती है। शब्द और अर्थ ही काव्य का दृश्यमान शरीर है।

अपने इस सिद्धान्त के अनुसार धर्मशर्माभ्युदय में कवि ने शब्द और अर्थ—दोनों ही सम्पत्तियों को सँजोया है। इसके एक-दो उदाहरण देखिए—

कवि कहना चाहता है कि सुन्दर काव्य रचे जाने पर भी कोई विरला मनुष्य ही सन्तोष को प्राप्त होता है सब नहीं, सबमें गुण-ग्रहण की क्षमता भी नहीं है। अपने इस भाव को प्रकट करने के लिए नीचे लिखे पद्य में कवि ने जिस शब्द और अर्थसम्पत्ति को संकलित किया है उसपर दृष्टिपात कीजिए—

श्रव्येऽपि काव्ये रचिते विपश्चित्कश्चित्सचेताः परितोषमेति।
उत्कोरकः स्यात्तिलकश्चलाक्ष्याः कटाक्षभावैरपरे न वृक्षाः ॥१७॥

—मनोहर काव्य के रचे जाने पर भी कोई सहृदय विद्वान् ही पूर्ण सन्तोष को प्राप्त होता है क्योंकि किसी चंचललोचना के कटाक्षों से तिलक वृक्ष ही कुड्मलित होता है, अन्य नहीं।

पुत्र के न होने से राजा महासेन का मन चिन्तातुर होता हुआ किसी एक स्थान पर स्थित नहीं है—इसका वर्णन करने के लिए कवि के शब्द और अर्थ पर दृष्टि दीजिए—

क्व यामि तत्किं नु करोमि दुष्करं सुरेश्वरं वा कमुपैमि कामदम्।
इतीष्टचिन्ताचयचक्रचालितं क्वचिन्न चेतोऽस्य बभूव निश्चलम् ॥७४॥

—सर्ग २

—कहाँ जाऊँ, कौन-सा कठिन कार्य करूँ, अपने मनोरथ को पूर्ण करनेवाले किस देवेन्द्र की शरण गहूँ—इस प्रकार इष्टपदार्थविषयक चिन्तासमूहरूपी चक्र से चलाया हुआ राजा का मन किसी भी स्थान पर निश्चल नहीं हो रहा था।

देवियों द्वारा सुव्रता माता की सेवा की जा रही है—इस सन्दर्भ का एक श्लोक देखिए—

अङ्गरागमिव कापि सुभ्रुवः सान्ध्यसंपदिव निर्ममे दिवः ।
यामिनीव शुचिरश्मिधरां परां चारुचामरमचालयच्चिरम् ।।४९।।

—सर्ग ५

—जिस प्रकार सन्ध्या आकाश में लालिमा उत्पन्न करती है उसी प्रकार किसी देवी ने माता के शरीर में अंगराग लगाकर लालिमा उत्पन्न कर दी और जिस प्रकार रात्रि चन्द्रमा को चलाती है उसी प्रकार कोई देवी चिरकाल तक सुन्दर चँवर चलाती रही ।

स्वयंवर-वर्णन में कन्या के प्रति सुभद्रा की सम्बोधनोक्ति देखिए—

कङ्कोलकैलालवलीलवङ्गरम्येषु वेलाद्रिवनेषु सिन्धोः ।
कुरु स्पृहां नागरखण्डवल्लीलीलावलम्बितक्रमुकेषु रन्तुम् ।।६२।। सर्ग १७

—हे तन्वि ! तू कवाकचीनी, इलायची, लवली और लौंग के वृक्षों से रमणीय, समुद्र के तटवर्ती पर्वतों के उन वनों में क्रीड़ा करने की इच्छा कर जिनमें सुपारी के वृक्ष ताम्बूल की लताओं से लीलापूर्वक अवलम्बित हैं—लिपटे हुए हैं ।

धर्मशर्माभ्युदय का काव्य-वैभव

पण्डितराज जगन्नाथ ने काव्य के प्राचीन-प्राचीनतर लक्षणों का समन्वय करते हुए अपने 'रसगंगाधर' में उसका लक्षण लिखा है—'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'—रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करनेवाला शब्द-समूह काव्य है । वह रमणीयता चाहे अलंकार से प्रकट हो, चाहे अभिधा, लक्षणा या व्यंजना से । मात्र सुन्दर शब्दों से या मात्र सुन्दर अर्थ से काव्य, काव्य नहीं कहलाता, किन्तु दोनों के संयोग से ही काव्य कहलाता है । महाकवि हरिचन्द्र ने धर्मशर्माभ्युदय में शब्द और अर्थ—दोनों को बड़ी सुन्दरता के साथ संजोया है ।

उपमालंकार की अपेक्षा उत्प्रेक्षालंकार कवि की प्रतिभा को अत्यधिक विकसित करता है । हम देखते हैं कि धर्मशर्माभ्युदय में उत्प्रेक्षालंकार की धारा महानदी के प्रवाह के समान प्रारम्भ से लेकर अन्त तक अजस्र गति से प्रवाहित हुई है । उपमा, रूपक, विरोधाभास, श्लेष, परिसंख्या, अर्थान्तरन्यास और दीपक आदि अलंकार भी पद-पद पर इसकी शोभा बढ़ा रहे हैं । उदाहरण के लिए देखें—

श्लेष

लब्धात्मलाभा बहुधान्यवृद्ध्यै निर्मूलयन्ती घननीरसत्वम् ।
सा मेघसंघातमपेतपङ्का शरत्सतां संसदपि क्षिणोतु ।।१–१०।।

—जिसने अनेक प्रकार के अन्न की वृद्धि के लिए स्वरूपलाभ किया है, जो मेघों में जल के सद्भाव को दूर कर रही है तथा जिसने कीचड़ को दूर कर दिया है, ऐसी शरद् ऋतु मेघों के समूह को नष्ट करे । और जिसने अनेक प्रकार से दूसरों की

वृद्धि के लिए जन्म धारण किया है, जो अत्यधिक नीरसपने को दूर कर रही है तथा जिसने पाप को नष्ट कर दिया है ऐसी सज्जनों की सभा भी मेरे पापसमूह को नष्ट करे।

श्लेषव्यतिरेक

अनेकपद्माप्सरसः समन्ताद्यस्मिन्नसंख्यातहिरण्यगर्भाः ।
अनन्तपीताम्बरधामरम्या ग्रामा जयन्ति त्रिदिवप्रदेशान् ॥१–५४॥

जिस देश में गाँव स्वर्ग के प्रदेशों को जीतते हैं, क्योंकि स्वर्ग के प्रदेशों में तो एक ही पद्मा नामक अप्सरा है परन्तु उन गाँवों में अनेक पद्मा नामक अप्सराएँ हैं (पक्ष में, कमलों से उपलक्षित जल के सरोवर हैं) स्वर्ग के प्रदेशों में एक ही हिरण्यगर्भ—ब्रह्मा है परन्तु वहाँ असंख्यात हैं (पक्ष में, असंख्यात—अपरिमित हिरण्य—सुवर्ण उनके गर्भ—मध्य में हैं) और स्वर्ग के प्रदेश एक ही पीताम्बर—नारायण के धाम—तेज से मनोहर हैं परन्तु गाँव अनन्त पीताम्बरों के धाम से मनोहर हैं (पक्ष में, अपरिमित गगनचुम्बी भवनों से सुशोभित हैं)

उत्प्रेक्षा

संक्रान्तबिम्बः स्रवदिन्दुकान्ते नृपालये प्राहरिकैः परीते ।
हृताननश्रीः सुदृशां चकास्ति काराधृतो यत्र रुदन्निवेन्दुः ॥१–६३॥

जिसमें चन्द्रकान्त मणि से पानी झर रहा है तथा जो पहरेदारों से घिरा हुआ है, ऐसे राजमहल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा ऐसा जान पड़ता है मानो स्त्रियों के मुख की शोभा चुराने के कारण उसे जेल में डाल दिया हो और इसलिए मानो रो रहा हो। और भी—

मद्वाजिनो नोर्ध्वधुरा रथेन प्राकारमारोढुमपुं क्षमन्ते ।
इतीव यल्लङ्घयितुं दिनेशः श्रयत्यवाचीमथवाप्युदीचीम् ॥१–८१

जिसकी धुरा बिलकुल ऊपर की ओर उठ रही है ऐसे रथ के द्वारा हमारे घोड़े इस प्राकार को लाँघने में समर्थ नहीं हैं—यह विचार कर ही मानो सूर्य उस रत्नपुर को लाँघने के लिए कभी तो दक्षिण की ओर जाता है और कभी उत्तर की ओर। और भी—

प्रयाणलीलाजितराजहंसकं विशुद्धपार्ष्णि विजिगीषुवत्स्थितम् ।
तदङ्घ्रियालोक्य न कोशदण्डभाग्भियेव पद्मं जलदुर्गमत्यजत् ॥२–३६॥

जिसने अपनी सुन्दर चाल से राजहंस पक्षी को जीत लिया है (पक्ष में, जिसने अपने प्रयाण मात्र की लीला से बड़े-बड़े राजाओं को जीत लिया है), जिसकी एड़ी निर्दोष है (पक्ष में, सुरक्षित सेना निर्दोष—छलरहित है) तथा जो किसी विजयाभिलाषी राजा के समान स्थित है ऐसे कमल ने कुड्मल और दण्ड से युक्त होने पर भी (पक्ष में,

खजाना और सेना से सहित होने पर भी) उस रानी के वैर को देखकर भय से ही मानो जलरूपी किले को नहीं छोड़ा था।

रूपक और उपमा का सम्मिश्रण

अनिन्द्यदन्तद्युतिफेनिलाधरप्रवालशालिप्रुलोचनोत्पले।
तदास्यलावण्यसुधोदधौ बभुस्तरङ्गभङ्गा इव भङ्गुरालकाः ॥२–५९॥

उत्तम दाँतों की कान्ति से फेनयुक्त, अधररूपी प्रवाल से सुशोभित और नेत्ररूपी बड़े-बड़े नीलकमलों से भासमान उसके मुखसौन्दर्यरूपी अमृत के समुद्र के घुँघराले बाल लहरों की सन्तति के समान सुशोभित हो रहे थे।

श्लेषोपमा

स्वस्थो[1] श्रुताच्छद्मगुरूपदेशः श्रीदानवारातिविराजमानः।
यस्यां करोल्लासितवज्रमुद्रः पौरो जनो जिष्णुरिवावभाति ॥४–२३॥

जिस नगरी में नगरवासी लोग इन्द्र के समान शोभायमान हैं क्योंकि जिस प्रकार इन्द्र स्वस्थ है—स्वर्ग में स्थित है उसी प्रकार नगरवासी लोग भी स्वस्थ हैं—नीरोग हैं, जिस प्रकार इन्द्र छलरहित गुरु—बृहस्पति के उपदेश को धारण करता है उसी प्रकार नगरवासी लोग भी छलरहित गुरुजनों के उपदेश को धारण करते हैं, जिस प्रकार इन्द्र श्रीदानवारातिविराजमान—लक्ष्मी-सम्पन्न उपेन्द्र से सुशोभित रहता है उसी प्रकार नगरनिवासी लोग भी श्रीदानवारातिविराजमान—लक्ष्मी के दान जल से अत्यन्त सुशोभित हैं और इन्द्र जिस प्रकार करोल्लासितवज्रमुद्र—हाथ में वज्रायुध को धारण करता है उसी प्रकार नगरनिवासी लोग भी करोल्लासितवज्रमुद्र—किरणों से सुशोभित हीरे की अँगूठियों से सहित हैं।

और भी—

अभ्युपात्तकमलैः कवीश्वरैः संश्रुतं कुवलयप्रसाधनम्।
द्राविलेन्दुरसराशिसोदरं सच्चरित्रमिव निर्मलं सरः ॥५–७०॥

तदनन्तर रानी सुव्रता ने वह सरोवर देखा जो किसी सत्पुरुष के चरित्र के समान जान पड़ता था, क्योंकि जिस प्रकार सत्पुरुष का चरित्र अभ्युपात्तकमल—लक्ष्मी प्राप्त करनेवाले कवीश्वर—बड़े-बड़े कवियों के द्वारा सेवित होता है उसी प्रकार वह सरोवर भी अभ्युपात्तकमल—कमलपुष्प प्राप्त करनेवाले कवीश्वर—अच्छे-अच्छे जलपक्षियों से सेवित था। जिस प्रकार सत्पुरुष का चरित्र कुवलयप्रसाधन—महीमण्डल को अलंकृत करनेवाला होता है उसी प्रकार वह सरोवर भी कुवलयप्रसाधन—नीलकमलों से सुशोभित था और सत्पुरुष का चरित्र जिस प्रकार द्राविलेन्दुरसराशिसोदर—पिघले हुए चन्द्ररस

---

१. स्व : स्वर्गे तिष्ठतीति स्वस्थः 'खर्परे शरि विसर्गलोपो वा वक्तव्यः' इति वार्तिकेन विसर्ग-लोपः।
—सिद्धान्तकौमुदी

अथवा कर्पूररस के समान उज्ज्वल होता है उसी प्रकार वह सरोवर भी पिघले हुए चन्द्ररस अथवा कर्पूररस के समान उज्ज्वल था।

और भी—

पीवरोच्चलहरिव्रजोद्धुरं सज्जनक्रमकरं समन्ततः।
अब्धिमुग्रतरवारिमज्जितक्ष्माभृतं पतिमिवावनीभुजाम् ॥५–७१॥

तदनन्तर वह समुद्र देखा जो कि श्रेष्ठ राजा के समान था क्योंकि जिस प्रकार श्रेष्ठ राजा पीवरोच्चलहरिव्रजोद्धुर—मोटे-मोटे उछलते हुए घोड़ों के समूह से युक्त होता है उसी प्रकार वह समुद्र भी पीवरोच्चलहरिव्रजोद्धुर—मोटी और ऊँची लहरों के समूह से युक्त था। जिस प्रकार श्रेष्ठ राजा सज्जनक्रमकर—सज्जनों के क्रम—आचार को करनेवाला होता है उसी प्रकार वह समुद्र भी सज्जनक्रमकर—सजे हुए नाकुओं और मगरों से युक्त था और जिस प्रकार श्रेष्ठ राजा उग्रतरवारिमज्जितक्ष्माभृत्—पैनी तलवार से शत्रु राजाओं को खण्डित करनेवाला होता है उसी प्रकार वह समुद्र भी उग्रतरवारि-मज्जितक्ष्माभृत्—गहरे पानी में पर्वतों को डुबानेवाला था।

कालिदास की उपमा प्रसिद्ध है पर हम उसे मात्र उपमा के रूप में ही देखते हैं जबकि महाकवि हरिचन्द्र की उपमा, श्लेष आदि अलंकारों के साथ मिलकर कवि की अद्भुत प्रतिभा को प्रकट करती है।

अर्थान्तरन्यास

स वारितो मत्तमरुद्द्विपौघः प्रसह्य कामश्रमशान्तिमिच्छन्।
रजस्वला अप्यभजत्स्रवन्ती रहो मदान्धस्य कुतो विवेकः ॥ ७–५३॥

जिस प्रकार कोई कामोन्मत्त मनुष्य रोके जाने पर भी बलात्कार से कामश्रम की शान्ति को चाहता हुआ रजस्वला स्त्रियों का भी उपभोग कर बैठता है उसी प्रकार देवों के मदोन्मत्त हाथियों का समूह वारितः—पानी से अपने अत्यधिक श्रम की शान्ति को चाहता हुआ जबरदस्ती रजस्वला—धूलि से व्याप्त नदियों का उपभोग करने लगा सो ठीक ही है क्योंकि मदान्ध मनुष्य को विवेक कैसे हो सकता है ?

परिसंख्या

निशासु नूनं मलिनाम्बरस्थितिः प्रगल्भकान्तासुरते द्विजक्षतिः।
यदि क्विपः सर्वविनाशसंस्तवः प्रमाणशास्त्रे परमोहसंभवः ॥२–३०॥

यदि मलिनाम्बर स्थिति—मलिन आकाश की स्थिति थी तो रात्रियों में ही थी, वहाँ के मनुष्यों में मलिनाम्बर स्थिति—मैले वस्त्रों की स्थिति नहीं थी। द्विजक्षति—दाँतों के घाव यदि थे तो प्रौढ़ स्त्री के सम्भोग में ही थे, वहाँ के मनुष्यों में द्विज-क्षति—ब्राह्मणादि का घात नहीं था। यदि सर्वविनाश का अवसर आता था तो व्याकरण में प्रसिद्ध क्विप् प्रत्यय में ही आता था (क्योंकि उसी में सब वर्णों का लोप होता है),

वहाँ के मनुष्यों में किसी का सर्वनाश नहीं होता था, और परमोह-सम्भव—परम + ऊह उत्कृष्टव्याप्तिज्ञान प्रमाणशास्त्र—न्यायशास्त्र में ही था, वहाँ के मनुष्यों में परमोहसंभव —दूसरों को मोह उत्पन्न करना अथवा अत्यधिक मोह का उत्पन्न होना नहीं था।

विरोधाभास

महानदीनोऽप्यजडाशयो जगत्यनष्टसिद्धिः परमेश्वरोऽपि सन्।
बभूव राजापि निकारकारणं विभावरीणामयमद्भुतोदयः ॥२—३३॥

यह राजा संसार में महानदीन—महासागर होकर भी अजडाशय—जल से रहित था, परमेश्वर होता हुआ भी अणिमा आदि आठ सिद्धियों से रहित था और राजा—चन्द्रमा होकर भी विभावरी—रात्रियों के दुख का कारण था। परिहार पक्ष में वह राजा महान्—अत्यन्त उदार अदीन—दीनता से रहित तथा प्रबुद्ध आशयवाला था। अत्यन्त सम्पन्न होता हुआ अनष्ट-सिद्धि था—उसकी सिद्धियाँ कभी नष्ट नहीं होती थीं और राजा—नृपति होकर भी वह अरिभा विभी—शत्रुराजाओं के दुख का कारण था। इस तरह वह अद्भुत उदय से रहित था।

और भी—

चित्रमेतज्जगन्मित्रे नेत्रमैत्रीं गते त्वयि।
यन्मे जडाशयस्यापि पङ्कजातं निमीलति ॥३—५१॥

यह बड़ा आश्चर्य है कि आप जगत् के मित्र—सूर्य हैं और मैं जडाशय—तालाब हूँ, आप मेरे नयन-गोचर हो रहे हैं फिर भी मेरा पङ्कजात—कमल निमीलित हो रहा है। पक्ष में जगत् के मित्रस्वरूप आपके दृष्टिगोचर होते ही मुझ मूर्ख का भी पापसमूह नष्ट हो रहा है।

दीपक

नभो दिनेशेन नयेन विक्रमो वनं मृगेन्द्रेण निशीथमिन्दुना।
प्रतापलक्ष्मीबलकान्तिशालिना विना न पुत्रेण च भाति नः कुलम् ॥२—७३॥

सूर्य के बिना आकाश, नय के बिना पराक्रम, सिंह के बिना वन, चन्द्रमा के बिना रात्रि और प्रताप, लक्ष्मी, बल तथा कान्ति से सुशोभित पुत्र के बिना हमारा कुल सुशोभित नहीं होता।

भ्रान्तिमान्

रक्तोत्पलं हरितपत्रविलम्बितीरे
त्रिस्रोतसः स्फुटमिति त्रिदशाधिपेन्द्रः।
बिम्बं विकृष्य सहसा तपनस्य मुञ्चन्
धुन्वन्करं दिवि चकार न कस्य हास्यम् ॥६—४४॥

आकाशगंगा के किनारे हरे रंग के पत्ते पर यह लाल कमल फूला हुआ है, यह समझकर ऐरावत हाथी ने पहले तो बिना विचारे सूर्य का बिम्ब खींच लिया पर जब उष्ण लगा तब जल्दी से छोड़कर सूंड़ को फड़फड़ाने लगा यह देख आकाश में किसे हँसी न आ गयी थी ?

यहाँ उदाहरण के रूप में कुछ ही अर्थालंकारों के उद्धरण दिये गये हैं। धर्मशर्माभ्युदय का ऐसा एक भी श्लोक नहीं है जिसमें कोई न कोई अलंकार न हो।

आगे शब्दालंकार का वैभव देखिए—

शब्दालंकारों में अनुप्रास, यमक, शब्दश्लेष और चित्रालंकार की प्रधानता है। हम देखते हैं कि धर्मशर्माभ्युदय में इन सभी अलंकारों को अच्छा प्रश्रय दिया गया है—

अनुप्रास के कुछ उदाहरण देखिए—

यत्कायकान्तौ कनकोज्ज्वलायां ॥ १–४ ॥

न प्रेम नर्मेऽपि जने विधत्से ॥ १–२४ ॥

शेवालशालिन्युपले छलेन पातो भवेत्केवलदुःखहेतुः ॥ १–२७ ॥

उच्चासनस्थोऽपि सतां न किंचिन्नीचः स चित्तेषु चमत्करोति ।

स्वर्णाद्रिशृङ्गाग्रमधिष्ठितोऽपि काको वराकः खलु काक एव ॥१–३०॥

धत्ते समुत्तेजितशातकुम्भकुम्भप्रभां काञ्चन काञ्चनाद्रिः ॥३६॥

तरङ्गिणीनां तरवस्तटेषु ॥१-४१॥

पौराङ्गनानां प्रतिबिम्बदम्भात् ॥१-५१॥

प्रालेयशैलेन्द्रविशालशालश्रोणीसमालम्बितवारिवाहम् ॥ १-८४॥

क्वचिदपि न कदाचित् केनचित् केऽपि दृष्टाः ॥१-८५॥

सुधासुधारश्मिमृणालमालती-सरोजसारैरिव वेधसा कृतम् ।

शनैः शनैर्मौग्ध्यमतीत्य सा दधौ सुमध्यमामध्यममध्यमं वयः ॥२-३६॥

ततान तन्मध्यमतीव तानवम् ॥२-४४॥

इतीष्ट-चिन्ताचयचक्रचालितं क्वचित्र चेतोऽस्य बभूव निश्चलम् ॥२-७४॥

दधङ्गसुङ्गतुरङ्गोर्मिस्तीरगं सैन्यवारिधेः ॥३-२१॥

फलावनम्राम्रविलम्बिजम्बूजम्बीरनारङ्गलवङ्गपूगम् ।

सर्वत्र यत्र प्रतिपद्य पान्थाः पाथेयभारं पथि नोद्वहन्ति ॥९॥

को वा स्तनाग्राण्यवधूय धेनोर्दुग्धं विदग्धो ननु दोग्धि शृङ्गम् ॥४-६६॥

यामिनीव शुचिरोचिषां परा चारुचामरमचालयच्चिरम् ॥५-४१॥

यमकालंकार की छटा यद्यपि सर्वत्र छिटकी हुई है तथापि हम उसकी पूर्ण छटा दशम और एकादश सर्ग में देखते हैं। कुछ उदाहरण देखिए—

मन्दाक्षमन्दा क्षणमत्र तावन्नव्यापि न व्यापि मनोभवेन ।

रामा वरा भावनिरस्यपुष्टबध्वा नवध्यानवशा न यावत् ॥१०-३६॥

नवो घनी यो मदनायको भवेन्न बोधनीयो मदनाय को भवे ।
स सुभ्रुवामत्र तु नेत्रविभ्रमैर्विबोध्यते सत्तिलकोऽपि कानने ॥१०-३१॥
कृतार्थीकृतर्थीहितं त्वा हितत्वात्सदानं सदा नन्दिनं शाखिनं वा ।
विभालम्बिभालं सुधर्मा सुधर्मापिलक्ष्यापितख्याति सा नौति सानी ॥१०-५१॥
कलविराजिविराजितकानने नवरसालरसालसषट्पदः ।
सुरभिकेसरकेसरशोभितः प्रविससार स सारबलो मधुः ॥१०॥
प्रभावितानेकलतागतायां प्रभावितानेकलता गता या ।
प्रभावितानेकलतागतायां सा स्त्री मयो किं स्पृहणीयपुण्या ॥६६॥

कालिदास ने रघुवंश के नवम सर्ग में चतुर्थपाद-सम्बन्धी यमक के साथ द्रुतविलम्बित छन्द का अवतार कर काव्यसुधा की जो मन्दाकिनी प्रवाहित की है उसका अनुसरण माघ के षष्ठ सर्ग तथा धर्मशर्माभ्युदय के एकादश सर्ग-सम्बन्धी ऋतु-वर्णन में भी किया गया है। जिस प्रकार नाक पर पहने हुए मोती से किसी शुभ्रवदना का मुखकमल खिल उठता है उसी प्रकार एकादशसर्गगामी दो पदों के यमक से द्रुतविलम्बित छन्द खिल उठा है।

शब्द-श्लेष का चमत्कार देखिए—

कान्तारतरवो नैते कामोन्मादकृतः परम् ।
अभवन्न: प्रीतये सोऽप्युद्यन्मधुपराशयः ॥३-२३॥

यहाँ एकवचन और बहुवचन का श्लेष कवि के कौशल को प्रकट करता है तो—

उल्लसत्केसरो रक्तपलाशः कुञ्जराजितः ।
कण्ठीरव इवारामः कं न व्याकुलयत्यसौ ॥३-२५॥

यहाँ सभंग श्लेष कवि की काव्यप्रतिभा को सूचित करता है।

अधिश्रियं नीरदमाश्रयन्तीं नवाम्बुवन्तीमतिनिष्कलाभान् ।
स्वनैर्भुजङ्गान् शिखिनां दधानं प्रगल्भवेश्यामिव चन्दनालीम् ॥७-२३॥

वह पर्वत चन्दन वृक्षों की जिस पंक्ति को धारण कर रहा था वह ठीक प्रौढ़ वेश्या के समान जान पड़ती थी। क्योंकि जिस प्रकार प्रौढ़ वेश्या अधिश्रियं—अधिक सम्पत्तिवाले पुरुष का, भले ही वह नीरद—दन्तरहित—वृद्ध क्यों न हो आश्रय करती है उसी प्रकार वह चन्दन वृक्षों की पंक्ति भी अधिश्रियं—अतिशय शोभासम्पन्न नीरद—मेघ का आश्रय करती थी—अत्यन्त ऊँची थी और जिस प्रकार प्रौढ़ वेश्या अतिनिष्कलाभान्—जिनसे धनलाभ की आशा नहीं है ऐसे नवीन भुजङ्गान्—प्रेमियों को शिखिनाम्-शिखण्डियों-हिजड़ों के शब्दों द्वारा दूर कर देती है उसी प्रकार वह चन्दन वृक्षों की पंक्ति अतिनिष्कलाभान्—अतिशय कृष्ण नवीनभुजङ्गान्—सर्पों को शिखिनाम् —मयूरों के शब्दों द्वारा दूर कर रही थी।

यहाँ प्रत्येक पद का श्लेष पाठक के मन को आनन्द-विभोर कर देता है।

चित्रालंकार की सुषमा धर्मशर्माभ्युदय के १९वें सर्ग में व्याप्त है—

एकाक्षर, द्वयक्षर, चतुरक्षर, गूढचतुर्थपाद, समुद्गक, निरौष्ठ्य, अतालव्य, प्रतिलोमानुलोम पाद, गोमूत्रिकाबन्ध, मुरजबन्ध, चक्रबन्ध, अर्धभ्रम, षोडशदलकमलबन्ध आदि चित्र काव्यों से कवि की प्रतिभा का अनुमान लगाया जा सकता है। वस्तुतः शब्दालंकार की रचना करना अर्थालंकार की रचना की अपेक्षा कष्टसाध्य है। इस अलंकार की रचना में विरले ही कवि सफल हो पाते हैं। कालिदास ने चित्रालंकार को छुआ भी नहीं है। जबकि महाकवि हरिचन्द्र ने अपनी एतद्विषयक कुशलता सम्पूर्ण सर्ग में प्रदर्शित की है। इस सर्ग में न केवल शब्दालंकार-चित्रालंकार है किन्तु श्लेषालंकार भी चरम सीमा पर पहुँचा हुआ दिखाई देता है। जिस प्रकार शिशुपालवध में शिशुपाल का दूत, श्रीकृष्ण की सभा में जाकर द्वयर्थक श्लोकों के द्वारा स्तुति और निन्दा का पक्ष प्रस्तुत करता है उसी प्रकार धर्मशर्माभ्युदय के इस उन्नीसवें सर्ग में भी अंगादि देशों के राजकुमारों के द्वारा सुषेण सेनापति के पास भेजा हुआ दूत भी द्व्यर्थक श्लोकों के द्वारा निन्दा और स्तुति के पक्ष को रखता है। यह क्रम बारहवें श्लोक से लेकर बत्तीसवें श्लोक तक चला है। उदाहरण के लिए एक-दो श्लोक उद्धृत कर रहा हूँ—

> परमस्नेहनिष्ठास्ते परदानकृतोद्यमाः।
> समुन्नतिं तवेच्छन्ति प्रधनेन महापदाम् ॥१९-१८॥

अत्यधिक स्नेह रखनेवाले एवं उत्कृष्ट दान करने में उद्यमशील वे सब राजा प्रकृष्ट धन के द्वारा महान् पद—स्थान से युक्त आपकी उन्नति चाहते हैं अर्थात् आपको बहुत भारी धन देकर उत्कृष्ट पद प्रदान करेंगे (पक्ष में—वे सब राजा आपके साथ अत्यन्त अस्नेह—अप्रीति रखते हैं और पर—शत्रु को खण्ड-खण्ड करने में सदा उद्यमी रहते हैं अतः युद्ध के द्वारा आपको हर्षभाव से युक्त—मुदो हर्षस्य ततिर्मुन्नतिस्तया सहिता तां समुन्नतिम्—महापदा—महती आपत्ति की प्राप्ति हो ऐसी इच्छा रखते हैं)।

> सहसा सह सारेभैर्वीवितावाविता रणे।
> दुःसहेद्धुः सहेऽलं ये कस्य नाकस्य नार्जनम् ॥२१॥
> तेषां परमतोषेण संपदातिरसं गतः।
> स्वोन्नतिं पतितां बिभ्रत्सद्महीनो भविष्यसि ॥२२॥ (युग्म) सर्ग १९

सारभूत श्रेष्ठ हाथियों से सहित जो, मानसिक व्यथा से रहित दुःसह—कठिन युद्ध में पहुँचकर किसके लिए अनायास ही स्वर्गप्रदान नहीं करा देते हैं अर्थात् सभी को स्वर्ग प्रदान करा देते हैं उन राजाओं के परम सन्तोष से तुम सम्पत्ति के द्वारा अधिक राग को प्राप्त होओगे तथा अपनी उन्नति से सहित स्वामित्व को धारण करते हुए शीघ्र ही श्रेष्ठ पृथिवी के इन—स्वामी हो जाओगे। (पक्ष में—सारभूत श्रेष्ठ हाथियों से सहित हुए जो राजा मानसिक व्यथाओं से परिपूर्ण कठिन युद्ध में किसके लिए दुख का संचय प्रदान नहीं करते अर्थात् सभी के लिए प्रदान करते हैं, उन राजाओं को यदि तुमने अत्यन्त असन्तुष्ट रखा तो तुम्हें उनका पदाति—सेवक बनना पड़ेगा, असंगत—अपने

परिवार से पृथक् एकाकी रहना पड़ेगा, अपनी उन्नति को छोड़ देना होगा और इस तरह तुम सद्महीन—गृहरहित हो जाओगे।)

इस तरह यहाँ शब्दालंकार और अर्थालंकार के एकत्र स्थित होने से संसृष्टि अलंकार अत्यधिक सुशोभित हो रहा है।

धर्मशर्माभ्युदय का रीति-सन्दर्भ

रीति का विन्यास रस के अनुकूल परिवर्तित होता रहता है। कहीं गौड़ी, कहीं पांचाली, कहीं लाटी और कहीं वैदर्भी रीति का प्रयोग कवि को करना पड़ता है। धर्मशर्माभ्युदय में गौड़ी रीति को छोड़कर तीन रीतियों का यथावसर उपयोग किया गया है। जीवन्धरचम्पू में गौड़ी रीति का भी आश्रय लिया गया है। सामूहिक विवेचना में धर्मशर्माभ्युदय में वैदर्भीरीति मानी जा सकती है। उसका लक्षण विश्वनाथ ने इस प्रकार लिखा है—

माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णै रचना ललितात्मिका।
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भीरीतिरिष्यते॥

—सा द., परिच्छेद ९, श्लोक २-३

रुद्रट ने भी ऐसा ही कहा है—

असमस्तैकसमस्ता युक्ता दशभिर्गुणैश्च वैदर्भी।
वर्गद्वितीयबहुला स्वल्पप्राणाक्षरा च सुविधेया॥

एक-दो उदाहरण देखिए—

पुन्नागनारङ्गलवङ्गजम्बूजम्बीरलीलावनशालि यस्य।
शृङ्गं सदापारनभोविहारश्रान्ताः श्रयन्ते सवितुस्तुरङ्गाः॥१०-८॥
बहलकुङ्कुमपङ्ककृतादरा मदनमुद्रितदन्तपदाधराः।
तुहिनकालमतो घनकञ्चुका निजगदुर्जगदुत्तमभङ्गनाः॥११-५५॥

धर्मशर्माभ्युदय में गुणगरिमा

मम्मट और विश्वनाथ कविराज द्वारा चर्चित गुणों की त्रिकुटी (माधुर्य, ओज और प्रसाद) को ध्यान में रखते हुए जब धर्मशर्माभ्युदय के गुण का विचार करते हैं तो यहाँ माधुर्य गुण का विस्तार अधिक जान पड़ता है। उसका लक्षण लिखते हुए विश्वनाथ कविराज ने लिखा है—

चित्तद्रवीभावमयो ह्लादो माधुर्यमुच्यते।
संभोगे करुणे विप्रलम्भे शान्तेऽधिकं क्रमात्॥८-१॥ सा. द.

यतश्च धर्मशर्माभ्युदय का अंगी रस शान्त रस है अतः उसी के पोषक माधुर्य गुण का समावेश इसमें किया गया है। साहित्यिक क्षेत्र में गुण को रस का धर्म माना गया है। कुछ उदाहरण देखिए—

हेल्लोसरत्तुङ्गमतङ्गजावलीकपोलपालीगलितैर्मदाम्बुभिः ।
गङ्गाजलं कज्जलमञ्जुलीकृतं कलिन्दकन्योदकविभ्रमं दधौ ॥९-७५॥
अनिन्द्यदन्तद्युतिफेनिलाधरप्रवालशालिन्युरुलोचनोत्पले ।
तदास्यलावण्यसुधोदधौ बभुस्तरङ्गभङ्गा इव भङ्गुरालकाः ॥२-५१॥

धर्मशर्माभ्युदय में ध्वनि का विस्तार

काव्य में ध्वनि की बहुत भारी महिमा है। ध्वन्यालोककार ने 'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैः समाम्नातपूर्वः' इत्यादि शब्दों के द्वारा ध्वनि को काव्य की आत्मा माना है। मम्मट तथा विश्वनाथ कविराज आदि ने ध्वनि को उत्तम काव्य माना है। जहाँ व्यंग्य अर्थ, वाच्य की अपेक्षा अधिक चमत्कारी होता है वही ध्वनि मानी जाती है, फलतः ध्वनि के लक्षणामूलक और अभिधामूलक के भेद से दो भेद माने जाते हैं। लक्षणामूलक को अविवक्षितवाच्य और अभिधामूलक को विवक्षितान्यपरवाच्य कहा गया है। अविवक्षितवाच्य को अर्थान्तरसंक्रमित और अत्यन्ततिरस्कृत के भेद से दो प्रकार का माना गया है। विवक्षितान्यपरवाच्य के असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य और संलक्ष्यक्रमव्यंग्य की अपेक्षा दो भेद माने गये हैं। असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य रसभावादिरूप होता है तथा गणना में उसका एक ही भेद लिया जाता है। संलक्ष्यक्रमव्यंग्य के शब्दशक्तिसमुत्पन्न, अर्थशक्ति-समुत्पन्न और उभयशक्तिसमुत्पन्न के भेद से तीन भेद कहे गये हैं। शब्दशक्तिसमुत्पन्न के वस्तु और अलंकार की अपेक्षा दो भेद हैं। अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के स्वतःसम्भवी वस्तु और अलंकार, कविप्रौढोक्तिसिद्धवस्तु और अलंकार तथा कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु और अलंकार इस प्रकार ६ और इन छह से प्रकट होनेवाली वस्तु और अलंकार व्यंग्य की अपेक्षा १२ भेद होते हैं। उभयशक्ति-समुत्पन्न का एक ही भेद होता है। इस तरह संक्षेप से ध्वनि के अठारह भेद होते हैं।

धर्मशर्माभ्युदय में ध्वनि के ये भेद यत्र-तत्र प्रस्फुटित हुए हैं। जैसे—

अहो खलस्यापि महोपयोगः स्नेहद्रुहो यत्परिशीलनेन ।
आकर्णमापूरितपात्रमेताः क्षीरं क्षरन्त्यक्षतमेव गावः ॥२६॥ सर्ग १

—बड़े आश्चर्य की बात है कि स्नेहहीन खल का—दुर्जन का भी बड़ा उपयोग होता है क्योंकि उसके संसर्ग से यह रचनाएँ बिना किसी तोड़ के पूर्ण आनन्द प्रदान करती हैं। यहाँ खल, स्नेह तथा गो शब्द के श्लेष रूप होने से दूसरा अप्रकृत अर्थ यह प्रकट होता है—

—कैसा आश्चर्य है कि तैलरहित खली का भी बड़ा उपयोग होता है क्योंकि उसके खिलाने से यह गायें बिना किसी आघात के बरतन भर-भरकर दूध देती हैं।

यहाँ 'गावो गाव इव' कवियों की वाणी गायों के समान है, 'खलः खल इव' दुर्जन खल के समान है, 'स्नेहः स्नेह इव' प्रेम तैल के समान है तथा 'क्षीरं स्वान्तः-सुखमिव' स्वान्तःसुख दूध के समान है इस प्रकार उपमालंकार व्यंग्य है।

स्वर्णाद्रिशृङ्गाग्रमधिष्ठितोऽपि काको वराकः खलु काक एव ।।३०।। सर्ग १

यहाँ द्वितीय काक शब्द 'नयने तस्यैव नयने' अथवा 'करभः करभः' के समान अर्थान्तरसंक्रमित हो गया है जिससे वह मात्र काक अर्थ का वाचक न रहकर नीच का वाचक हो गया है।

अनेकपद्माप्सरसः समन्तायस्मिन्नसंख्यातहिरण्यगर्भाः ।
अनन्तपीताम्बरधामरम्या ग्रामा जयन्ति त्रिदिवप्रदेशान् ।।४४।। सर्ग १

यहाँ स्वर्ग में एक पद्मा नाम की अप्सरा है जबकि ग्रामों में अनेक हैं, स्वर्ग में एक हिरण्यगर्भ—ब्रह्मा है जबकि गाँवों में अनेक हैं, और स्वर्ग एक ही पीताम्बर के धाम से रमणीय है जबकि ग्राम अनेक पीताम्बरों के धाम से रमणीय हैं। इस प्रकार श्लेषोपमा से व्यतिरेकालंकार व्यंग्य है।

'हर्म्यावली वीजयतीव मित्रम्' ।।७७।।

यहाँ 'हर्म्यावली प्रेमसंभृतनायिकेव' इस तरह उपमालंकार व्यंग्य है।

कुलेऽपि किं तात तवेदृशी स्थितिर्यदात्मजा श्रीर्न सभास्वपि त्यजेत् ।
तदङ्कलीलामिति कीर्तिरीर्ष्यया ययावुपालब्धुमिवास्य वारिधिम् ।।५।। सर्ग २

यहाँ 'तवापि मर्यादाशालिनः कुले किम् ईदृशी स्थितिः'—अन्य कुल में ऐसी विडम्बनापूर्ण रीति भले ही हो पर आप तो मर्यादाशाली हैं, आपके कुल में भी ऐसी विडम्बना है, यह 'अपि' शब्द के द्वारा द्योतित होता है। इसी प्रकार 'सभास्वपि' किसी अल्पजन-सम्पर्क के स्थान में भले ही सम्भव हो परन्तु सभा में और एक सभा में नहीं किन्तु कई सभाओं में ऐसी विडम्बना श्री करती है यह बहुवचनान्त प्रयोग से द्योतित होता है।

निपीतमातङ्गघटाग्रशोणिता हठाग्रगूढा सुरतार्थिभिर्भटैः ।
किल प्रतापानलमासदस्सिस्समृद्धमस्यासिलतात्मशुद्धये ।।१५।। सर्ग २

यहाँ विशेषणों की समानता से 'असिलता' में स्त्री की उपमा सिद्ध है।

परिष्वजति चन्दनावलिरियं भुजङ्गान्यत-
स्ततोऽतिगहनं स्त्रियश्चरितमत्र वन्दामहे ।।३५।। सर्ग १०

यहाँ 'चन्दनावलि' में किसी कुलटा का सादृश्य व्यंग्य है।

अहमिह गुरुलज्जया हतोऽस्मि भ्रमर विवेकनिधिस्त्वमेक एव ।
मुखमनु सुमुखी करौ धुनाना यदुपजनं भवता मुहुश्चुचुम्बे ।।३९।। सर्ग १३

यहाँ—

चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः ।
करं व्याधुन्वन्त्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं
वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती ।।

—अभिज्ञान शाकुन्तल

—के समान 'दूरः' इति, न पुनः दुर्गं 'यातनाम्' पद तथा इन् प्रकृति के प्रयोग से तथा 'एव' और 'मुहुः' इन अव्यय तथा निपातों से विशेष चमत्कार प्रकट किया गया है।

जीवन्धरचम्पू की काव्यकला

जीवन्धरचम्पू में कवि ने वर्ण्य विषयों की कलात्मक सज्जा प्रस्तुत की है। कवि, स्त्री-पुरुषों के नख-शिख का वर्णन करता हुआ जहाँ उनके बाह्य सौन्दर्य का वर्णन करता है वहाँ उनकी अभ्यन्तर पवित्रता का भी वर्णन करता है। 'राजा सत्यन्धर का पतन उनकी विषयासक्ति का परिणाम है' यह बतलाकर भी कवि उनकी श्रद्धा और धार्मिकता के विवेक को अन्त तक जागृत रखता है। युद्ध के प्रांगण में भी वह सल्लेखना—समाधिमरण धारण कर स्वर्ग प्राप्त करता है।

जीवन्धरचम्पू, गद्यपद्यात्मक रचना है। बाण[1] ने श्रीहर्षचरित में आदर्श गद्य के जिन गुणों का वर्णन किया है वे नवीन अर्थ, अग्राम्य जाति, स्पष्टश्लेष, स्फुटरस और अक्षरों की विकटबन्धता, सबके सब जीवन्धरचम्पू के गद्य में अवतीर्ण हैं। इसके पद्य भी कोमलकान्तपदावली, नयी-नयी कल्पनाओं और मनोहर अर्थ से समुद्भासित हैं। इसके गद्य और पद्य—दोनों ही श्लेष, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, परिसंख्या, विरोधाभास तथा भ्रान्तिमान् आदि अलंकारों से अलंकृत हैं। प्रारम्भ में ही श्लेषानुप्राणित रूपकालंकार की छटा द्रष्टव्य है।

श्रीपादाक्रान्तलोकः परमहिमकरोऽनन्तसौख्यप्रबोध-
स्तापध्वान्तापनोदप्रथितनिजरुचिः सरसमूहाधिनाथः।
श्रीमान्दिव्यध्वनिप्रोल्लसदखिलकलावल्लभो मन्मनीषा-
नीलाब्जिन्या विकासं वितरतु जिनपो धीरचन्द्रप्रभेशः ॥२॥

जिन्होंने अपने शोभासम्पन्न चरणों के द्वारा समस्त जगत् को आक्रान्त किया है, (पक्ष में जिसकी शोभायमान किरणें समस्त जगत् में व्याप्त हैं), जो श्रेष्ठ महिमा को करनेवाले हैं, (पक्ष में अतिशय शीतलता को करनेवाले हैं), जिन्हें अनन्तसुख और अनन्तज्ञान प्राप्त हुआ है, (पक्ष में जिससे जीवों को अपरिमित सुख का बोध होता है) जिनकी कान्ति अथवा श्रद्धा संताप और अज्ञानान्धकार को नष्ट करने में प्रसिद्ध है, (पक्ष में जिसकी निज की कान्ति गरमी और अन्धकार दोनों को नष्ट करने में प्रसिद्ध है), जो अनन्तचतुष्टयरूप लक्ष्मी से सहित हैं, (पक्ष में अनुपम शोभा से सम्पन्न है) और जो दीव्यध्वनि से सुशोभित होनेवाली समस्त कलाओं के स्वामी हैं, (पक्ष में जो आकाशमार्ग में सुशोभित होनेवाली समस्त कलाओं से प्रिय है) ऐसे धीरवीर चन्द्रप्रभ-जिनेन्द्र-रूपी चन्द्रमा हमारी बुद्धिरूपी नीलकमलिनी का विकास करें।

---

१. नवोऽर्थो जातिरग्राम्या श्लेषः स्पष्टः स्फुटो रसः।
विकटाक्षरबन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुर्लभम् ॥ (हर्षचरित)

विरोधाभास

हरीशपूज्योऽप्यहरीशपूज्यः सुरेशवन्द्योऽप्यसुरेशवन्द्यः ।
अनङ्गरम्योऽपि शुभाङ्गरम्यः श्रीशान्तिनाथः शुभमातनोतु ॥३॥

जो हरीश-पूज्य होकर भी अहरीश-पूज्य हैं (पक्ष में जो हरि-विष्णु और ईश-रुद्र के द्वारा पूज्य होकर भी दिन के स्वामी सूर्य, उपलक्षण से ज्योतिषी देवों के द्वारा पूज्य हैं), सुरेशवन्द्य होकर भी असुरेशवन्द्य हैं (पक्ष में इन्द्रों के द्वारा वन्दनीय होकर भी भवन-वासी देवों के द्वारा वन्दनीय हैं) और जो अनंगरम्य—शरीर से सुन्दर न होकर भी शुभांग रम्य—शुभ शरीर से सुन्दर हैं (पक्ष में कामदेव के समान सुन्दर होकर भी शुभशरीर परमौदारिक शरीर से सुन्दर हैं), ऐसे शान्तिनाथ भगवान् तुम सबका भला करें।

श्लेषोपमा और विरोधाभास का सुन्दर संमिश्रण

यत्र किल संक्रन्दन इवानन्दितसुमनोगणः, अन्तक इव महिषीसमधिष्ठितः, वरुण इवाशान्तरक्षणः, पवन इव पद्मामोदरुचिरः, हर इव महासेनानुयातः, नारायण इव वराहवपुष्कलोदयोद्धृतधरणीवलयः सरोजसंभव इव सकलसारस्वतामरसभानुभूतिः भद्रगुणोऽप्यनागो, विबुधपतिरपि कुलीनः, सुवर्णधरोऽप्यनादित्यागः, सरसार्थपोषकवचनोऽपि नरसार्थपोषकवचनः, आगमाल्याश्रितोऽपि नागमाल्याश्रितः । —पृ. ८

श्लेष से अनुप्राणित परिसंख्यालंकार का चमत्कार

यस्मिञ्छासति महीमण्डलं मदमालिन्यादियोगो मत्तदन्तावलेषु, परागः कुसुमनिकरेषु, नीचसेवना निम्नगासु, आर्तवत्त्वं फलितवनराजिषु, करपीडनं नितम्बिनीकुचकुम्भेषु, विविधार्थचिन्ता व्याख्यानकलासु, नास्तिवादो नारीमध्यप्रदेशेषु, गुणभङ्गो युद्धेषु, खलसंगः कलमकुलेषु, अपाङ्गता कुरङ्गाक्षीलोचनतरङ्गेषु, मलिनमुखता मानिनीस्तनमुकुलेषु, आगमकुटिलता भुजङ्गेषु, वाजिनानुरागः शूलपाणौ, सोपसर्गता धातुषु, दरिद्रभावः शातोदरीणामुदरेषु, द्विजिह्वता फणिषु, पलाशिता विपिनतरुषण्डेषु, अधररागः सुदतीमुखकमलेषु, तीक्ष्णता कोविदबुद्धिषु, कठिनता कान्ताकुचेषु, नीचता नाभिगह्वरेषु, विरोधः पञ्जरेषु, अपवादिता निरोष्ठ्यकाव्येषु, घनयोगभङ्गो मर्षावसानेषु कलिकोपचारः कामसंतापेषु, कलहंसकुलं क्रीडासरसीषु परमेवं व्यवस्थितम् । —पृ. ९

पद्य में भी परिसंख्या का चमत्कार देखिए—

यस्मिञ्छासति मेदिनीं नरपतौ सद्वृत्तमुक्तात्मता
हारेष्वेव गुणाकरेषु समभूच्छिद्राणि चैवान्ततः ।
लौल्यादन्यकलत्रसंगमरुचिः काञ्चीकलापे परं
संप्राप्तः श्रवणेषु खञ्जनदृशां नेत्रेषु पारिप्लवः ॥२८॥ —पृ. ११४

उत्प्रेक्षा और भ्रान्तिमान् अलंकार की अपूर्व निष्पत्ति

यस्य च वदनतटे कोपकुटिलितभ्रुकुटिघटितेऽशरणतया वनं प्रति धावमानानां प्रतिपक्षपार्थिवानां वृक्षराजिरपि वातान्दोलितशाखाहस्तेन पतत्रिविरुतेन च राजविरोधिनोऽत्र न प्रवेष्टव्या इति निषेधं कुर्वाणा तामतिक्रामत्सु तेषु राजापराधभयेनेव प्रवालकम्पमाना विशङ्ककण्टकेन केशेषु कर्षतीति शंकामङ्कुरयामास। यस्य प्रतिपक्षलोलाक्षीणां काननवीथिकादम्बिनीशम्पायमानतनुसंपदां वदनेषु वारिजभ्रान्त्या पपात हंसमाला, तां कराङ्गुलीभिर्निवारयन्तीनां तासां करपल्लवानि चकर्षुः कीरशावकाः, हा हेति प्रलपन्तीनां कोकिलभ्रान्तिभाविताः शिरस्सु कुट्टायितं कुर्वन्ति स्म करटाः, ततश्चलितवेणीनामेणाक्षीणां नागभ्रान्त्या कर्षन्ति स्म वेणीं मयूराः, ततो दीर्घ-निःश्वासमालम्बतीनां तद्गन्धलुब्धमुग्धमधुकरा मदान्धाः समापतन्तः पश्यन्तोऽपि नासाचम्पकं न निवृत्ता बभूवुः, गुरुतरनितम्बकुचकुम्भभारानतानां वेधसा स्तनकलशसृष्टं काठिन्यं पादपद्मेषु वाञ्छन्तीनां धावनोत्सुकमनसां चलितपादयुगलप्रसृतनखचन्द्रचन्द्रिकासु संमिलिताश्चकोरा उपरुन्धन्ति स्म मार्गम्, ततो भुवि निपत्य लुठन्तीनां सुवर्णसवर्णमुरोजयुगलं पक्वतालफलभ्रान्त्या कदर्थयन्ति वानराः, इति राजविरोधिनामरण्यमपि न शरण्यम् ॥ पृ. ११

अतिशयोक्ति अलंकार की एक छटा

यस्य प्रतापतपनेन चतुःप्रदिक्षु निःशोषिताः किल पयोनिधयः क्षणेन।
प्रत्यर्थिभूपसुदतीनयनाम्बुपूरैः संपूरिताः पुनरतीरय तटं ववल्गुः ॥२५॥ पृ. १२

श्लेषोपमा का एक सुन्दर उदाहरण देखिए

जहाँ एक-एक पद के चार-चार अर्थ किये गये हैं—

अस्याः पादयुगं गलश्च वदनं किञ्जाब्जसाम्यं दधुः
कान्तिः पाणियुगं दृशौ च विदधुः पद्माधिकोल्लासताम्।
वेणी मन्दमतिः कुचौ च वत हा सन्नागसंकाशतां
स्वीचक्रुः सुदृशोऽङ्गसौष्ठवकला दूरे गिरां राजते ॥२८॥ पृ. १३

यहाँ 'पद्माधिकोल्लासताम्' और 'सन्नागसंकाशतां' के श्लेषविशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं।

उत्प्रेक्षा की उड़ान का एक नमूना

देवि त्वदीयमुखपङ्कजनिर्जितश्री-
श्चन्द्रो विलोचनजितं वधदेणमङ्के।
अस्ताद्रिदुर्गसरणिः किल मन्दतेजा
द्राग्वारुणीभजनतश्च पतिष्यतीव ॥४४॥ पृ. १९

संशयालंकार का एक उदाहरण

हारः किं वा सकलनयनाहार एवाम्बुजाक्ष्या
मद्वा यशोरुहगिरिपतन्निर्झरस्यैव पूरः ।
किं वा तस्याः स्तनमुकुलयोः कोमलश्रीमृणालो
भातिस्मैवं विषयवशगैः स्त्रीजनैः प्रेक्ष्यमाणः ॥४३॥ पृ. १०५

श्लेष और व्यतिरेकालंकार की छटा देखिए

'कुवलयाह्लादसंदायकोऽपि निखिलममहीभृन्महितपादोऽपि भवानदोषाकरतया न सुधाकरः, पद्मोल्लासनपटुरपि सन्मार्गाश्रितोऽपि सद्विरोधाभावेन न प्रभाकरः, सुमनोवृन्दवन्दितोऽपि क्षमाभृदनुकूलतया न पुरन्दरः, कुशाग्रनिकाशमतिरपि मौढ्यविरहेण न सुरगुरुः'—पृ. १००

गुण

संक्षेप में माधुर्य, ओज और प्रसाद ये तीन गुण माने गये हैं। गुण रस का धर्म होता है अतः रस के अनुसार ही इसमें गुणों का संकलन किया है। जहां शृंगार आदि रसों का वर्णन है वहां माधुर्य गुण को प्रश्रय मिला है। जहां शान्त तथा हास्य आदि का अवसर है वहां प्रसाद गुण का वर्णन है और जहां वीर रस का ताण्डव है वहां ओजगुण का प्रवाह प्रवाहित किया गया है। इस प्रकार प्रबन्ध की अपेक्षा इसमें समस्त गुणों का विकास हुआ है।

माधुर्य गुण का एक दृष्टान्त

मदनद्रुम-मञ्जुमञ्जरीभिः स्फुटलावण्यपयोधिवीचिकाभिः ।
महितं वरवारकामिनीभिर्बहुसौन्दर्यतरङ्गिणीझरीभिः ॥२४॥ पृ. ६२

ओज गुण का उदाहरण

वीर्यश्रीप्रथमावतारसरणौ तस्मिन्कुरूणां पतौ
बाणान्मुञ्चति हस्तनर्तितधनुर्वल्लीसमारोपिताम् ।
दोर्णक्षत्रभटच्छटाभिरभितः संभिद्यमानान्तरं
भास्वद्बिम्बमहो बभार गगनश्रेणीमधुच्छत्रताम् ॥१०८॥ पृ. २०५

प्रसाद गुण का एक नमूना

ममेयं सुदङ्गी मम तनय एष प्रभुरधी-
रिमे मे पूर्वार्था इति विगतबुद्धिर्नरपशुः ।
अणुप्रख्ये सौख्ये विहितरुचिरारम्भवशगः
प्रयाति प्रायेण क्षितिधरनिभं दुःखमधिकम् ॥२७॥ पृ. २२४

रीति

रसों के अनुसार इस ग्रन्थ में वैदर्भी, लाटी, पांचाली और गौड़ी इन चारों रीतियों का अच्छा प्रयोग हुआ है।

इस तरह जीवन्धरचम्पू की काव्य-कला साहित्यिक क्षेत्र में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानी गयी है।

जीवन्धरचम्पू का उत्प्रेक्षालोक

उत्प्रेक्षालंकार से कवि की कवित्व-शक्ति का अनुमान लगाया जाता है। मात्र इतिवृत्त लिख देने से कवि का कर्तव्य पूरा नहीं होता क्योंकि वह तो इतिहास आदि से भी सिद्ध है। कवि का कर्तव्य विच्छित्तिपूर्ण उक्तियों से ही पूर्ण होता है। विच्छित्ति के प्रकट करने में उत्प्रेक्षा का सर्वप्रथम स्थान है। देखिए जीवन्धरचम्पू का सन्दर्भ—

'चन्द्रमा अस्तोन्मुख है और प्रातःकाल की मन्द-मन्द वायु चल रही है इस समय विजयारानी ने तीन स्वप्न देखे।'

इस अल्पतम सन्दर्भ में कवि की कल्पनाएँ कितनी साकार हुई हैं यह द्रष्टव्य है।

'अथ कदाचिदवसन्नायां निशायां——वहति प्राभातिके मारुते'—पृ. १७–१८

भाव यह है—

किसी समय जब रात्रि समाप्त होने को आयी तब चन्द्रमा पश्चिम दिशा की ओर ढल गया। वह चन्द्रमा ऐसा जान पड़ता था मानो पश्चिम दिशा रूपी स्त्री की काजल से सुशोभित चाँदी की डिबिया ही हो, अथवा सूर्य कहीं देख न ले, इस कारण भय से भागती हुई रात्रिरूपी पुंश्चली स्त्री का गिरा हुआ मानो कर्णाभरण ही हो, अथवा आकाशरूपी हाथी के गण्डस्थल से निकले हुए मोतियों के रखने का मानो पात्र ही हो, अथवा पश्चिम समुद्र से जल भरने के लिए रात्रिरूपी स्त्री के द्वारा अपने हाथ में लिया हुआ स्फटिक का घड़ा ही हो, अथवा पश्चिम दिशा सम्बन्धी दिग्गज के शुण्डादण्ड से गिरा हुआ मानो कीचड़सहित मृणाल ही हो, अथवा कामदेव के बाणों को तीक्ष्ण करनेवाला मानो शाण का पाषाण ही हो, अथवा पश्चिम दिशारूपी स्त्री की मानो फूलों से बनी हुई गेंद ही हो, अथवा अस्ताचलरूपी हाथी के गण्डस्थल पर रखा हुआ मानो कामदेव का वज्रमय ढाल ही हो।

वह चन्द्रमा पश्चिम की ओर ढलकर अस्ताचल के शिखर पर आरूढ़ हो गया था इसलिए ऐसा जान पड़ता था मानो वीरजिनेन्द्र की क्रोधाग्नि से जिसका शरीर जल गया है ऐसे कामदेव को कलंक के बहाने अपनी गोद में रखकर उसे जीवित करने की इच्छा से संजीवन औषध ही खोज रहा हो और आकाशरूपी वन में खोजने के बाद अब उसी उद्देश्य से अस्ताचल के शिखर पर आरूढ़ हुआ हो।

उस समय तारागण भी विरल-विरल रह गये थे और सन्ध्या के कारण लालिमा को प्राप्त हुए अन्धकाररूपी कुंकुम के द्रव से चिह्नित आकाशरूपी पलंग पर रात्रि तथा

चन्द्रमारूपी नायक-नायिका के रतिसम्मर्द के कारण बिखरे फूलों के समान म्लानता को प्राप्त हो गये थे। रात्रि के समय चमकनेवाली ओषधियाँ अपने तेज से रहित हो गयी थीं सो ऐसी जान पड़ती थीं मानो अपने पति—चन्द्रमा को श्रीहीन देखकर ही उन्होंने अपना तेज छोड़ दिया हो।

चन्द्रमा लक्ष्मी से रहित हो गया था जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो इस कुमुदों के बन्धु ने—पक्षकार ने हमारी वसतिस्वरूप कमलों के समूह को विध्वस्त किया है—क्षति पहुँचायी है, इस क्रोध से ही मानो लक्ष्मी चन्द्रमा से निकलकर अन्यत्र चली गयी थी। कुमुदिनियों में से काले-काले भ्रमर निकल रहे थे जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो कुमुदिनी-रूपी स्त्रियाँ उन निकलते हुए भ्रमरों के बहाने अपने पति की विरहानल सम्बन्धी धूम की रेखा को ही प्रकट कर रही हों।

इसके सिवाय उस समय प्रातःकाल की ठण्डी हवा चल रही थी जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो स्त्री-पुरुषों के सम्भोग के समय जो पसीना आ रहा था उससे उनकी कामाग्नि बुझनेवाली थी सो उसे वह प्रातःकाल की हवा खिले हुए कमलों के पराग के कणों के द्वारा मानो प्रज्वलित कर रही हो।

इसी तरह दावानल के समय धूमपटल उठकर आकाश में व्याप्त हो गया है इस सन्दर्भ में कवि की उत्प्रेक्षा देखिए कितनी सुस्पष्ट है—

असूर्यंपश्येषु प्रचुरतरुषण्डान्तरतल—
प्रदेशेष्वत्यन्तं यदुषितमभूदन्धतमसम्।
तदग्नित्रासेनोच्चलितमिव तदा धूमपटलं
तमालस्तोमाभं गगनतलमालिङ्ग्य ववृधे ॥१८॥ पृ. ९७

तमाल वृक्षों के समान कान्तिवाला जो धुएँ का पटल आकाश-तल का आलिंगन कर सब ओर बढ़ रहा था वह ऐसा जान पड़ता था मानो सूर्य के दर्शन से रहित सघन वृक्ष-समूह के तल-प्रदेशों में जो सघन अन्धकार चिरकाल से रह रहा था, अग्नि के भय से वही ऊपर की ओर उठ रहा था।

धर्मशर्माभ्युदय का रस-परिपाक

शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं तो रस उसकी आत्मा है। जिस प्रकार आत्मा के बिना शरीर निष्प्राण हो जाता है उसी प्रकार रस के बिना काव्य निष्प्राण हो जाता है। इस दृष्टि से धर्मशर्माभ्युदय के रस का विचार करना आवश्यक है। महाकाव्य में शृंगार, वीर और शान्त—इन तीन रसों में से कोई एक अंगी रस होता है और शेष अंगरस होते हैं। काव्य का समारोप जिस रस में होता है वह अंगी रस कहलाता है और अवान्तर प्रकरणों में आये हुए रस अंग रस कहलाते हैं। धर्मशर्माभ्युदय में धर्मनाथ तीर्थंकर का पावन चरित वर्णित है। तीर्थंकर का जन्म संसार के प्राणियों को सांसारिक दुःखों से निकालकर निर्माण के वास्तविक सुख की प्राप्ति कराने के लिए

होता है। अतः वे स्वयं शान्त रस को अंगीकृत करते हैं और दूसरों के लिए भी उसी का उपदेश देते हैं।

भगवान् धर्मनाथ एक बार स्फटिक निर्मित भवन की छत पर बैठे थे। चन्द्रमा की उज्ज्वल चाँदनी सब ओर फैल रही थी। उस चाँदनी में स्फटिक निर्मित भवन अदृश्य जैसा हो गया था इसलिए भगवान् की गोष्ठी आकाश में स्थित इन्द्र की सभा के समान जान पड़ती थी। उसी समय तारामण्डल से उल्कापात हुआ। एक रेखाकार ज्योति तारामण्डल से निकल कर आकाश में ही विलीन हो गयी। उसे देख, भगवान् के मन में यह विचार हिलोरें लेने लगा कि जिस प्रकार यह उल्का देखते-देखते नष्ट हो गयी उसी प्रकार संसार के समस्त पदार्थ नष्ट हो जाने वाले हैं। न मैं रहूँगा और न मेरा यह राज्य परिवार रहेगा इसलिए समय रहते सचेत होकर आत्मकल्याण करना चाहिए। भगवान् के हृदय में उमड़ने वाले इस वैराग्य का वर्णन कवि ने धर्मशर्माभ्युदय के बीसवें सर्ग के ९–२३ श्लोकों में बहुत ही सुन्दर ढंग से किया है। उस सन्दर्भ के कुछ श्लोक देखिए—

तामालोक्याकाशदेशादुदञ्चज्ज्योतिर्ज्वालादीपिताशां पतन्तीम्।
इत्थं चित्ते प्राप्तनिर्वेदखेदो मीलच्चक्षुश्चिन्तयामास देवः ॥९॥

आकाश से पड़ती तथा निकलती हुई किरणों की ज्वालाओं से दिशाओं को प्रकाशित करती, उस उल्का को देख जिन्हें चित्त में बहुत ही निर्वेद और खेद उत्पन्न हुआ है ऐसे धर्मनाथ स्वामी नेत्र बन्द कर इस प्रकार चिन्तवन करने लगे।

देवः कश्चिज्ज्योतिषां मध्यवर्ती दुर्गे तिष्ठन्नित्यमेषोऽन्तरिक्षे।
यातो दैवादीदृशीं चेदवस्थां कः स्याल्लोके निर्व्यपायस्तदन्यः ॥१०॥

जब ज्योतिषी देवों का मध्यवर्ती तथा आकाश-रूपी दुर्ग में निरन्तर रहनेवाला यह कोई देव, दैववश इस अवस्था को प्राप्त हुआ है तब संसार में दूसरा कौन विनाशहीन हो सकता है?

यत्संसक्तं प्राणिनां क्षीरनीरन्यायेनोच्चैरङ्गमभ्यन्तरङ्गम्।
आयुश्छेदे याति चेत्तत्तदास्था का बाह्येषु स्त्रीतनूजादिकेषु ॥१२॥

प्राणियों का जो शरीर क्षीरनीरन्याय से मिलकर अत्यन्त अन्तरंग हो रहा है वह भी जब आयु कर्म का छेद होने से चला जाता है तब अत्यन्त बाह्य स्त्री-पुत्रादिक में क्या आस्था है?

विण्मूत्रादेर्धाम मध्यं वधूनां तन्निःस्यन्दद्वारमेवेन्द्रियाणि।
श्रोणीबिम्बं स्थूलमांसास्थिकूटं कामान्धानां प्रीतये धिक् तथापि ॥१७॥

स्त्रियों का मध्यभाग मल मूत्र आदि का स्थान है, उनकी इन्द्रियाँ मल-मूत्रादि के निकलने का द्वार हैं और उनका नितम्ब-बिम्ब स्थूल मांस तथा हड्डियों का समूह है फिर भी धिक्कार है कि वह कामान्ध मनुष्यों की प्रीति के लिए होता है।

प्रत्यावृत्तिर्न व्यतीतस्य नूनं सौख्यस्यास्ति भ्रान्तिरागामिनोऽपि ।[1]
तत्तत्कालोपस्थितस्यैव हेतोर्बध्नात्यास्था संसृतौ को विदग्धः ॥१९॥

जो सुख व्यतीत हो चुकता है वह लौटकर नहीं आता और आगामी सुख की केवल भ्रान्ति ही है अतः मात्र वर्तमान काल में उपस्थित सुख के लिए कौन चतुर मनुष्य संसार में आस्था—आदर बुद्धि करेगा ?

बालं वर्षीयांसमाढ्यं दरिद्रं धीरं भीरुं सज्जनं दुर्जनं च ।
अश्नात्येकः कृष्णवर्त्मेव कक्षं सर्वग्रासी निर्विवेकः कृतान्तः ॥२१॥

जिस प्रकार अग्नि समस्त वन को जला देती है उसी प्रकार सबको ग्रसने वाला यह विवेकहीन यम, बालक, वृद्ध, धनाढ्य, दरिद्र, धीर, कायर, सज्जन और दुर्जन—सभी को नष्ट कर देता है ।

वित्तं गेहादङ्गमुच्चैश्चितायाग्नेर्व्यावर्तन्ते बान्धवाश्च श्मशानात् ।
एकं नानाजन्मवल्लीनिदानं कर्म द्वेधा याति जीवेन सार्धम् ॥२२॥

धन घर से, शरीर ऊँची चिता की अग्नि से और भाई-बान्धव श्मशान से लौट जाते हैं, केवल नाना जन्मरूपी लताओं का कारण पुण्य पाप रूप द्विविध कर्म ही जीव के साथ जाता है ।

छेत्तुं मूलात्कर्मपाशानशेषान्सद्यस्तीक्ष्णैस्तद्यतिष्ये तपोभिः ।
को वा कारागारबद्धं प्रबुद्धः शुद्धात्मानं वीक्ष्य कुर्यादुपेक्षाम् ॥२३॥

इसलिए मैं तीक्ष्ण तपश्चरणों के द्वारा कर्म रूपी समस्त पापों को जड़मूल से काटने का यत्न करूँगा । भला, ऐसा कौन बुद्धिमान् होगा जो अपने शुद्ध आत्मा को कारागार में रुका हुआ देखकर भी उसकी उपेक्षा करेगा ?

ब्रह्म स्वर्ग से आये हुए देवर्षियों—लौकान्तिक देवों ने भी भगवान् की इस वैराग्यपूर्ण विचार-सन्तति का समर्थन किया, अन्ततः सालवन में उन्होंने पंचमुष्टियों से केशलोंच कर दिगम्बर दीक्षा धारण कर ली । इस तरह हम देखते हैं कि धर्मशर्माभ्युदय में अंगी रस के रूप में शान्त रस का उत्तम परिपाक हुआ है ।

शान्त रस का एक सन्दर्भ चतुर्थ सर्ग (४४–६०) में राजा दशरथ के वैराग्य-चिन्तन में आया है । वे चन्द्रग्रहण को देख संसार शरीर और भोगों से विरक्त हुए थे ।

अंग रसों में शृंगाररस का परिपाक भी धर्मशर्माभ्युदय में उच्च-कोटि का हुआ है । जिस प्रकार वर्षा का पानी यत्र तत्र प्रवाहित होता हुआ अन्ततः समुद्र में एकत्रित होता है उसी प्रकार शृंगार रस भी पुष्पावचय, जलक्रीडा तथा पानगोष्ठी में प्रवाहित होता हुआ पन्द्रहवें सर्ग के सुरत-वर्णन में एकत्रित हुआ है । कवि ने यहाँ सम्भोग

---

१. यदतीतमतीतमेव तद् सुखभागामिनि को विनिश्चयः ।
सद्युपैति वृथा मत भ्रमं पुरुषस्तत्क्षण-सौख्यमोहितः ॥७०॥—चन्द्रप्रभचरित, प्रथम सर्ग

शृंगार का विस्तृत वर्णन करते हुए दम्पती के मनोभावों का सुन्दर चित्रण प्रस्तुत किया है। विप्रलम्भ शृंगार के प्रमुख प्रकरण यद्यपि धर्मशर्माभ्युदय में नहीं हैं तथापि पुष्पावचय के समय एक रूठी हुई नायिका को अनुकूल करने के लिए सखियों द्वारा नायक की विरहावस्था का जो चित्रण किया गया है वह विप्रलम्भ शृंगार के वर्णन की कमी को कुछ अंशों में पूर्ण कर देता है। देखिए, सखी नायिका से क्या कहती है—

हे तन्वि! तेरी भृकुटी रूपी लता बार-बार ऊपर उठ रही है और ओष्ठ रूप पल्लव भी काँप रहा है इससे जान पड़ता है कि तेरे हृदय में मुसकान रूपी पुष्प को नष्ट करनेवाला मान रूपी पवन बढ़ रहा है।

हे मृगनयनि! इस समय, जो कि संसार के समस्त प्राणियों को आनन्द करनेवाला है, तूने व्यर्थ ही कलह कर रखी। मानवती स्त्रियों को मान सदा सुलभ रहता है परन्तु यह ऋतुओं का क्रम दुर्लभ होता है।

पति से किसी अन्य स्त्री के विषय में अपराध बन पड़ा है—इस निर्हेतुक बात से ही तेरा मन व्याकुल हो रहा है। पर हे भामिनि! यह निश्चित समझ कि परस्पर सम्मति को प्राप्त हुआ प्रेम अस्थान में ही भय देखने लगता है।

अन्य स्त्री में प्रेम करनेवाले पति में जो तूने अपराध का चिह्न देखा है वह तेरा निरा भ्रम है क्योंकि जो स्नेह से तुझे सब ओर देखा करता है वह तेरे विरुद्ध आचरण कैसे कर सकता है?

जिस प्रकार स्नेह—तेल से भरा हुआ दीपक, चन्द्रमा की शोभा को दूर करनेवाली प्रातःकाल की सुषमा से सफेदी को प्राप्त हो जाता है—निष्प्रभ हो जाता है उसी प्रकार स्नेह—प्रेम से भरा हुआ तेरा वल्लभ भी चन्द्रमा की शोभा को तिरस्कृत करनेवाली तुझ दूरवर्तिनी से सफ़ेद हो रहा है—विरह से पाण्डुवर्ण हो रहा है।

उसने अपना चित्त तुझे दे रखा है इस ईर्ष्या से ही मानो उसकी भूख और निद्रा कहीं चली गयी है और यह चन्द्रमा शीतल होने पर भी मानो तुम्हारे मुख की दासता को प्राप्त होकर ही निरन्तर उसके शरीर को जलाता रहता है।

जान पड़ता है उसके वियोग में तुम्हारा हृदय भी तो काम के बाणों से खण्डित हो चुका है अन्यथा श्रेष्ठ सुगन्धि को प्रकट करनेवाले ये निःश्वास के पवन क्यों निकलते?

अतः मुझ पर प्रसन्न होओ और सन्तप्त लोहपिण्डों की तरह तुम दोनों का मेल हो, इस प्रकार, सखियों द्वारा प्रार्थित किसी स्त्री ने अपने पति को अनुकूल किया था—कृत्रिम कलह छोड़ उसे स्वीकृत किया था।

इस तरह उपर्युक्त श्लोकों में मानात्मक विप्रलम्भ शृंगार का अच्छा परिपाक हुआ है।

---

१. सर्ग १२, श्लोक १२ से १६ तक

उदञ्चति भ्रूलतिका मुहुर्मुहुः……………… ।१२

—कान्तं किल कापि कामिनी ।१६॥

यह तो रूठी स्त्री को प्रसन्न करने के लिए पुरुष की विरह-चेष्टा का वर्णन है, अब कुछ रूठे हुए पुरुष को मनाने के लिए स्त्री की विरह-चेष्टा का भी वर्णन देखिए कवि ने कितना मार्मिक चित्रण किया है[1]—

हे सगर्व ! दूसरे की बात जाने दो, जब तुम नाथ होकर भी अपना स्नेह-पूर्ण भाव छिपाने लगे तब मेरी उस सखी को निश्चित ही अनाथ-सा समझ वह मेघ, शत्रु की तरह विष (पक्ष में जल) देता हुआ मार रहा है और बिजलियाँ जला रही हैं।

पति के अभाव में असह्य सन्ताप से पीड़ित रहनेवाली इस सखी ने सरोवरों के जल में प्रवेश कर उसके कीड़ों को जो अपने शरीर से सन्तापित किया है क्या यह पाप उसके पति को न होगा ?

इस पावस के समय सरोवर अपने आप कमल-रहित हो गया है और वन को उसने पल्लवरहित कर दिया है। यदि चुपचाप पड़ी रहनेवाली उस सखी के मरने से ही तुम्हें सुख होता है तो कोई बात नहीं परन्तु वन पर भी तो तुम्हें दया नहीं है।

हे सुभग ! न वह क्रीडा करती है, न हँसती है, न बोलती है, न सोती है, न खाती है, और न कुछ जानती ही है ! वह तो मात्र नेत्र बन्द कर रतिरूप श्रेष्ठगुणों को धारण करनेवाले एक तुम्हारा ही स्मरण करती रहती है।

इस प्रकार किसी दयावती स्त्री ने जब प्रेमपूर्वक किसी युवा से कहा तब उसका काम उत्तेजित हो उठा। अब वह जैसा आनन्द धारण कर रहा था वैसा सौन्दर्य का अहंकार नहीं।

हास्य रस के भी एक दो प्रसंग देखिए—

जिन-बालक को लेकर देवसेना सुमेरुपर्वत पर जा रही है। मार्ग में सूर्य बिम्ब को देखकर ऐरावत हाथी भ्रम में पड़ गया। उसकी चेष्टा देख सब हँसने लगे। श्लोक यह है—

रक्तोत्पलं हरितपर्णविलम्बितीरे
त्रिस्रोतसः स्फुटमिति त्रिदशाद्विपेन्द्रः।
बिम्बं विकृष्य सहसा तपनस्य मुञ्चन्
धुन्वन्करं दिवि चकार न कस्य हास्यम् ॥४४॥ —सर्ग ६

आकाशगंगा के किनारे हरे रंग के पत्ते पर यह लाल कमल फूला हुआ है यह समझकर ऐरावत हाथी ने पहले तो बिना विचारे सूर्य का बिम्ब खींच लिया पर जब उष्ण लगा तब जल्दी से छोड़कर सूँड़ को फड़फड़ाने लगा। यह देख आकाश में किसे हँसी न आ गयी थी ?

१. सर्ग ११, श्लोक ३६ से ४३ तक
स्वयि विभाव पि भावविधायिनि··················॥३६॥
··············मदमन्दममन्थरमन्मथः ॥४३॥

पुष्पावचय के समय उपस्थित हास्य रस के प्रसंग देखिए—

उदग्रशाखाकुसुमार्थमुद्भुजा व्युदस्य पार्ष्णिद्वयमञ्चितोदरी ।
नितम्बभूस्रस्तदुकूलबन्धना नितम्बिनी कस्य चकार नोत्सवम्[1] ॥४२॥—सर्ग १२

ऊँची डाली पर लगे फूल के लिए जिसने दोनों एड़ियाँ उठा अपनी भुजाएँ ऊपर की थीं परन्तु बीच में ही पेट के पुलख जाने से जिसके नितम्बस्थल का वस्त्र खुलकर नीचे गिर गया था। ऐसी स्थूल-नितम्बवाली स्त्री ने किसे आनन्दित नहीं किया था ?

उदग्रशाखाञ्चनचञ्चलाङ्गुलेर्भुजस्य मूलं स्पृशति प्रिये छलात् ।
स्मिते वधूनामिव वीक्ष्य सत्रपैरमुच्यताग्रा कुसुमैर्द्रुमाग्रतः ॥५०॥ —सर्ग १२

किसी स्त्री ने ऊँची डाली को झुकाने के लिए अपनी चंचल अँगुलियोंवाली भुजा ऊपर उठायी ही थी कि पति ने छल से उसके बाहुमूल में गुदगुदा दिया। इस क्रिया से स्त्री को हँसी आ गयी और फूल टूटकर नीचे आ पड़े। उस समय वे फूल, ऐसे जान पड़ते थे मानो स्त्री की मुसकान देख लज्जित ही हो गये हों और इसीलिए आत्मघात की इच्छा से उन्होंने अपने आपको वृक्ष के अग्रभाग से नीचे गिरा दिया हो।[2]

प्रसंगोपात्त शिशुपालवध के भी दो श्लोक देखिए—

मृदुचरणतलाग्रदुःस्थितत्वादसहतरा कुचकुम्भयोर्भरस्य ।
उपरि निरवलम्बनं प्रियस्य न्यपतदथोच्चतरोच्चिचीषयान्या ॥४८॥
उपरिजतरुजानि याचमानां कुशलतया परिरम्भलोलुपोऽन्यः ।
प्रथितपृथुपयोधरां गृहाण स्वयमिति मुग्धवधूमुदास दोर्भ्याम् ॥४९॥ —सर्ग ७

कोई एक स्त्री बहुत ऊँचाई पर लगे हुए फूल तोड़ना चाहती थी। उनके लिए वह अपने कोमल पैरों के पंजों के बल यद्यपि खड़ी तो हुई परन्तु स्तन-कलशों के भार को सह न सकने के कारण निराधार हो पति के ऊपर जा गिरी।

कोई स्त्री पति से बार-बार याचना कर रही थी कि मुझे ये ऊपर की डाली में लगे फूल तोड़ दो। पति चतुराई के साथ उसका आलिंगन करना चाहता था इसलिए उसने उस स्थूलस्तना स्त्री को अपनी भुजाओं से उठाकर कहा—लो तुम्हीं तोड़ लो।

इसके अतिरिक्त स्वयंवर के अनन्तर नगर के राजपथ में जाते हुए धर्मनाथ को देखने के लिए स्त्रियों की जिन चेष्टाओं का वर्णन कवि ने धर्मशर्माभ्युदय के १७वें सर्ग में किया है उसमें भी हास्य रस अच्छा विकसित हुआ।

---

१. उपरिजतरुजार्थं वामहस्तेन काचित्
विधृतसुरभिशाखा सव्यहस्तात्तकाञ्ची ।
अमलकनकगौरी निर्गलन्नीविबन्धा
नयनसुखमनन्तं कस्य वा दृक् न तेने ॥७॥ —जीवन्धरचम्पू, लम्भ ४।

२. काचिद् वराङ्गी कमितुः पुरस्तादुदस्तबाहुः कुसुमावचतये ।
मूलं नखाङ्काञ्चितमंशुकेन तिरोदधे मङ्क्षु करान्तरेण ॥८॥ —जी. च., लम्भ ४

विवाहदीक्षा के बाद धर्मनाथ अपनी दुलहिन शृंगारवती के साथ चौक के बीच सुवर्णसिंहासन को अलंकृत कर रहे थे उसी समय उन्हें पिता का एक पत्र मिला, जिसे पढ़कर वे एकदम कुबेरनिर्मित विमान पर आरूढ़ हो रत्नपुर की ओर चल देते हैं। यहाँ ऐसा लगता है कि स्वयंवर के बाद होनेवाले युद्ध से अछूता रखने के लिए ही कवि ने उन्हें सीधा विमान द्वारा रत्नपुर भेजा है और युद्ध का दायित्व सुषेण सेनापति के ऊपर निर्भर किया है। सुषेण ने प्रतिद्वन्द्वी राजपुत्रों से युद्ध कर विजय प्राप्त की। यहाँ वीर रस का परिपाक हुआ तो अवश्य है, पर अनुष्टुप् छन्द और चित्रालंकार के चक्र ने उसे पूर्णतया विकसित नहीं होने दिया है।

तुलनात्मक पद्धति से विचार करने पर जीवन्धरचम्पू में प्रत्येक रस का जितना उच्चतम परिपाक हुआ है उतना धर्मशर्माभ्युदय में नहीं हो सका है। इसका कारण कवि की अशक्तता नहीं है किन्तु रसानुकूल प्रकरणों का अभाव है। जीवन्धरचम्पू के रसपाक की समीक्षा आगे की जायेगी।

जीवन्धरचम्पू का रस-प्रवाह

साहित्य में शृंगार, हास्य, करुणा, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत और शान्त ये नौ रस हैं। भरतमुनि ने वात्सल्य नामक दसवाँ रस भी माना है। इन सभी रसों का जीवन्धरचम्पू में अच्छा परिपाक हुआ है। कथानायक जीवन्धरकुमार की गन्धर्वदत्ता आदि आठ नयी नवेली वधुएँ हैं। उनके साथ पाणिग्रहण के बाद शृंगार का अच्छा परिपाक हुआ है पर मुख्य बात यह है कि कवि ने उसके वर्णन में अश्लीलता नहीं आने दी है। नवम लम्भ में जीवन्धरकुमार एक जर्जरकाय वृद्ध का रूप बनाकर जब सुरमंजरी के घर पहुँचते हैं और 'कुमारीतीर्थ की प्राप्ति के लिए घूम रहा हूँ' इन शब्दों के द्वारा अपने आगमन का प्रयोजन बताते हैं तब इस प्रसंग में मानो हास्य की निर्झरिणी ही प्रवाहित हो उठती है। वे अपने दिव्य संगीत से सुरमंजरी को प्रभावित कर तथा वांछित वर-प्रदान करने का प्रलोभन देकर अनंगगृह में ले जाते हैं और अनंग प्रतिमा के सामने सुरमंजरी के द्वारा चिरकांक्षित जीवन्धर के प्राप्त होने की प्रार्थना की जाती है तथा छिपे हुए बुद्धिषेण के द्वारा 'लब्धो वरः' का उच्चारण होने पर जब जर्जर-शरीर वृद्ध जीवन्धरकुमार के वेष में प्रकट होता है तब विषण्णवदन पाठक भी खिल-खिला उठता है।

विजया माता के चित्रण में तथा द्वितीय लम्भ में भीलों द्वारा गोपों की गायों के चुरा लिये जाने पर कवि ने गोपों की वसति का जो वर्णन किया है तथा माताओं के अभाव में भूख से पीड़ित गायों के दुधमुँहे बछड़े जब गोपियों के स्तनों पर मुख लगा देते हैं तब करुण रस का परिपाक सीमा के बाँध को लाँघ जाता है और वज्रादपि कठोर मनुष्य के नेत्रों से शोक के गरम-गरम आँसू निकल पड़ते हैं।

काष्ठांगार की क्रूरता जब हिंसावह मार्ग का प्रदर्शन करनेवाले धर्मदत्त आदि

सचिवों का वध करती है तथा अपने आश्रयदाता राजा सत्यन्धर को मारकर अपनी कृतघ्नता का परिचय देती है तब रौद्र रस की निष्पत्ति होती है।

गन्धर्वदत्ता तथा लक्ष्मणा के स्वयंवर के पश्चात् जीवन्धरकुमार ने युद्धों में जो शूरता दिखायी है और काष्ठांगार के मारे जाने के बाद उसके परिवार को जो राजभवन में ही रहने की उदारता प्रकट की है उससे वीर रस का उत्तम परिपाक हुआ है। दशम लम्भ के बहुभाग में जो युद्ध का वर्णन उपलब्ध है वह अन्यत्र दुर्लभ है।

श्मशान में जलती हुई चिताओं और उनकी प्रचण्ड ज्वालाओं में जलते हुए नरशवों के वर्णन में बीभत्स रस का अच्छा परिपाक हुआ है। लक्ष्मणा के स्वयंवर में जीवन्धरकुमार के द्वारा सहसा चन्द्रकवेध का होना अद्भुत रस को उपस्थित करता है।

अन्तिम लम्भ में वनपाल के द्वारा वानरी के हाथ से तालफल छीन लिया जाता है, इस दृश्य को देखकर जीवन्धरकुमार के मुख से निकल पड़ता है—'भवते वनपालोऽयं काष्ठांगारायते हरिः' और उनका हृदय संसार की दशा देख निर्विण्ण हो जाता है। मुनिराज धर्मोपदेश करते हैं और चरित्रनायक जीवन्धरस्वामी राज्य छोड़कर दैगम्बरी दीक्षा धारण कर लेते हैं। यहाँ शान्त रस का उच्चतम परिपाक होता है। इस तरह यद्यपि जीवन्धरचम्पू में अंगीरस शान्त है तथापि अंग रूप से शेष आठों रस यथास्थान अपनी [illegible] प्रकट कर रहे हैं। विजया के चरित्रचित्रण में वात्सल्य रस की निष्पत्ति भी अपनी प्रभुता रखती है।

जीवन्धर-कथा के उदात्त अंश

जो विजया माता प्रातःकाल राजमहिषी के पद पर आरूढ़ थी वही राजा सत्यन्धर का पतन हो जाने पर सायंकाल श्मशान में पड़ी है और रात्रि के घनघोर अन्धकार में मोक्षगामी कथा-नायक जीवन्धर को जन्म देती है। रानी विजया की आँखों में अपने पुत्र के जन्मोत्सव का आनन्द और वर्तमान दयनीय दशा पर कारुण्योद्वेग, एक साथ है। अपने सद्योजात पुत्र को दूसरे के लिए सौंपने पर भी उसके हृदय में वह विकलता कवि ने नहीं आने दी है जो अन्य माताओं में देखी जाती है।

विजया अपने भाई विदेहाधिप गोविन्द के घर जाकर अपमान के दिन बिताना नहीं चाहती है। वह दण्डकवन के तपोवन में तापसी के वेष में रहकर अपने विपत्ति के दिन काटना उचित समझती है। एक बात और है कि कृतघ्न काष्ठांगार राजा सत्यन्धर का समूल वंशोच्छेद करना चाहता है अतः वह उनके सद्योजात पुत्र को भी जीवित नहीं छोड़ेगा। विजया यदि अपने भाई गोविन्द के घर स्वकीय वेष में रहती है तो गुप्तचरों के द्वारा काष्ठांगार को उसका और उसके सद्योजात पुत्र का परिचय अनायास मिल जायेगा और तब वह पुत्र की हत्या में सफल हो जायेगा—इस भावी आशंका को अपनी दूरदर्शिनी दृष्टि से देखकर वह दण्डकवन के तपस्वि-आश्रम में तपस्विनी के रूप में छद्मनिवास करने लगी।

हाँ, रानी विजया दण्डकवन में रह रही है। क्षत्रचूडामणि के निर्माता वादीभ सिंह ने इसका वर्णन करते हुए कहा है कि जो रानी पहले शय्या पर पड़े फूल की कलियों से भी कराह उठती थी वह आज घास-फूस की शय्या से ही सन्तुष्ट है, और तो क्या, अपने हाथ से काटा हुआ नीवार—जंगली धान्य ही उसका आहार है।

माता का वात्सल्य से परिपूर्ण हृदय चाहता है कि वह अपने पुत्र को खिला-पिलाकर आनन्द का अनुभव करे पर पुत्र का दर्शन ही कहाँ? वह दण्डकवन की हरी-भरी दूब के अंकुरों को उखाड़ कर तथा मृगशावकों को खिला-खिलाकर हृदय में यथा-कथंचित् सन्तोष धारण करती है। आगे चलकर उसी दण्डकवन में जीवन्धर के साथियों से जब काष्ठांगार के द्वारा उसके प्राणदण्ड का अपूर्ण समाचार सुनती है तब उसका हृदय भर आता है, आँखों से सावन की झड़ी लग जाती है और दण्डकवन का तपोवन आकस्मिक करुण क्रन्दन से गूँज उठता है। पुत्र के प्रति माता की ममता को मानो कवि ने उड़ेल कर रख दिया है। अन्त में पूर्ण समाचार सुनने पर उसका हृदय सन्तोष का अनुभव करता है। सखाओं द्वारा माता के जीवित रहने का समाचार प्राप्त कर जीवन्धर का हृदय भी माता के पवित्र दर्शन करने के लिए अधीर हो उठता है। वे सास, श्वसुर तथा श्वसुराल के सभी लोगों के रोकने पर भी सखाओं के साथ माता के पास द्रुतगति से जाते हैं और माता के दर्शन कर गद्गद हो जाते हैं। यह प्रकरण जीवन्धरचम्पू का उदात्त अंश है। कवि ने इतनी कुशलता से इसका वर्णन किया है कि पाठक का हृदय आनन्द से विभोर हो जाता है।

जीवन्धरचम्पू का विप्रलम्भ शृंगार और प्रणय-पत्र

दुर्दान्त हाथी के उपद्रव से रक्षा करते समय जीवन्धर ने गुणमाला को देखा और गुणमाला ने जीवन्धर को, यह अप्रत्याशित दर्शन दोनों के अनुराग का कारण बन गया। गुणमाला साक्षात् कामदेव के समान सुन्दर जीवन्धर को देख काम से आतुर होती हुई घर गयी, सन्ताप से उसका मुख सूखने लगा, मन में जीवन्धर का ध्यान करती हुई वह चुप हो रही है, सखियों के पूछने पर भी कुछ नहीं बोलती। वह कामदेव को उपालम्भ देती हुई कहती है, 'हे कुसुमायुध! तुम्हारे पाँच बाण निश्चित हैं और बेधने योग्य लक्ष्य अनेक हैं फिर क्या बात है कि तुमने अपने समस्त बाण मुझ एक पर ही चला दिये?' अनेक शीतलोपचार करने पर भी जब उसे शान्ति न हुई तब उसने एक पत्र लिखकर क्रीडाशुक के द्वारा जीवन्धर के पास भेजा। पत्र में लिखा था—

मदीयहृदयाभिधं मदनकाण्डकाण्डोद्धतं
नवं कुसुमकन्दुकं वनतटे त्वया चोरितम्।
विमोहकलितोत्पलं रुचिररागसत्पल्लवं
तदद्य हि वितीर्यतां विजितकामरूपोज्ज्वल ॥३३॥—लम्भ ४

हे काम को जीतनेवाले रूप से उज्ज्वल वल्लभ ! तुमने वन के तीर पर कामदेव के बाण रूपी दण्ड से उछाली हमारे हृदय रूपी फूल की गेंद चुरा ली थी। उस गेंद का परिचय यह है कि उसमें मूर्छारूपी उत्पल लग रहा है और सुन्दर राग रूपी पल्लव लगे हुए हैं। वह गेंद अब वापस दे दीजिए।

इधर जीवन्धर भी गुणमाला के विरह से आतुर हो उद्यान में बैठकर गुणमाला का चित्रांकन कर रहे थे तथा उसके कमनीय शरीर को देखकर गरम-गरम निःश्वास छोड़ रहे थे। तोता के द्वारा प्रदत्त पत्र पाकर उनकी प्रसन्नता का पार नहीं रहा। अनेकों बार उन्होंने वह पत्र पढ़ा और उत्तर में प्रतिपत्र लिखा—

मम नयनमराली प्राप्य ते वक्त्रपद्मं
तदनु च कुचकोशप्रान्तमागत्य हृष्टा।
विहरति रसपूर्णे नाभिकासारमध्ये
यदि भवति वितीर्णा सा त्वया तं ददामि ॥३५॥ —लम्भ ४

मेरी दृष्टि रूपी हँसी सर्वप्रथम तुम्हारे मुखरूपी कमल के पास गयी थी, फिर स्तनरूपी कुड्मलों के पास आकर हर्षित हुई और तदनन्तर रस से भरे हुए नाभिरूपी तालाब के बीच विहार कर रही है सो वह दृष्टिरूपी हंसी यदि तुम दे दो तो मैं भी तुम्हारी हृदयरूपी गेंद दे दूँ।

इधर गुणमाला की दशा बड़ी विचित्र हो रही थी, हृदय में जलती हुई कामाग्नि के धूम के समान निकलनेवाले निःश्वास से उसकी नाक का मोती नीलमणि बन गया था। अत्यन्त दुर्बल शरीर होने के कारण सुवर्ण की अँगूठी चूड़ी का काम देने लगी थी। मुखरूपी चन्द्रमा की चाँदनी से लिप्त होने के कारण ही मानो उसकी शरीररूपी लता सफ़ेद पड़ गयी थी। भावना की प्रकर्षता के कारण प्रत्येक दिशा में दिखते हुए जीवन्धर को देखकर वह उनकी अगवानी करने का यद्यपि प्रयत्न करती थी तो भी मृणाल के समान कोमल अंगों से वह समर्थ नहीं हो पाती थी। भेजे हुए शुक के आने में जो विलम्ब हो रहा था उसे वह सहने में असमर्थ थी इसलिए एक वर्ष की भयभीत हरिणी के समान अपने कटाक्ष प्रत्येक दिशा में छोड़ रही थी। इतने में शुक वहाँ आ पहुँचा। उसे देखते ही वह चिल्ला उठी—आओ आओ, मैं विलम्ब नहीं सहन कर सकती। जब वह शुक पास आ गया तब उसने उसे अपनी भुजाओं के युगल से ऊपर उठा लिया। उस समय हर्षातिरेक के कारण उसका भुजयुगल इतना फूल गया था कि उसकी चोली ही फट गयी थी। क्रीडाशुक जो पत्र लाया था गुणमाला ने उसे ले लिया—

जान पड़ता है कि नैषधीयचरित की हंसकल्पना इसी शुककल्पना से प्रभावित है।

अष्टम लम्भ में गन्धर्वदत्ता, गुणमाला की विरहावस्था का चित्रण करती हुई जीवन्धर को लिखती है—

आर्यपुत्र ! गुणमाला विज्ञापयति---

कन्दर्पो विषमस्तनोति तनुतां तन्वां ज्वरे गौरवं
मृत्युश्चापि दयाकथाविरहितो मां नैव संभाषते ।
आर्य त्वं च नवाङ्गनासुखवशाद्विस्मृत्य मां मोदसे
जातीपल्लवकोमला कथमियं जीवेत्तव प्रेयसी ॥२१॥
स्वामिन्नङ्कुरितौ ममोरसि कुचौ वृद्धिं गतौ तावके
वाचस्तावकवाग्रसैः परिचिता मौग्ध्येन सन्त्याजिताः ।
बाहू मातृगलस्थलादपसृतौ त्वत्कण्ठदेशेऽर्पिता—
वार्यं प्रेमपयोनिधे स्थितमिदं विज्ञापितं किं पुनः ॥२२॥

—लम्भ ८

हे आर्यपुत्र ! गुणमाला ऐसा निवेदन करती है—

"यह विषम कामदेव शरीर में कृशता और ज्वर में गुरुता की वृद्धि कर रहा है तथा दया की चर्चा से रहित मृत्यु मुझसे बोलती भी नहीं है। हे आर्य ! आप नयी-नयी स्त्रियों के सुख से वशीभूत हो मुझे भुलाकर मौज कर रहे हैं फिर चमेली के पल्लव के समान कोमलांगी तुम्हारी यह प्रिया कैसे जीवित रहे।

हे आर्य ! हे प्रेम के सागर ! सच बात तो यह है कि स्तन हमारे वक्षःस्थल पर वृद्धि को प्राप्त हुए। हमारे वचनों ने आपके वचनों से परिचित होकर ही मुग्धता छोड़ी है और हमारी भुजाएँ माता के गले से दूर हटकर आपके कण्ठ में अर्पित हुई हैं। इस तरह हमारे आधार एक आप ही हैं, अधिक क्या निवेदन करूँ ?"

जीवन्धरचम्पू में शान्तरस की पावन धारा

सांसारिक परिभ्रमण से निकालकर मानव को मुक्ति मन्दिर में भेज देना—मोक्ष प्राप्त करा देना यही जैन कथानकों का अन्तिम उद्देश्य रहता है। यद्यपि इन कथाओं में प्रसंगोपात्त शृंगारादि समस्त रसों का वर्णन आता है तथापि उन सबका समारोप एक शान्तरस में ही होता है। जीवन्धरचम्पू में भी यथास्थान सभी रसों का वर्णन आया है परन्तु अन्त में उन सबका समारोप एक शान्तरस में ही हुआ है। कथानायक जीवन्धर स्वामी, राज्यसिंहासनासीन हो चुकने पर एक दिन वासन्ती सुषमा से सुशोभित उद्यान में गये। उनकी आठों रानियाँ उनके साथ थीं। दक्षिण नायक की तरह वे अपनी समस्त स्त्रियों को प्रमुदित करते हुए एक ऐसे स्थान पर पहुँचे जहाँ वानरों का समूह स्वच्छन्द वनक्रीड़ा कर रहा था। वृक्ष की एक शाखा से अन्य शाखाओं पर उछलते हुए वानर-समूह को देखकर वे आनन्दविभोर हो उठे।

एक वानरी, अपने वानर का अन्य वानरी के साथ प्रेम देख रुष्ट हो गयी। उसे प्रसन्न करने के लिए वानर ने बहुत प्रयत्न किये पर वह प्रसन्न नहीं हुई। अन्त में निरुपाय हो वानर मृत के समान रूप बनाकर पड़ रहा। यह देख वानरी भय से काँप

उठी और उसके पास पहुँचकर उसने उसे स्वस्थ कर दिया। वानरी को प्रसन्न देख वानर ने एक पनस फल तोड़कर उसे उपहार में दिया, परन्तु अकस्मात् वनपाल ने आकर वानरी के हाथ से वह पनस फल छीन लिया। यह सब दृश्य जीवन्धर स्वामी अपने नेत्रों से प्रत्यक्ष देख रहे थे। उनका दयालु हृदय वनपाल के इस कार्य को देखकर व्यग्र हो उठा। इसी आलम्बन विभाव ने जीवन्धर स्वामी के हृदय में शान्तरस को उत्पन्न कर दिया। उनके मन में यह विचार तरंगित होने लगा—

> काष्ठाङ्गारायते कीशो राज्यमेतत्फलायते।
> मद्यते वनपालोऽयं त्याज्यं राज्यमिदं मया ॥२३॥ —पृ. २२४

यह वानर काष्ठांगार के समान, यह राज्य फल के समान और यह वनपाल मेरे समान आचरण कर रहा है अर्थात् जिस प्रकार वानर के द्वारा दिये हुए फल को वनपाल ने छीन लिया है उसी प्रकार मैंने इस राज्य को छीन लिया है अतः यह राज्य मेरे द्वारा त्याज्य है।

शान्तरस के अनुभाव रूप में कवि ने जीवन्धर स्वामी की जिस वैराग्यतरंगिणी को प्रवाहित किया है उसमें अवगाहन कर शान्तिसुधा का अनुभव किया जा सकता है। वे लिखते हैं—

> या राज्यलक्ष्मीर्बहुदुःखसाध्या दुःखेन पाल्या चपला दुरन्ता।
> नष्टापि दुःखानि चिराय सूते तस्यां कदा वा सुखलेशलेशः ॥२३॥
> कल्लोलिनीनां निकरैरिवाब्धिः कृपीटयोनिर्बहुलेन्धनैर्वा।
> कामं न संतृप्यति कामभोगैः कन्दर्पवश्यः पुरुषः कदाचित् ॥२४॥
> राज्यं स्नेहविहीनदीपकलिकाकल्पं चलं जीवितं
> शम्पावत्क्षणभङ्गुरा तनुरियं लीलाभ्रतुल्यं वयः।
> तस्मात्संसृतिसन्ततौ न हि सुखं तथापि मूढः पुमा-
> न्नादत्ते स्वहितं करोति च पुनर्मोहाय कार्यं वृथा ॥२५॥
> विलोभ्यमानो विषयैर्वराको भङ्गुरैर्भृशम्।
> नारम्भदोषान्मनुते मोहेन बहुदुःखदान् ॥२६॥
> ममेयं मृद्वङ्गी मम तनय एष प्रचुरधी-
> रिमे मे पूर्वार्थ्या इति विगतबुद्धिर्नरपशुः।
> अणुप्रख्ये सौख्ये विहितरुचिरारम्भवशगः
> प्रयाति प्रायेण क्षितिधरनिभं दुःखमधिकम् ॥२७॥
> ये मोक्षलक्ष्मीमनपायरूपां विहाय विन्दन्ति नृपाललक्ष्मीम्।
> निदाघकाले शिशिराम्बुधारां हित्वा भजन्ते मृगतृष्णिकां ते ॥२८॥
> तस्मात्क्लेशचयाल्लब्ध्वा मानुषं जन्म दुर्लभम्।
> प्रमादः स्वहिते कर्तुं न युक्त इह धीमता ॥२९॥ —पृ. २२४-२२५

भाव यह है—

जो राजलक्ष्मी बहुत दुख से प्राप्त होती है, कठिनाई से जिसकी रक्षा होती है, जो चपल है, जिसका अन्त दुखदायी है और जो नष्ट होकर भी चिरकाल तक दुख उत्पन्न करती रहती है उस राजलक्ष्मी में सुख का लेश कब हो सकता है ? अर्थात् कभी नहीं हो सकता है।

जिस प्रकार नदियों के समूह से समुद्र और बहुत भारी ईंधन से अग्नि सन्तुष्ट नहीं होती उसी प्रकार काम के वशीभूत हुआ यह पुरुष कभी भी कामभोगों से सन्तुष्ट नहीं होता है।

यह राज्य तैलरहित दीपक की लौ के समान है, जीवन चंचल है, शरीर बिजली के समान क्षणभंगुर है और आयु चपल मेघ के तुल्य है। इस प्रकार इस संसार की सन्तति में कुछ भी सुख नहीं है। फिर भी उसमें मूढ़ हुआ पुरुष अपना हित नहीं करता किन्तु इसके विपरीत मोह बढ़ानेवाला व्यर्थ का कार्य ही करता है।

नश्वर विषयों के द्वारा लुभाया हुआ बेचारा मनुष्य, मोहवश बहुत दुख देने-वाले आरम्भ-जनित दोषों को नहीं समझता है।

यह मेरी कोमलांगी स्त्री है, यह बुद्धिमान् पुत्र है और ये मेरे पूर्वसंचित धन हैं इस तरह निर्बुद्धि हुआ यह नरपशु—अज्ञानी मानव, अणु बराबर सुख में इच्छा उत्पन्न कर आरम्भ के वशीभूत होता है और अधिकतर पहाड़ के समान बहुत भारी दुख को ही प्राप्त करता है।

जो मानव अविनाशी मोक्षलक्ष्मी को छोड़कर राजलक्ष्मी प्राप्त करते हैं वे ग्रीष्मकाल में शीतल जल की धारा छोड़कर मृगमरीचिका का सेवन करते हैं।

इसलिए बड़ी कठिनाई से दुर्लभ मनुष्य जन्म पाकर बुद्धिमान् मानव को आत्महित में प्रमाद करना उचित नहीं है।

इस तत्त्वचिन्तन के फलस्वरूप जीवन्धर स्वामी संसार की माया—ममता से विरक्त हो मुनि-दीक्षा लेने का निश्चय कर लेते हैं और राजकीय व्यवस्था से निवृत्त होकर अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी के समवसरण में जाकर मुनि-दीक्षा धारण करते हैं। घोर तपश्चरण के द्वारा संचित कर्मों का नाश कर मोक्ष को प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार अंगीरस—शान्तरस का समारोप कर महाकवि हरिचन्द्र निम्नांकित पद्यों द्वारा मंगलकामना करते हैं—

प्रजानां क्षेमाय प्रभवतु महीशः प्रतिदिनं
सुवृष्टिः संभूयाद् भजतु शमनं व्याधिनिचयः।
विधत्तां वाग्देव्या सह परिचयं श्रीरनुदिनं
मतं जैनं जीयाद् विलसतु च भक्तिर्जिनपतौ ॥५१॥

राजा प्रतिदिन प्रजा का कल्याण करने में समर्थ हों, उत्तम वर्षा हो, रोगों का समूह नाश को प्राप्त हो, लक्ष्मी सरस्वती के साथ प्रतिदिन परिवास करे, जिनेन्द्रदेव का मत जयवन्त हो और सबकी भक्ति जिनेन्द्रदेव में सुशोभित हो।

कुरुकुलपतेः कीर्तिं राकेन्दुसुन्दरचन्द्रिका
विमलविशदा लोकेष्वानन्दिनी परिवर्धताम्।
मम च मधुरा वाणी विद्वन्मुखेषु विनृत्यताद्
विलसितरसा सालंकारा विराजितमन्मथा ॥६७॥

पूर्णचन्द्र की चाँदनी के समान निर्मल—धवल तथा आनन्द उत्पन्न करनेवाली कुरुकुलपति जीवन्धर स्वामी की कीर्ति तीनों लोकों में निरन्तर बढ़ती रहे और रस से सुशोभित अलंकारों से युक्त तथा कामदेव पद के धारक जीवन्धर स्वामी के उपाख्यान से अलंकृत हमारी मधुर वाणी विद्वानों के मुखों में नृत्य करती रहे।

धर्मशर्माभ्युदय में छन्दों की रसानुगुणता

यतश्च रस के अनुरूप[1] छन्द ही काव्य में सुशोभित होते हैं अतः उनकी रसानुकूलता पर कुछ विचार किया जाता है—

आरम्भे सर्गबन्धस्य कथाविस्तरसंग्रहे।
शमोपदेशवृत्तान्ते सन्तः शंसन्त्यनुष्टुभम् ॥
शृङ्गारालम्बनोदारनायिकारूपवर्णनम्।
वसन्तादि तदङ्गं च सच्छायमुपजातिभिः ॥
रथोद्धता विभावेषु भव्या चन्द्रोदयादिषु।
षाड्गुण्यप्रगुणा नीतिर्वंशस्थेन विराजते ॥
वसन्ततिलकं भाति संकरे वीररौद्रयोः।
कुर्यात्सर्गस्य पर्यन्ते मालिनीं द्रुतलालवत् ॥
उपपन्नपरिच्छेदकाले शिखरिणी वरा।
औदार्यरुचिरौचित्यविचारे हरिणी मता ॥
साक्षेप-क्रोधधिक्कारे परं पृथ्वी भरक्षमा।
प्रावृट्प्रवासव्यसने मन्दाक्रान्ता विराजते ॥
शौर्यस्तवे नृपादीनां शार्दूलक्रीडितं मतम्।
सावेग-पवनादीनां वर्णने स्रग्धरा वरा ॥
दोधकतोटकनर्कुटयुक्तं मुक्तकमेव विराजति सूक्तम्।
निर्विषयस्तु रसादिषु तेषां निर्नियमश्च सदा विनियोगः ॥

---

1. काव्ये रसानुसारेण वर्णनानुगुणेन च।
कुर्वीत सर्ववृत्तानां विनियोगं विभागवित् ॥
शास्त्रे काव्येऽतिदीर्घाणां वृत्तानां न प्रयोजनम्।
काव्यशास्त्रेऽपि वृत्तानि रसायत्तानि काव्यवित् ।—सुवृत्ततिलक, तृतीय विन्यास

सुवृत्ततिलक में महाकवि क्षेमेन्द्र ने कहा है कि काव्य में, कथा के विस्तार में और शान्तरसपूर्ण उपदेश में सत्पुरुष अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग करते हैं। शृंगाररस के आलम्बन, तथा उत्कृष्ट नायिका के रूप-वर्णन में वसन्ततिलका और उपजाति छन्द सुशोभित होते हैं। चन्द्रोदय आदि विभाव भावों के वर्णन में रथोद्धता छन्द अच्छा माना जाता है। तथा सन्धि, विग्रह आदि षड्गुणात्मक नीति का उपदेश वंशस्थ छन्द से सुशोभित होता है। वीर और रौद्ररस के संकर में वसन्ततिलक सुशोभित होता है तो सर्गान्त में मालिनी अधिक खिलती है। युक्तियुक्त वस्तु के परिज्ञान-काल में, शिखरिणी तथा उदारता आदि के औचित्यवर्णन में हरिणी छन्द की योजना अच्छी मानी जाती है। राजाओं के शौर्य की स्तुति करने में शार्दूलविक्रीडित और वेगशाली वायु आदि के वर्णन में स्रग्धरा छन्द श्रेष्ठ माना गया है। दोधक, तोटक तथा नर्कुट छन्द मुक्तक रूप से सुशोभित होते हैं।

इस प्रसिद्ध छन्दो-योजना के अनुसार धर्मशर्माभ्युदय में निम्नांकित २५ छन्दों का प्रयोग हुआ है—जिनका विवरण निम्न प्रकार है। कोष्ठक का अंक सर्ग का और साधारण अंक श्लोक का वाचक है। कोष्ठक के भीतर लिखा हुआ 'प्र' प्रशस्ति का वाचक है—

१. उपजाति—(१) १–८४, (४) २–९१, (१०) १–९, १२, १४–१६, २०, ३२, ३६, ४४, ५०, ५४, ५५, (१४) १–८२, (१७) १–१०८, (प्र) ४–७।

२. मालिनी –(१) ८५, (५) ९०, (६) ५३, (८) १–५१, (१०) ११, ३८, (११) ७२, (१३) ७०, (१९) १०३, (२०) १०१, (२१) १८५।

३. वसन्ततिलका—(१) ८६, (५) ८७, (६) १–५१, (१०) १३, १९, २५, ३१, ४०, ४३, ४६, ४९, ५३–६३, (१५) ७०, (१६) ८८, (१७) १०९ (१९) ९७–९९, (प्र) १, २, ८।

४. वंशस्थ—(२) १–७४, (१०) १८, २३, २६–३०, ३९, ४१, ४७, ५६, (१२) १–६०।

५. शार्दूलविक्रीडित—(२) ७५, ७७, ७९, (३) ७४, ७६, (५) ८८, ८९, (७) ६७, ६८, (९) ८०, (१०) ५७, (१२) ६१, (१३) ७१, (१४) ८४, (१६) ८५–८७, (१७) ११०, (१९) १०१, १०४, (२१) १८३–१८४, (प्र) ३, ९, १०।

६. द्रुतविलम्बित—(२) ७६, (३) ७५, (४) ९२, (६) ५२, (१०) २२, ३७, (११) १–७१।

७. शालिनी—(२) ७८, (२०) १–१०० ।

८. अनुष्टुप्—(३) १–७३, (११) १–९५, (२१) १–१८२ ।

९. शिखरिणी—(३) ७७, (१९) ८४ ।

१०. उपेन्द्रवज्रा—(४) १, (७) १–६६ ।

११. पृथ्वी—(४) ९३, (१०) १७, ३५, (१२) ६२ ।

१२. रथोद्धता—(५) १–८६ ।

१३. हरिणी—(८) ५६, (९) ७९ ।

१४. मन्दाक्रान्ता—(८) ५७, (१०) १०, ३४, (१२) ६३, (१४) ८३ ।

१५. इन्द्रवंशा—(९) १–७८, (१०) ३३ ।

१६. भुजंगप्रयात—(१०) २१, ५१ ।

१७. दोधक—(१०) २४ ।

१८. प्रमिताक्षरा—(१०) ४२ ।

१९. ललिता—(१०) ४५, (११) १०० ।

२०. विपरीताख्यानकी—(१०) ४८ ।

२१. पुष्पिताग्रा—(१३) १–६९ ।

२२. स्वागता—(१५) १–६९ ।

२३. प्रहर्षिणी—(१६) १–८३ ।

२४. तोटक—(१९) ९६ ।

२५. स्रग्विणी—(१९) १०३ ।

जीवन्धरचम्पू में छन्दोयोजना

छन्दों की रसानुगुणता का वर्णन पहले किया जा चुका है। उस पर दृष्टि रखते हुए जीवन्धरचम्पू में प्रायः सभी प्रसिद्ध छन्दों की योजना की गयी है। इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा तथा वंशस्थ और इन्द्रवंशा की उपजाति तो प्रायः सर्वत्र देखी जाती है पर यहाँ रथोद्धता और स्वागता की भी उपजाति का अनेक बार प्रयोग किया गया है। कुछ श्लोक ऐसे भी आये हैं जिनका वृत्तरत्नाकरादि में उल्लेख नहीं मिलता इसलिए हमने उन्हें अज्ञात शब्द से संकेतित किया है। नीचे लम्भ के क्रमानुसार प्रयुक्त छन्दों की नामावली दी जाती है और उनके आगे श्लोकों की संख्या दिखलाई गयी है।

प्रथम लम्भ

शार्दूलविक्रीडित—१, १९, २०, २२, २८, ३४, ६७

स्रग्धरा—२, १४, २३

उपजाति—३, १८, ३३, ५२, ५४, ५५, ५६, ६९, ७३, ७८, ८५, ८८, ९०, ९३, ९६, ९९

आर्या—४, ७

अनुष्टुप्—५, ६, ८, १०, ११, २६, २९, ३२, ३५, ३६, ४०, ४८, ४९, ५३, ५७, ५९, ६०, ६१, ६५, ६८, ७१, ७२, ७५, ७७, ७९, ८०, ८२, ८३, ८६, ९१, ९४, ९८, १००, १०२, १०३, १०५, १०६

इन्द्रवज्रा—९, २९, ४१, ४२, ४८, ५१, ६२, ६३, ६४, ७०, ७४, ८१

वसन्ततिलका—१५, १६, १७, २१, २४, २५, २७, ३०, ३१, ४३, ४४, ४६, ५०, ५८, ७६, ८९, ९७, १०१

मालिनी—३७, ४५, ८७, ९२

मालभारिणी—३८, ६६

शालिनी—८४

मन्दाक्रान्ता—९५

वंशस्थ—१०४

द्वितीय लम्भ

अनुष्टुप्—१, ११, १२, २१, ३०

उपजाति—२, ८, ९, १०, २२, २३, २५, २६, ३३

वसन्ततिलका—३, ३१

उपेन्द्रवज्रा—४, ६

इन्द्रवज्रा—५

मालभारिणी—१३, २७

शालिनी—१४, १६

मन्दाक्रान्ता—१५, २४, ३५

शार्दूलविक्रीडित—१७

शिखरिणी—१९

स्रग्धरा—२०

पृथ्वी—२८

रथोद्धता—२९

स्वागता—३२

तृतीय लम्भ

वसन्ततिलका—१, ७, ८, २३, २९, ३२, ४३
इन्द्रवज्रा—२, २७
शार्दूलविक्रीडित—३, ३४, ३८, ४२
अनुष्टुप्—४, ९, ११, १३, १५, १८, २२, २६, ३५, ४०, ४१, ४४, ४६, ४९, ५३, ५६, ५७, ६६, ७०
पृथ्वी—५, ३०, ३१, ३३, ६७, ६८
उपजाति—६, १०, १२, १४, १७, २१, ३९, ४५, ४७, ४८, ५०, ५२, ५४, ५५, ५८, ६१, ६४, ६९
द्रुतविलम्बित—१६
मन्दाक्रान्ता—१९, ६३
शिखरिणी—२०
मालभारिणी—२४
रथोद्धता—२५
उपेन्द्रवज्रा—२८, ५१
मालिनी—३६, ६०
हरिणी—३७, ६२, ६५
वंशस्थ—५९

चतुर्थ लम्भ

अनुष्टुप्—१, २, ४, १२, (१५), २४, २६, २८, ३४, ३७, ४०
शार्दूलविक्रीडित—१, १४, २७, ३०
शालिनी—२, १९
उपजाति—३, ८, १५, २०, २१, २३
पृथ्वी—५, ३३
बसन्ततिलका—६, ९, १३, ३२, ३९
मालिनी—७, १०, ३५
उपेन्द्रवज्रा—१६
रथोद्धता—१७, १८
इन्द्रवज्रा—२२, २५
पुष्पिताग्रा—२९
मालभारिणी—३१
अज्ञात (?)—३६
मंजुभाषिणी—३८

पंचम लम्भ

स्वागता—१
अनुष्टुप्—२, ६, ७, १०, १५, १६, १९, २१, २५, २७, ३०, ३२, ३३, ३४, ३६, ३८, ४०, ४५
उपजाति—३, ९, १४, १७, २६, २८, २९, ३५, ३९, ४४, ४६
उपेन्द्रवज्रा—४
पृथ्वी—५, ११, २०
वसन्ततिलका—८, १३, २३, २४, ३१, ४२
शालिनी—१२
शिखरिणी—१८
शार्दूलविक्रीडित—२२
स्रग्धरा—३७
मालिनी—४१
मन्दाक्रान्ता—४३

षष्ठ लम्भ

वसन्ततिलका—१, ७, ४२, ४५
अनुष्टुप्—२, ३, ५, ८, १२, २२, २६, २९, ३०, ३१, ३२, ३३, ३५, ३९, ४७, ४९
मालिनी—४, १७, १९, २०, २१, ४४
उपजाति—६, १०, ११, १५, २७, ३७, ३८, ४०, ४६
उपेन्द्रवज्रा—९
इन्द्रवज्रा—१३, १४
रथोद्धता—१६
शार्दूलविक्रीडित—१८, २८, ३६, ४३, ४९
मन्दाक्रान्ता—२३
शिखरिणी—२४, ४१, ४८
मंजुभाषिणी—२५
हरिणी—३४

सप्तम लम्भ

मालिनी—१०
वसन्ततिलका—२, ३७, ४२, ५०

मालिनी—३, ५८
अनुष्टुप्—४, ६, ८, ९, १०, ११, १२, १३, १५, १७, १९, २१, २३, २५, २८, २९, ३२, ३४, ३५, ४०, ४१, ४३, ४७, ४८, ५२, ५३, ५५
उपजाति—५, १६, १८, २०, २४, ३३, ४४, ५१, ५६
मालभारिणी—७, ४६
भुजंगप्रयात—१४
शालिनी—२२
शार्दूलविक्रीडित—२६, २७, ३६, ३८, ३९
पृथ्वी—३०, ३१, ४९
मंजुभाषिणी—४५
द्रुतविलम्बित—५४
स्रग्धरा—५७

अष्टम लम्भ

उपजाति—१, २, १०, १४, २९, ४८, ५२, ५३, ५४, ५८, ६१, ६७
अनुष्टुप्—३, ६, १२, १६, २०, २९, ३२, ३६, ४१, ४२, ४४, ५५, ६३, ६५
रथोद्धता—४
मालभारिणी—५, ७, २३
मंजुभाषिणी—८, ९, ३७
द्रुतविलम्बित—११
मालिनी—१३, ४३
पृथ्वी—१५, ३३, ५७
स्वागता—१७
पुष्पिताग्रा—१९
शार्दूलविक्रीडित—२१, २२, २४, २८, ३१, ३४, ४५, ४९, ५१, ६२, ६६
वसन्ततिलका—२५, २७, ३५, ३८, ३९, ४६, ४७, ५६, ६०, ६८
शिखरिणी—३०
मन्दाक्रान्ता—४०
इन्द्रवज्रा—५०
पंचचामर—५९
हरिणी—६४

नवम लम्भ

उपजाति—१, ८, १०, ११
मंजुभाषिणी—२, ३
अनुष्टुप्—४, ५, ६, ९, १३, १५, १७, २०, २४, २५, ३०
मालिनी—७, २६, २७, २९
द्रुतविलम्बित—१२, २१
मालभारिणी—१४
शार्दूलविक्रीडित—१६, २३, २१
शिखरिणी—१८
वसन्ततिलका—१९, २२
स्रग्धरा—२८

दशम लम्भ

शिखरिणी—१, १०, ११, १८, १९, २०, ५२, ५४, ५८, १३८
उपजाति—२, १४, ३०, ३७, ३९, ४३, ५०, ५१, ५२, ६१, ६२, ६६, ७९, ८०, ८२, ९३, ९७, १०२, ११६, १२५, १३३, १४१
अनुष्टुप्—३, ८, १५, १६, २१, २४, २७, ३५, ३८, ४१, ६५, ६७, ७३, ७५, ७७, ८१, ८५, ८८, ९१, १०१, ११०, ११२, ११३, १२४, १२६, १२७, १२८
मालभारिणी—४, ८४
वसन्ततिलका—५, २६, ३४, ४७, ४८, ४९, ५५, ६४, ७४, ९२, १२१
पृथ्वी—६, ७, ९, १६, २५, ५९, ७२, ७६, ८९, १२६
हरिणी—१२, ६८, १२७
मालिनी—१३, ७१, ११५
शार्दूलविक्रीडित—२२, ३२, ३३, ४५, ४६, ६३, ९६, ९८, ९९, १००, १०८, १०९, १२०, १२२, १३०, १३५, १३९, १४०
मंजुभाषिणी—२३
शालिनी—५६, ५७
उपेन्द्रवज्रा—२८, ३६, ९४, १११, ११४, ११८
इन्द्रवज्रा—२९, ६०, ९०, १३४,
स्रग्धरा—३१, ४०, ४२, ६९
भुजंगप्रयात—४४
रथोद्धता—७०
द्रुतविलम्बित—७८, १३१

पुष्पिताग्रा—८६
अज्ञात (१)—८७, ९५, १०३, १२३

एकादश लम्भ

शार्दूलविक्रीडित—१, १६, १८, २५, ४६, ५८
अनुष्टुप्—२, ४, ५, ६, ८, ९, १२, १४, २२, २६, २९, ३१, ३२, ३४, ३७, ४२, ५१, ५४, ५५, ५६
उपजाति—३, १०, २४, २८, ४५, ५७
पृथ्वी—७, २०, ३५
पुष्पिताग्रा—११, ४०
वसन्ततिलका—१३, १७, ३३, ४४, ४९
इन्द्रवज्रा—१९, २३, ५०
मालिनी—२१
शिखरिणी—२७, ३६, ३९, ४३, ५३, ५९
शालिनी—३०, ४१, ५२
स्रग्धरा—३८, ४८
मन्द्राक्रान्ता—४७
हरिणी—६०

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि जीवन्धरचम्पू में प्रायः सभी प्रसिद्ध छन्दों का उपयोग हुआ है और वह भी रस के अनुसार।

□

स्तम्भ २ : आदान-प्रदान

जीवन्धरचरित की उपजीव्यता

जीवन्धर स्वामी का चरित लोकोत्तर घटनाओं से परिपूर्ण है अतः उसके अंकन में विविध भाषाओं के लेखकों ने अपना गौरव समझा है। अब तक जीवन्धरचरित के प्रख्यापक निम्नांकित ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं—

संस्कृत में

१. गद्यचिन्तामणि—वादीभ-सिंहसूरि-द्वारा विरचित गद्यकाव्य
२. क्षत्रचूडामणि—वादीभसिंह सूरि द्वारा अनुष्टुप् छन्दोमय काव्य
३. जीवन्धरचरित—गुणभद्राचार्यरचित उत्तरपुराण के ७५वें पर्व का एक अंश
४. जीवन्धरचम्पू—महाकवि हरिचन्द्र द्वारा रचित गद्य-पद्यमय चम्पूकाव्य
५. जीवन्धरचरित—शुभचन्द्राचार्यकृत पाण्डव-पुराण के अन्तर्गत एक अंश
६. क्षत्रचूडालंकार—४० शार्दूलविक्रीडित-वृत्तों का लघुग्रन्थ, पन्नालाल साहित्याचार्यकृत, गद्यचिन्तामणि के परिशिष्ट में प्रकाशित

अपभ्रंश में

७. जीवन्धरचरिउ—पुष्पदन्त कवि द्वारा रचित अपभ्रंश महापुराण की ९९वीं सन्धि।
८. जीवन्धरचरित—रइधू कवि के द्वारा रचित १३ सन्धियों का एक ग्रन्थ

तमिल भाषा में

९. जीवकचिन्तामणि—तिरुतक्क देवर द्वारा रचित तमिल भाषा का एक प्रसिद्ध काव्य

कर्णाटक में

१०. जीवन्धरचरिते—वासव के पुत्र भास्कर के द्वारा रचित १८ अध्यायात्मक १००० श्लोकों का ग्रन्थ
११. जीवन्धर सांगत्य—तेरकनम्बि बोम्मरस के द्वारा लिखित २० अध्यायात्मक १४४९ श्लोकों का एक ग्रन्थ

१२. जीवन्धरषट्पदी—कोटीश्वर के द्वारा लिखित १० अध्यायात्मक ११८ श्लोकों का एक ग्रन्थ

१३. जीवन्धरचरिते—ब्रह्मकवि द्वारा विरचित एक ग्रन्थ

हिन्दी में

१४. जीवन्धरचरित—कवि नथमल द्वारा रचित हिन्दी पद्य-काव्य

उपजीव्य और उपजीवित

प्रत्येक कवि अपने पूर्ववर्ती कवियों की कृतियों से प्रेरणा ग्रहण करता है और अपने परवर्ती कवियों पर अपना प्रभाव छोड़ता है। महाकवि हरिचन्द्र के विषय में भी हम इस तथ्य को स्वीकृत करते हैं। महाकवि कालिदास तथा माघ आदि से हरिचन्द्र ने पर्याप्त प्रेरणाएँ प्राप्त की हैं तथा श्रीहर्ष, अर्हद्दास, और हस्तिमल्ल आदि पर अपना पुष्कल प्रभाव छोड़ा है। रघुवंश के छठें सर्ग में कालिदास ने इन्दुमती के स्वयंवर का वर्णन किया है और हरिचन्द्र ने भी धर्मशर्माभ्युदय के सत्रहवें सर्ग में शृंगारवती के स्वयंवर का वर्णन किया है। दोनों ही वर्णनों का तुलनात्मक अध्ययन करने से उपर्युक्त बात का समर्थन होता है।

कालिदास ने लिखा है कि स्वयंवर-सभा में अज को देख अन्य राजा इन्दुमती के विषय में निराश हो गये—

रतेर्गृहीतानुनयेन कामं प्रत्यर्पितस्वाङ्गमिवेश्वरेण।
काकुत्स्थमालोकयतां नृपाणां मनो बभूवेन्दुमतीनिराशम् ॥६–२॥ रघुवंश

रति की प्रार्थना को स्वीकृत करनेवाले ईश्वर—शिव के द्वारा जिसका अपना शरीर वापस कर दिया गया था ऐसे कामदेव के समान अज को देखनेवाले राजाओं का मन इन्दुमती के विषय में निराश हो गया था।

हरिचन्द्र ने भी धर्मनाथ की लोकोत्तर सुन्दरता को देखकर अन्य राजाओं के मुख को निष्प्रभ बताया है—

निःसीमरूपातिशयो ददर्श प्रदह्यमानागुरुधूपवर्त्या।
मुखं न केषामिह पार्थिवानां लज्जामषीकूर्चिकयेव कृष्णम् ॥१७–५॥
—धर्मशर्माभ्युदय

अत्यधिक रूप के अतिशय से युक्त श्रीधर्मनाथ स्वामी ने जलती हुई अगुरुधूप की वत्तियों से किस राजा का मुख लज्जा-रूपी स्याही की कूची से ही मानो कृष्णीकृत नहीं देखा था—भगवान् के अद्भुत प्रभाव को देखकर समस्त राजाओं के मुख श्याम पड़ गये थे।

अयं स कामो नियतं भ्रमेण कमप्यधाक्षीद् गिरिशस्तदानीम् ।
इत्यद्भुतं रूपमवेक्ष्य जैनं जनाधिनाथाः प्रतिपेदिरे तम ॥१७-६॥

—धर्मशर्माभ्युदय

निश्चित ही वह कामदेव यही है, उस समय महादेव ने भ्रम से किसी दूसरे को भस्म कर दिया था। इस प्रकार धर्मनाथ जिनेन्द्र के रूप को देखकर उपस्थित राजाओं ने आश्चर्य प्राप्त किया था।

उपर्युक्त दोनों ही सन्दर्भों में भावों का समानीकरण दिखाई देता है।

स्वयंवर-सभा में मंचों पर बैठे हुए राजपुत्रों का वर्णन देखिए कितना एक दूसरे के अनुरूप है—

स तत्र मञ्चेषु मनोज्ञवेषान् सिंहासनस्थानुपचारवत्सु ।
वैमानिकानां मरुतामपश्यदाकृष्टलीलान्नरलोकपालान् ॥६-१॥—रघुवंश

साज-सामग्री से युक्त मंचों पर बैठे हुए मनोहर वेष से युक्त राजाओं को अज ने विमानों में बैठकर विहार करनेवाले देवों के समान देखा।

शृङ्गारसारङ्गविहारलीलाशैलेषु तेषु स्थितभूपतीनाम् ।
वैमानिकानां च मुदागतानां देवोऽन्तरं किंचन नोपलेभे ॥१७-४॥

—धर्मशर्माभ्युदय

देवाधिदेव भगवान् धर्मनाथ ने शृंगाररूपी मृगों के विहार से युक्त क्रीड़ापर्वतों के समान उन मंचों के समूह पर स्थित राजाओं और आनन्द से समागत विमानचारी देवों के बीच कुछ भी अन्तर नहीं पाया था।

राजकुमार अज मंच पर आरूढ़ हो रहे हैं, इसका वर्णन रघुवंश में देखिए—

वैदर्भनिर्दिष्टमसौ कुमारः क्लृप्तेन सोपानपथेन मञ्चम् ।
शिलाविभङ्गैर्मृगराजशावस्तुङ्गं नगोत्सङ्गमिवारुरोह ॥६-३॥—रघुवंश

वह अज, राजा भोज के द्वारा बताये हुए मंच पर निर्मित सोपान-मार्ग से ऐसा चढ़ गया जैसा कि सिंहशावक शिलाखण्डों से पर्वत के ऊँचे मध्यभाग पर जा चढ़ता है।

अब धर्मनाथ के मंच पर आरूढ़ होने का वर्णन धर्मशर्माभ्युदय में देखिए—

अथाङ्गिनां नेत्रसहस्रपात्रं निर्दिष्टमिष्टेन च मञ्चमुच्चैः ।
सोपानमार्गेण समारुरोह हैमं मरुत्वानिव वैजयन्तम् ॥१७-७॥

— धर्मशर्माभ्युदय

तदनन्तर मनुष्यों के हजारों नेत्रों के पात्र भगवान् धर्मनाथ किसी इष्टजन के द्वारा दिखलाये हुए सुवर्णमय उन्नत सिंहासन पर श्रेणी मार्ग से उस प्रकार आरूढ़ हुए जिस प्रकार कि इन्द्र वैजयन्त नामक अपने भवन में आरूढ़ होता है।

यहाँ भावसादृश्य होने पर भी दोनों कवियों की विच्छित्ति अपना-अपना स्थान पृथक् रखती है।

इन्दुमती के स्वयंवर में सुनन्दा और शृंगारवती के स्वयंवर में सुभद्रा उपस्थित राजाओं का परिचय देती है। दोनों की परिचय शैली में समानता है।

> ततो नृपाणां श्रुतवृत्तवंशा पुंवत्प्रगल्भा प्रतिहाररक्षी ।
> प्राक् सन्निकर्षं मगधेश्वरस्य नीत्वा कुमारीमवदत्सुनन्दा ॥६-२०॥
>
> —रघुवंश

तदनन्तर जिसने राजाओं के आचार और वंश को सुन रखा था, और जो पुरुष समान प्रगल्भ थी ऐसी सुनन्दा प्रतीहारी सबसे पहले इन्दुमती को मगधेश्वर के समीप ले जाकर बोली।

> अथ प्रतीहारवधूः सदुक्तिः भूपालशीलान्वयविज्ञमुख्या ।
> प्रगल्भवागित्यनुमालवेन्द्रं नीत्वा सुभद्राभिदधे कुमारीम् ॥१७-३२॥
>
> —धर्मशर्माभ्युदय

तदनन्तर जिसने समस्त राजाओं के आचार और वंश को सुन रखा था तथा जिसकी वाणी सारपूर्ण थी ऐसी प्रतीहारी पद पर नियुक्त सुभद्रा, कुमारी—शृंगारवती को मालवनरेश के समीप ले जाकर बोली।

राजाओं के परिचयदान की यह पद्धति विक्रान्तकौरव और नैषधीयचरित में भी अपनायी गयी है। विक्रान्तकौरव में प्रतीहार परिचय देता है और नैषधीयचरित में सरस्वती देती है, नैषधीयचरित का परिचय सरस्वती के अनुरूप वाणी में दिया गया अवश्य है, पर उससे स्वाभाविकता का प्रतिघात हुआ है।

कुमारसम्भव में कालिदास ने पार्वती के यौवनारम्भ का वर्णन करते हुए लिखा है—

> असंभृतं मण्डनमङ्गयष्टेरनासवाख्यं करणं मदस्य[1] ।
> कामस्य पुष्पव्यतिरिक्तमस्त्रं बाल्यात्परं साथ वयः प्रपेदे ॥१-३१॥
>
> —कुमारसम्भव

तदनन्तर पार्वती बाल्यावस्था के बाद आनेवाली उस यौवन अवस्था को प्राप्त हुई जो शरीरयष्टि का बिना धारण किया आभूषण थी, मदिरा से भिन्न मद का कारण थी तथा कामदेव का पुष्पातिरिक्त शस्त्र थी।

उपर्युक्त पद्य के प्रथम पाद को लेकर हरिचन्द्र ने धर्मशर्माभ्युदय में वृद्धावस्था का कितना सजीव वर्णन किया है, यह देखिए—

---

१. विक्रान्तकौरव में हस्तिमल्ल द्वारा सुलोचना का सौन्दर्य वर्णन देखिए,

> शीतांशोरविनिःसृता नयनयोराह्लादिनी चन्द्रिका
> प्रागन्तर्दधती मदं च मदिरा तन्त्रै रनिर्वर्तिता ।
> पुष्पैरग्रथिता निसर्गललिता माला मनोहारिणी
> कीमुत्पादकृतोज्झितः स्थिरमिता विद्युत्सुलोचना ॥२६॥
>
> —विक्रान्तकौरव, अंक ३।

असंभृतं मण्डनमङ्गयष्टेर्नष्टं क्व मे यौवनरत्नमेतत् ।
इतीव वृद्धो नतपूर्वकायः पश्यन्नधोऽधो भुवि बम्भ्रमीति ॥४-५९॥

—धर्मशर्माभ्युदय

जो शरीरयष्टि का बिना पहना हुआ आभूषण था ऐसा मेरा यौवन-रूपी रत्न कहाँ गिर गया ? मानो उसे खोजने के लिए ही वृद्ध मनुष्य अपना पूर्वभाग झुकाकर नीचे देखता हुआ पृथिवी पर इधर-उधर चलता है ।

यहाँ कालिदास के यौवनवर्णन के पद को हरिचन्द्र ने वृद्धावस्था के वर्णन में कितनी सुन्दरता से संजोया है यह दर्शनीय है ।

दशकुमारचरित में अवन्ति सुन्दरी के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए दण्डी ने निम्न पंक्तियाँ लिखी हैं—

'ललनाजनं सृजता विधात्रा नूनमेषा घुणाक्षरन्यायेन निर्मिता । नो चेदब्जभूरेवंविधो निर्माणनिपुणो यदि स्यात्तर्हि तत्समानलावण्यामन्यां तरुणीं किं न करोति ?' इति सविस्मयानुरागं विलोकयतस्तस्य समक्षं स्थातुं लज्जिता सती—

पूर्वपीठिका, पंचम उच्छ्वास

अवन्ति सुन्दरी को देखता हुआ राजवाहन विचार करने लगा कि स्त्रियों की रचना करनेवाले ब्रह्माजी से सचमुच ही यह घुणाक्षरन्याय से बन गयी है । यदि ऐसा नहीं है और ब्रह्माजी वास्तव में ऐसी रचना करने में निपुण हैं तो वे इसके समान लावण्यवाली दूसरी तरुणी को नहीं बनाते ?

ठीक यही उत्प्रेक्षा धर्मशर्माभ्युदय में सुव्रता के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए हरिचन्द्र ने अंगीकृत की है । श्लोक इस प्रकार है—

समग्रसौन्दर्यविधिद्विषो विधेर्घुणाक्षरन्यायवशादसावभूत् ।
तदास्य जाने निपुणत्वमीदृशीमनन्यरूपां कुरुते यदापराम् ॥६१॥ —सर्ग २

समस्त सौन्दर्यविधि से द्वेष रखनेवाले विधाता से यह सुव्रता, घुणाक्षरन्याय से बन गयी है । इनकी चतुराई तो मैं तब जानूँ जब यह ऐसी ही असाधारण रूपवाली दूसरी स्त्री को बना देते ।

चन्द्रप्रभचरित के चतुर्थ सर्ग में दीक्षा लेने के लिए उद्यत राजा श्रीषेण ने पुत्र के लिए जो मार्मिक उपदेश दिया है (३२-४४) उसका विस्तार धर्मशर्माभ्युदय के १८वें सर्ग में (६-४४) महाकवि हरिचन्द्र ने किया है । कितने ही श्लोकों में भावसाम्य भी परिलक्षित होता है । यथा—

समागमो निर्व्यसनस्य राज्ञः स्यात्संपदां निर्व्यसनत्वमस्य ।
वश्ये स्वकीये परिवार एव तस्मिन्नवश्ये व्यसनं गरीयः ॥३७॥
विधित्सुरेनं तदिहात्मवश्यं कृतज्ञतायाः समुपैहि पारम् ।
गुणैरुपेतोऽप्यपरैः कृतघ्नः समस्तमुद्वेजयते हि लोकम् ॥३८॥

—चन्द्रप्रभचरित, सर्ग ४

अचिन्त्यचिन्तामणिमर्थसंपदां यशस्तरोः स्थानकमेकमक्षतम् ।
अशेषभूभृत्परिवारमातरं कृतज्ञतां तामनिशं स्वमाश्रय ।।२१।।

—धर्मशर्माभ्युदय, सर्ग १८

धर्माविरोधेन नयस्व वृद्धिं त्वमर्थकामौ कलिदोषमुक्तः ।
युक्त्या त्रिवर्गं हि निषेवमाणो लोकद्वयं साधयति क्षितीशः ।।३९।।

—चन्द्रप्रभ, सर्ग ४

सुखं फलं राज्यपदस्य जल्पते तदत्र कामेन स चार्थसाधनः ।
विमुच्य तौ चेदिह धर्ममीहसे वृथैव राज्यं वनमेव सेव्यताम् ।।३१।।
इहार्थकामाभिनिवेशलालसः स्वधर्ममर्माणि भिनत्ति यो नृपः ।
फलाभिलाषेण समीहते तरुं समूलमुन्मूलयितुं स दुर्मतिः ।।३२।।

—धर्मशर्माभ्युदय, सर्ग १८

माघ के शिशुपालवध का धर्मशर्माभ्युदय पर क्या प्रभाव है ? इसका विचार एक स्वतन्त्र स्तम्भ में करेंगे । यहाँ, हरिचन्द्र ने अपने उत्तरवर्ती कवियों पर क्या प्रभुता स्थापित की है इसके कुछ उदाहरण देखिए ।

सुव्रता रानी के मुखसौन्दर्य का वर्णन करते हुए हरिचन्द्र ने लिखा है—

कपोलहेतोः खलु लोलचक्षुषो विधिर्व्यधात्पूर्णसुधाकरं द्विधा ।
विलोक्यतामस्य तथाहि लाञ्छनच्छलेन पश्चात्कृतसीवनव्रणम् ।।२-५०।।

—धर्मशर्माभ्युदय

ऐसा लगता है मानो विधाता ने उस चपललोचना के कपोल बनाने के लिए पूर्ण चन्द्र के दो टुकड़े कर दिये हों । देखो न, इसीलिए तो उस चन्द्रमा में कलंक के बहाने पीछे से की हुई सिलाई के चिह्न विद्यमान हैं ।

अब नैषधीयचरित में दमयन्ती के मुखसौन्दर्य का वर्णन करते हुए श्रीहर्ष की सूक्ति देखिए—

हृतसारमिवेन्दुमण्डलं दमयन्तीवदनाय वेधसा ।
कृतमध्यबिलं विलोक्यते धृतगम्भीरखनीखनीलिम ।।२-२५।।

—नैषधीयचरित

जान पड़ता है विधाता ने दमयन्ती का मुख बनाने के लिए चन्द्रमण्डल का सार निकाल लिया था, इसीलिए तो बीच में गड्ढा हो जाने के कारण उसके मध्य आकाश की नीलिमा दिखाई देती है ।

गन्धर्वदत्ता के चरणयुगल की सुन्दरता का वर्णन करते हुए हरिचन्द्र की उक्ति देखिए—

सरोजयुग्मं बहुधा तपःस्थितं बभूव तस्याश्चरणद्वयं ध्रुवम् ।
न चेत्कथं तत्र च हंसकाविमौ समेत्य हृद्यं तनुतां कलस्वनम् ।।५१।।

—जीवन्धरचम्पू, लम्भ ३

यतश्च कमलयुगल ने अनेक प्रकार से तप में (पक्ष में, धूप में) स्थिर रहकर पुण्य-संचय किया था इसीलिए फलस्वरूप उसके दोनों चरण बन सके थे, यदि ऐसा न होता तो दोनों चरण हंसों (पक्ष में, पादकटकों) का आश्रय लेकर हृदयहारी मनोहर शब्द कैसे करते ?

अब दमयन्ती के चरणयुगल का वर्णन करते हुए श्रीहर्ष की सूक्ति देखिए—

जलजे रविसेवयेव ये पदमेतत्पदतामवापतुः ।
ध्रुवमेत्य रुतः सहंसकी कुरुतस्ते विधिपत्रदम्पती ।।३८।।

—नैषधीयचरित, सर्ग २

ऐसा जान पड़ता है कि जो दो कमल, सूर्य की उपासना करने से दमयन्ती के चरणयुगल-रूप पद को प्राप्त हुए थे उन्हें हंसदम्पती अपनी रुनझुन से मानो सहंसक—हंससहित (पक्ष में, पादकटक से सहित) करते हैं।

यहाँ हरिचन्द्र के 'बहुधातपःस्थितं' पद के श्लेष ने जो चमत्कार उत्पन्न किया है वह श्रीहर्ष के 'रविसेवयेव' इस साधारण पद में नहीं आ सका है।

'यस्य च रिपु महिला वनमध्यमध्यासीनाः.........स्वशिशुभ्यः पूर्ववासनावशेन क्रीडाराजहंसमानयेति निर्भर्त्संयद्भयो बाष्पाम्बुपूरपूरित-वदन-कमलनयनमीनप्रतिबिम्ब-परिष्कृतस्तनान्तरसरोवर-प्रतिफलित-चन्द्रमसं निर्दिश्यायं ते हंसो ममापि विरहाग्नि-व्यालीढवपुषस्तयेतिपरिसान्त्वयामासुः ।'

जीवन्धरचम्पू की इस गद्य का बहुत कुछ भाव नैषधीयचरित के निम्नांकित श्लोक में अवतीर्ण हुआ है—

एतद्भीतारिसारी गिरिबिलविगलद्वासरा निःसरन्ती
स्वक्रीडाहंसमोहग्रहिलशिशुभृशप्रार्थितोशिद्रचन्द्रा ।
आक्रन्दद्भूरियत्तश्रयनजलमिलच्चन्द्रहंसानुबिम्ब-
प्रत्यासत्तिप्रहृष्यत्तनयविहसितैराश्वसीत्यश्वसीच्च ।।२८।।

—नैषधीयचरित, सर्ग १२

अब हरिचन्द्र की सूक्तिसुधा से पुरुदेवचम्पू के कर्ता अर्हद्दास कितने प्रभावित हैं, इसके कुछ उदाहरण देखिए—

बालक धर्मनाथ के कपोलों की लाली का वर्णन करते हुए हरिचन्द्र ने कहा है—

औत्सुक्यनुन्ना शिशुमप्यसंशयं चुचुम्ब मुक्तिर्निभृतं कपोलयोः ।
मणिक्यताटङ्ककरापदेशतस्तयाहि ताम्बूलरसोऽत्र संगतः ।।९-६।।

—धर्मशर्माभ्युदय

यद्यपि उस समय भगवान् बालक ही थे फिर भी मुक्तिरूपी लक्ष्मी ने उत्कण्ठा से प्रेरित हो उनके कपोलों का निःसन्देह जमकर चुम्बन कर लिया था इसीलिए तो मणिमय कर्णाभरण की किरणों के बहाने उनके कपोलों पर मुक्ति-लक्ष्मी के पान का लाल-लाल रस लग गया था।

अब पुरुदेवचम्पू में अर्हद्दास की सूक्ति देखिए—

जीवन्धर स्वामी की बालकालीन प्रथम गति का वर्णन हरिचन्द्र के शब्दों में देखिए—

क्रमेण सोऽयं मणिकुट्टिमाङ्गणे नखस्फुरत्कान्तिसरोभिरञ्चिते।
स्खलत्पदं कोमलपादपङ्कजक्रमं ततान प्रसवास्तृते यथा ॥१०४॥

—जीवन्धरचम्पू, लम्भ १

क्रम-क्रम से वह बालक नखों की फैलती हुई कान्तिरूपी झरनों से सुशोभित अतएव फूलों से आच्छादित के समान दिखनेवाले मणियों के आँगन में लड़खड़ाते पैरों से कोमलचरण-कमलों की डग फैलाने लगा।

अब अर्हद्दास के शब्दों में भगवान् आदिनाथ की बालकालीन गति का वर्णन देखिए—

प्रवेपमानाग्रपदं नृपात्मजश्चचाल देवीजनदत्तहस्तः।
नखप्रभाभिर्मणिकुट्टिमाङ्गणे तन्वन्प्रसूनास्तरणस्य शङ्काम् ॥३९॥

—पुरुदेवचम्पू

देवियों के द्वारा जिन्हें हाथ का आलम्बन दिया गया था ऐसे राजपुत्र भगवान् वृषभदेव, मणिखचित आँगन में नखों की प्रभा से पुष्पास्तरण की शंका को विस्तृत करते हुए डगमग पैरों से चलने लगे।

अभिषेक के अनन्तर हरिचन्द्र के शब्दों में जिनबालक का वर्णन देखिए—

सिक्तः सुरैरित्यमुणेत्य विस्फुरज्जटालवालोऽथ स नन्दनद्रुमः।
छायां दधत्काञ्चन सुन्दरीं नवां सुखाय वप्तुः सुतरामजायत ॥१॥

—धर्मशर्माभ्युदय, सर्ग ९

इस प्रकार देवों के द्वारा अभिषिक्त (पक्ष में, सींचा हुआ) घुँघराले बालों से सुशोभित (पक्ष में, मूल और क्यारी से युक्त) सुवर्ण-जैसी सुन्दर और नूतन कान्ति को धारण करनेवाला (पक्ष में, अद्भुत-नूतन छाया को धारण करनेवाला) वह पुत्र-रूपी वृक्ष (पक्ष में, नन्दन वन का वृक्ष) पिता के लिए (पक्ष में, बोनेवाले के लिए) अतिशय सुखकर हुआ था।

अब मन्द-मन्द मुसकान से युक्त जिन-बालक का वर्णन अर्हद्दास की वाणी में देखिए—

जिननन्दनद्रुमोऽयं सिक्तो देवैः स्वकालवालेद्धः।
स्मितकुसुमानि दधे द्राक् सन्तानस्तत्र काञ्चनच्छायाम् ॥३१॥

—पुरुदेवचम्पू, स्तबक ५

देवों से अभिषिक्त (पक्ष में, सींचा हुआ) अपने काले बालों से सुशोभित (पक्ष में, अपनी क्यारी से सुशोभित) तथा सुवर्ण-जैसी कान्ति (पक्ष में, किसी

अद्भुत छाया) को विस्तृत करनेवाले इस जिननन्दनद्रुम—जिनबालकरूप वृक्ष ने शीघ्र ही मन्द मुसकान रूप फूलों को धारण किया था[1]।

इसी सन्दर्भ में कुछ उद्धरण असग कविकृत[2] वर्धमानचरित के भी द्रष्टव्य हैं जिनमें धर्मशर्माभ्युदय और जीवन्धरचम्पू की सूक्तियों से सादृश्य स्पष्ट ही परिलक्षित होता है—

जीवन्धरचम्पू में हरिचन्द्र का नगरी वर्णन देखिए—

प्रथिता विभाति नगरी गरीयसी धुरि यत्र रम्य-युवतीमुखाम्बुजम् ।
कुरुविन्दकुण्डलविभाविभावितं प्रविलोक्य कोपमिव मन्यते जनः ॥२५॥

—जीवन्धरचम्पू, लम्भ ६

देखो, यह सामने एक बड़ी प्रसिद्ध नगरी सुशोभित हो रही है। यहाँ किसी सुन्दरी स्त्री का मुखकमल जब पद्मराग मणि निर्मित कुण्डलों की प्रभा से रक्तवर्ण हो जाता है तब उसे देख उसका पति समझने लगता है कि मानो इसे क्रोध आ गया है।

वर्धमानचरित में असग कवि का नगरी वर्णन देखिए—

यत्रोल्लसत्कुण्डल-पद्मरागच्छायावतंसारुणिताननेन्दुः ।
प्रसाद्यते किं कुपितेति कान्ता प्रियेण कामाकुलितो हि मूढः ॥२६॥

—वर्धमानचरित, सर्ग १

जहाँ शोभायमान कुण्डलों में खचित पद्मराग मणियों की कान्ति से लालमुख-वाली स्त्री, क्या यह कुपित हो गयी है ? इस भय से पति के द्वारा प्रसन्न की जाती है सो ठीक है क्योंकि काम से आकुलित मनुष्य मूढ़ होता ही है।

जीवन्धरचम्पू में रानी विजया का सौन्दर्य-वर्णन देखिए—

सौदामिनीव जलदं नवमञ्जरीव चूतद्रुमं कुसुमसंपदिवाद्यमासम् ।
ज्योत्स्नेव चन्द्रमसमच्छविभेव सूर्यं तं भूमिपालकमभूषयदायताक्षी ॥२७॥

—जीवन्धरचम्पू, लम्भ १

जिस प्रकार बिजली मेघ को, नूतन मंजरी आम्रवृक्ष को, पुष्पसम्पत्ति चैत्र मास को, चाँदनी चन्द्रमा को, और प्रभा सूर्य को अलंकृत करती है उसी प्रकार वह विजया रानी राजा सत्यन्धर को अलंकृत करती थी।

इसी तरह वर्धमान-चरित का भी रानी-वर्णन देखिए—

विद्युल्लतेवाभिनवाम्बुवाहं चूतद्रुमं नूतनमञ्जरीव ।
स्फुरत्प्रभेवामल-पद्मरागं विभूषयामास तमायताक्षी ॥४४॥

—वर्धमानचरित, सर्ग १

---

१. हरिचन्द्र और अर्हद्दास की वाणी के 'आदान-प्रदान' को सूचित करनेवाले अन्य अनेक उदाहरण हमने भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसी से प्रकाशित 'पुरुदेवचम्पू प्रबन्ध' की प्रस्तावना में दिये हैं।

२. वर्धमानचरित मेरे द्वारा सम्पादित और हिन्दी में अनुदित होकर जीवराज ग्रन्थमाला सोलापुर से प्रकाशित हो रहा है। इसका एक संस्करण जिनदास शास्त्री कृत मराठी अनुवाद के साथ सोलापुर से बहुत पहले भी प्रकाशित हुआ था।

भाव स्पष्ट है।

यतश्च वर्धमानचरित की रचना वि. स. १०४५ में हुई है अतः महाकवि हरिचन्द्र माघ के समान उससे भी प्रभावित हैं।

शिशुपालवध और धर्मशर्माभ्युदय

महाकवि हरिचन्द्र ने शिशुपालवध से पर्याप्त प्रेरणा प्राप्त की है। यद्यपि धर्मशर्माभ्युदय की वर्णन-शैली, भाषामाधुरी और अलंकार की विच्छित्ति पर्याप्त उच्च-कोटि की है, तथापि पर्वत, ऋतु, वनक्रीड़ा, जलक्रीड़ा, प्रभात, सूर्योदय, चन्द्रोदय आदि के वर्णन का क्रम शिशुपालवध से प्रभावित है। शिशुपालवध के चतुर्थ सर्ग में माघ ने रैवतक पर्वत का नाना छन्दों में वर्णन किया है। इसी प्रकार हरिचन्द्र ने धर्मशर्माभ्युदय के दशम सर्ग में विन्ध्यगिरि का नाना छन्दों में वर्णन किया है। यमकालंकार के लिए भी दोनों काव्यों में स्थान दिया गया है। यहाँ शिशुपालवध और धर्मशर्माभ्युदय के सादृश्य को सूचित करनेवाले कुछ पद्य देखिए—

> दृष्टोऽपि शैलः स मुहुर्मुरारेरपूर्ववद्विस्मयमाततान।
> क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः ॥१७॥

—शिशुपाल, सर्ग ४

वह रैवतक गिरि यद्यपि श्रीकृष्ण का बार-बार देखा हुआ था तथापि उस समय अपूर्व की तरह आश्चर्य उत्पन्न कर रहा था सो ठीक ही है क्योंकि जो क्षण-क्षण में नूतनता को प्राप्त होता है वही रमणीयता का स्वरूप है।

> स दृष्टमात्रोऽपि गिरिर्गरीयांस्तस्य प्रमोदाय विभोर्बभूव।
> गुणान्तरापेक्ष्यमभीष्टसिद्ध्यै नहि स्वरूपं रमणीयतायाः ॥१४॥

—धर्मशर्माभ्युदय, सर्ग १०

वह विशाल विन्ध्याचल दिखलाई पड़ते ही भगवान् धर्मनाथ के आनन्द के लिए हो गया। यह ठीक ही है, क्योंकि अभीष्ट की सिद्धि के लिए सुन्दरता का रूप किसी दूसरे गुण की अपेक्षा नहीं रखता।

शिशुपालवध में रैवतकगिरि का वर्णन माघ ने दारुक से कराया है तो धर्मशर्माभ्युदय में हरिचन्द्र ने प्रभाकर से कराया है और दोनों ने ही इस वर्णन में यमक का अवलम्बन किया है—

> उच्चारणज्ञोऽथ गिरां दधानमुच्चा रणत्पक्षिगणास्तटीस्तम्।
> उत्कं धरं द्रष्टुमवेक्ष्य शौरिमुत्कंधरं दारुक इत्युवाच ॥१८॥

—शिशुपाल, सर्ग ४

शब्द करते हुए पक्षियों से युक्त ऊँचे तटों को धारण करनेवाले उस पर्वत को देखने के लिए उद्ग्रीव—उत्कण्ठित श्रीकृष्ण को देख वचनों के उच्चारण को जाननेवाला दारुक इस प्रकार बोला।

सुहृत्तमः सोऽथ सभासु हृत्तमःप्रभाकरश्छेत्तुमिति प्रभाकरः
धरे क्षणं व्यापृतकंधरेक्षणं तमीश्वरं प्राह जगत्तमीश्वरम् ॥१५॥

—धर्मशर्माभ्युदय, सर्ग १०

तदनन्तर वह प्रभाकर मित्र, जो सभाओं में हृदयगत अन्धकार को छेदने के लिए साक्षात् प्रभाकर—सूर्य था, जगच्चन्द्र भगवान् धर्मनाथ को पर्वत पर व्यापृतग्रीव और व्यापृत—नेत्र देखकर उल्लास-पूर्वक बोला।

जिस प्रकार शिशुपालवध के षष्ठ सर्ग में ऋतु-वर्णन के लिए माघ ने द्रुत-विलम्बित छन्द को चुना है और उसके चतुर्थ चरण में एकपदव्यापी यमक को स्थान दिया है उसी प्रकार धर्मशर्माभ्युदय के एकादश सर्ग में भी हरिचन्द्र ने द्रुतविलम्बित छन्द को चुना है और उसके चतुर्थ चरण में एकपदव्यापी यमक को स्थान दिया है। जिस प्रकार बीच-बीच में कहीं चारों चरणों में व्याप्त यमक को माघ ने अपनाया है इसी प्रकार कहीं-कहीं हरिचन्द्र ने भी चारों चरण-व्यापी यमक को अपनाया है। यथा—

नवपलाशपलाशवनं पुरः स्फुटपरागपरागतपङ्कजम्।
मृदुलतान्तलतान्तमलोकयत्स सुरभिं सुरभिं सुमनोभरैः ॥२॥

—शिशुपालवध, सर्ग ६

कलविराजिविराजितकानने नवरसालरसालसषट्पदः।
सुरभिकेसरकेसरशोभितः प्रविससार स सारबलो मधुः ॥१०॥

—धर्मशर्माभ्युदय, सर्ग ११

शिशुपालवध के सप्तम सर्ग में वनक्रीड़ा का वर्णन है। श्रीकृष्ण, वन-विहार के लिए निकले इस सन्दर्भ का वर्णन माघ के शब्दों में है—

अनुगिरमृतुभिर्वितायमानामथ स विलोकयितुं वनान्तलक्ष्मीम्।
निरगमदभिराद्धुमादृतानां भवति महत्सु न निष्फलः प्रयासः ॥१॥

—सर्ग ७

तदनन्तर श्रीकृष्ण रैवतक गिरि पर ऋतुओं के द्वारा विस्तारित वनान्त-सुषमा को देखने के लिए शिविर से बाहर निकले, सो ठीक ही है क्योंकि श्रेष्ठ पुरुषों की सेवा में तत्पर रहनेवाले लोगों का प्रयास व्यर्थ नहीं जाता।

धर्मशर्माभ्युदय के बारहवें सर्ग में हरिचन्द्र भी कहते हैं—

दिदृक्षया काननसंपदां पुरादथायमिक्ष्वाकुपतिर्विनिर्ययौ।
विधीयतेऽन्योऽप्यनुयायिनां गुणैः समाहितः किं न तथाविधः प्रभुः ॥१?॥

—सर्ग १२

तदनन्तर इक्ष्वाकुवंश के अधिपति भगवान् धर्मनाथ वनवैभव देखने की इच्छा से नगर के बाहर निकले, सो ठीक ही है क्योंकि जब साधारण मनुष्य भी अनुयायियों के अनुकूल प्रवृत्ति करने लगते हैं, तब गुणशाली उन प्रभु का कहना ही क्या?

यदुवंशियों ने स्त्रियों के साथ वन-विहार किया था इसमें माघ ने जो युक्ति दी है ठीक वही युक्ति हरिचन्द्र ने भी दी है। दोनों की युक्तियाँ देखिए—

दधति सुमनसो वनानि बह्वीर्युवतियुता यदवः प्रयातुमीषुः।
मनसिशयमहास्त्रमन्यथामी न कुसुमपञ्चकमप्यलं विसोढुम् ॥२॥
—शिशुपाल वध, सर्ग ७

यदुवंशियों ने अनेक फूलों को धारण करनेवाले वनों में स्त्रियों के सहित ही जाने की इच्छा की थी क्योंकि वे अन्यथा—स्त्रियों के बिना काम के अमोघ शस्त्रस्वरूप पाँच फूलों को भी सहन करने में समर्थ नहीं थे।

विकासिपुष्पद्रुणि कानने जनाः प्रयातुमीषुः सह कामिनीगणैः।
स्मरस्य पञ्चापि न पुष्पमार्गणा भवन्ति सह्याः किमसंख्यतां गताः॥
—धर्मशर्माभ्युदय १२-३

खिले हुए पुष्पवृक्षों से युक्त वन में मनुष्यों ने स्त्री-समूह के साथ ही जाना अच्छा समझा। क्योंकि जब काम के पाँच ही बाण सह्य नहीं होते तब असंख्य बाण सह्य कैसे हो सकेंगे?

जलक्रीड़ा आदि में भी माघ का प्रभाव परिलक्षित होता है। जैसा कि आगे दिये जानेवाले तत्तत्प्रकरणों के उद्धरणों से सिद्ध होगा।

चन्द्रप्रभचरित और धर्मशर्माभ्युदय

वीरनन्दी का 'चन्द्रप्रभचरित'[1] एक उच्चकोटि का काव्य है। उसमें अष्टम तीर्थंकर चन्द्रप्रभ का जीवनवृत्त अंकित है। पूर्वभव-वर्णन के प्रसंग में चन्द्रप्रभचरित के अष्टम, नवम और दशम सर्ग कवित्व की दृष्टि से निरुपम हैं। इन सर्गों में कवि ने ऋतुचक्र, वन-क्रीड़ा, जल-क्रीड़ा, प्रदोष, चन्द्रोदय, सम्भोग शृंगार और प्रभात-वर्णन में अपनी काव्य-प्रतिभा का अच्छा परिचय दिया है। ऐसा लगता है कि उपर्युक्त वस्तुओं के वर्णन में माघ और हरिचन्द्र दोनों ही ने वीरनन्दी से प्रेरणा प्राप्त की है। वीरनन्दी ने षड् ऋतुओं का वर्णन न कर मात्र वसन्त ऋतु का वर्णन किया है परन्तु माघ और हरिचन्द्र ने दिव्य नायकों की प्रभुता प्रकट करने के लिए षड् ऋतुओं का वर्णन किया है। दूतीप्रेषण तीनों काव्यों में एक सदृश है। इसकी वन-क्रीड़ा भी संक्षिप्त है। स्त्रियों के प्रति चाटुवचनों का जो उपक्रम वीरनन्दी ने किया है उसे माघ और हरिचन्द्र ने पल्लवित किया है।

चन्द्रप्रभ में एक नायक अपनी स्त्री से कह रहा है—

हित्वो विहाय मम लोचनहारि नृत्तं
गन्तुं शिखी सुमुखि तत्र यदि व्यवस्येत्।

---

१. अमृतलालजी जैनदर्शनाचार्य वाराणसी के द्वारा सुसम्पादित और हिन्दी में अनूदित होकर जीवराज ग्रन्थमाला सोलापुर से प्रकाशित।

कार्यस्त्वया स्मरनिवास-नितम्बचुम्बी
चीनांशुकेन पिहितो निजकेशपाशः ॥
—चन्द्रप्रभ, ८-५४

हे सुमुखि ! यदि वहाँ मयूर लज्जित हो मेरे नेत्रों को हरण करनेवाला नृत्य छोड़कर जाने को उद्यत हो तो तुम्हें काम के निवासभूत नितम्ब का चुम्बन करनेवाला अपना केश पास चीनांशुक से ढक लेना चाहिए (क्योंकि तुम्हारे केशपाश से ही वह लज्जित होकर भागना चाहता होगा) ।

माघ ने भी स्त्री के माल्यग्रथित केशपाश से लज्जित होकर भागनेवाले मयूर का ऐसा ही वर्णन किया है—

दृष्ट्वैव निर्जितकलापभरामधस्ताद्
व्याकीर्णमाल्यकबरां कबरीं तरुण्याः ।
प्राद्रवत्सपदि चन्द्रकवान्द्रुमाग्रात्
संघर्षिणा सह गुणाभ्यधिकैर्दुरासम् ॥१९॥

किसी वृक्ष पर मयूर बैठा था । ज्यों ही उसने वृक्ष के नीचे अपने पिच्छभार को जीतनेवाली, गुम्फित-मालाओं से चित्र-विचित्र किसी युवती की चोटी देखी त्यों ही वह शीघ्र भाग गया, सो ठीक ही है क्योंकि ईर्ष्यालु प्राणी अधिक गुणवालों के साथ एकत्र नहीं रह सकते ।

चन्द्रप्रभ में केशपाश को चित्रित करनेवाला कोई विशेषण नहीं दिया है जबकि शिशुपालवध में 'व्याकीर्णमाल्यकबरां' विशेषण देकर उसे मयूरपिच्छ के अत्यन्त सदृश बना दिया है ।

इसी सन्दर्भ को हरिचन्द्र ने एक दूसरे ढंग से निम्न प्रकार प्रस्तुत किया है—

शिखण्डिनां ताण्डवमत्र वीक्षितुं तवास्ति चेच्चेतसि तन्वि कौतुकम् ।
समाल्यमुद्दामनितम्बचुम्बिनं सुकेशि तत्संवृणु केशसञ्चयम् ॥२४॥
—धर्मशर्माभ्युदय, सर्ग १२

हे तन्वि ! यदि तेरे चित्त में यहाँ मयूरों का ताण्डव नृत्य देखने का कौतुक है तो हे सुकेशि ! स्थूल-नितम्बों का चुम्बन करनेवाले, मालाओं सहित इस केश-समूह को ढक ले ।

चन्द्रप्रभचरित में पुष्पावचय के समय एक पुरुष अपनी स्त्री के वक्षःस्थल पर बकुलमाला पहनाता हुआ जिन चाटु वचनों का आश्रय लेता है ठीक उन्हीं वचनों का आश्रय जीवन्धरचम्पू में भी लिया गया है । देखिए —

वपुषि कनकभासि चम्पकानां सुदति न ते परभागमेति माला ।
स्तनतटमिति संस्पृशन् प्रियाया हृदि रमणो बकुलस्रजं बबन्ध ॥९-२४॥
—चन्द्रप्रभ

हे सुन्दर दाँतोंवाली प्रिये! सुवर्ण के समान कान्तिवाले तुम्हारे शरीर पर यह चम्पक की माला वर्णोत्कर्ष को प्राप्त नहीं हो रही है, इस प्रकार कहकर किसी पुरुष ने प्रिया के स्तनतट का स्पर्श करते हुए बकुल पुष्पों की माला बाँध दी।

वपुषि कनकगौरे चम्पकानां स्रगेषा
वितरति परभागं नेति कश्चित्प्रियायाः।
उरसि बकुलमालामाबबन्धाम्बुजाक्ष्याः
स्तनकलशसमीपे चालयन्पाणिपद्मम् ॥१०॥

—जीवन्धरचम्पू, लम्भ ४

यतः तुम्हारा शरीर सुवर्ण के समान पीला है अतः उसपर यह चम्पे की माला खिलती नहीं है ऐसा कहकर स्तनकलश के समीप हाथ चलाते हुए किसी पुरुष ने अपनी स्त्री के वक्षःस्थल पर मौलश्री की माला बाँध दी।

जलक्रीड़ा के बाद स्त्रियों द्वारा छोड़े जानेवाले गीले वस्त्रों का वर्णन चन्द्रप्रभ-चरित में देखिए—

कुवलयनयनाभिस्त्यज्यमानान्यमुपुलिने सरसानि रागवन्ति।
मुमुचुरिव शुचाश्रुणः प्रवाहं स्रवणपदेन पुरातनांशुकानि ॥५८॥

—चन्द्रप्रभ., सर्ग ९

कुवलय के समान नेत्रोंवाली स्त्रियों ने सरसी के तट पर जो गीले-रंगीले वस्त्र छोड़े थे वे पानी झरने के बहाने मानो शोकवश आँसू ही छोड़ रहे थे।

माघ ने धारण किये जानेवाले नवीन सफ़ेद वस्त्र और छोड़े जानेवाले गीले वस्त्रों का एक साथ वर्णन करते हुए कहा है—

वासांसि न्यवसत यानि योषितस्ताः
शुभ्राभ्रद्युतिभिरहासि तैर्मुदेव।
अत्याक्षुः स्नपनगलज्जलानि यानि
स्थूलाम्बुस्रुतिभिररोदि तैः शुचेव ॥६६॥—शिशुपाल., सर्ग ८

उन स्त्रियों ने जो वस्त्र पहने थे उन्होंने हर्ष से ही मानो सफ़ेद मेघों की कान्ति का हास्य किया था और जिन जल झरानेवाले वस्त्रों को छोड़ा था वे शोक से ही मानो रो रहे थे।

चन्द्रप्रभ और धर्मशर्माभ्युदय के वर्णनीय विषयों में सादृश्य पाया जाता है। चन्द्रप्रभ में मुनिदर्शन का प्रकरण उपस्थित है तो धर्मशर्माभ्युदय में भी वह प्रकरण उपस्थित किया गया है। इस सन्दर्भ में दोनों काव्यों में अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग किया गया है। इतना अवश्य है कि धर्मशर्माभ्युदय के कवि ने काव्यप्रतिभा का चमत्कार विशेष दिखाया है। चन्द्रप्रभ का दर्शनशास्त्रविषयक वर्णन विस्तृत हो

१. द्वितीय सर्ग, ४१-१००।

जाने से काव्य की सुषमा में बाधा उपस्थित करता है इसलिए धर्मशर्माभ्युदय के कर्ता ने उसे संक्षिप्त कर मात्र चार्वाक-दर्शन[1] की समीक्षा तक सीमित किया है। पुत्राभाव की वेदना का वर्णन जैसा चन्द्रप्रभचरित[2] में किया गया है वैसा ही धर्मशर्माभ्युदय[3] में भी किया गया है। शैली अपनी-अपनी अवश्य है। धर्मशर्माभ्युदय के ऋतुवर्णन, वनक्रीडा, जलक्रीड़ा, चन्द्रोदय तथा सम्भोग आदि के वर्णन चन्द्रप्रभ के अनुरूप हैं। चन्द्रप्रभ[4] में पिता ने पुत्र के लिए जो उपदेश दिया है उसका विस्तृत रूप धर्मशर्माभ्युदय[5] में दिया है। उपदेश की कितने ही बातों का दोनों ग्रन्थों में सादृश्य पाया जाता है। चन्द्रप्रभ-[6] चरित में जैनधर्म का उपदेश जिस क्रम से रखा गया है वही क्रम धर्मशर्माभ्युदय[7] में भी अपनाया गया है। चन्द्रप्रभचरित के १५वें सर्ग में अनुष्टुप् छन्द द्वारा युद्ध का वर्णन किया गया है और उसमें यमक तथा चित्रालंकार का आश्रय लिया गया है। उसी प्रकार धर्मशर्माभ्युदय के १९वें सर्ग में अनुष्टुप् छन्द के द्वारा युद्ध का वर्णन किया गया है और उसमें यमक तथा चित्रालंकार का आश्रय लिया गया है। इसी प्रकार शिशुपालवध के १९वें सर्ग में भी युद्ध का वर्णन करने के लिए अनुष्टुप् छन्द और यमक तथा चित्रालंकार को स्वीकृत किया गया है। चन्द्रप्रभ का दिग्विजय[8] वर्णन रघुवंश के दिग्विजय[9] वर्णन से प्रभावित है।

चन्द्रप्रभचरित के कवि ने पूर्वभववर्णन में ग्रन्थ के १६ सर्ग रोके हैं और वर्तमान भव के वर्णन के लिए मात्र १६, १७, और १८ तीन सर्ग दिये हैं इससे प्रमुख चरित्र के वर्णन में उन्हें बहुत संकोच करना पड़ा है। स्वप्न दर्शन, जन्माभिषेक, राज्यप्रणाली तथा दीक्षाकल्याणक आदि जो तीर्थंकर चरित के प्रमुख अंग हैं वे संक्षिप्त वर्णन के कारण निष्प्रभ-से हो गये हैं, धर्मशर्माभ्युदय के कवि ने पूर्वभव के वर्णन में मात्र एक सर्ग रोका है और शेष ग्रन्थ धर्मनाथ तीर्थंकर के वर्तमान चरित्र के वर्णन में ही उपयुक्त किया है इसलिए तीर्थंकर चरित्र के प्रत्येक अंग अच्छी तरह विकसित हुए हैं तथा कवि को अपनी काव्य-प्रतिभा प्रकट करने के लिए योग्य क्षेत्र मिला है।

□

---

१. चतुर्थ सर्ग, ६२-७५।
२. चन्द्रप्रभचरित, तृतीय सर्ग, २०-४१।
३. धर्मशर्माभ्युदय, द्वितीय सर्ग, ६८-७४।
४. चन्द्रप्रभ, चतुर्थ सर्ग, ३१-४३।
५. धर्मशर्माभ्युदय, अष्टादश सर्ग, १४-४४।
६. चन्द्रप्रभचरित, सर्ग, १८।
७. धर्मशर्माभ्युदय, सर्ग, २१।
८. चन्द्रप्रभ, षोडश सर्ग, २४-६३।
९. रघुवंश, चतुर्थ सर्ग, ८६ सर्गान्त।

तृतीय अध्याय

स्तम्भ १ : सिद्धान्त

१. तीर्थंकर की पृष्ठभूमि
२. धर्मशर्माभ्युदय में जैन-सिद्धान्त
३. जीवन्धरचम्पू में जैनाचार
४. धर्मशर्माभ्युदय में चार्वाकदर्शन और उसका निराकरण

स्तम्भ २ : वर्णन

५. धर्मशर्माभ्युदय का देश और नगर-वर्णन
६. जीवन्धरचम्पू का नगरी-वर्णन
७. धर्मशर्माभ्युदय का नारीसौन्दर्य
८. जीवन्धरचम्पू में नारी-सौन्दर्य का वर्णन
९. जीवन्धरचम्पू की नेपथ्य-रचना
१०. राजा
११. देवसेना
१२. सुमेरु
१३. क्षीरसमुद्र
१४. विन्ध्यगिरि

स्तम्भ ३ : प्रकृति-निरूपण

१५. धर्मशर्माभ्युदय का ऋतुचक्र
१६. जीवन्धरचम्पू का तपोवन
१७. जीवन्धरचम्पू का प्रकृति-वर्णन
१८. सूर्यास्तमन, तिमिरोद्गति, चन्द्रोदय आदि
१९. धर्मशर्माभ्युदय का प्रभात-वर्णन

स्तम्भ १ : सिद्धान्त

तीर्थंकर की पृष्ठभूमि

धर्मशर्माभ्युदय के कथा-नायक भगवान् धर्मनाथ इस अवसर्पिणी-युग में होनेवाले २४ तीर्थंकरों में पन्द्रहवें तीर्थंकर थे। प्रथम तीर्थंकर भगवान् वृषभदेव थे और अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर। तीर्थधर्म की प्रवृत्ति के चलानेवाले को तीर्थंकर कहते हैं। तीर्थंकर बनने के लिए बड़ी साधना करनी पड़ती है। तीर्थंकर-कर्म के बन्ध का प्रारम्भ केवलज्ञानी के सन्निधान में ही होता है क्योंकि उसके बन्ध के लिए परिणामों में जितनी विशुद्धता अपेक्षित है उतनी अन्यत्र प्राप्त नहीं हो सकती। धर्मनाथ ने अपने तृतीय पूर्वभव में जब वे सुसीमा नगरी में राजा दशरथ थे, तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किया था। राजा दशरथ ने विमलवाहन मुनि के पास साधु-दीक्षा लेकर घोर तपश्चरण किया था। सब जीवों में मध्यस्थभाव धारण किया था तथा दर्शन-विशुद्धि आदि गुणों की भावना के द्वारा अपने हृदय को निर्मल बनाया था। धर्मशर्माभ्युदय के चतुर्थ सर्ग में मुनिराज दशरथ की मध्यस्थ-वृत्ति का वर्णन देखिए कितना महत्त्वपूर्ण है—

ध्यानानुबन्धस्तिमितोरुदेहो मित्रेऽपि शत्रावपि तुल्यवृत्तिः।
व्यालोपगूढः स वनैकदेशे स्थितश्चिरं चन्दनवच्चकासे ॥८१॥

उन मुनिराज का विशाल शरीर ध्यान के सम्बन्ध से बिलकुल निश्चल था, शत्रु और मित्र में उनकी समान वृत्ति थी, तथा शरीर में सर्प लिपट रहे थे अतः वे वन के एक देश में स्थित चन्दन-वृक्ष की तरह सुशोभित हो रहे थे।

तीर्थंकर-गोत्र के बन्ध की चर्चा करते हुए, दो हजार वर्ष पूर्व रचित षट्खण्डागम के बन्धस्वामित्वविचय नामक अधिकार खण्ड ३, पुस्तक ८ में श्री भगवन्त पुष्पदन्त भूतबलि आचार्य ने—

'कदिहि कारणेहि जीवा तित्थयरणामगोदं कम्मं बंधंति' ॥३९॥

सूत्र में तीर्थंकर नाम-कर्म के बन्धप्रत्ययप्रदर्शक सूत्र की उपयोगिता बतलाते हुए लिखा है कि 'यह तीर्थंकर-गोत्र, मिथ्यात्व-प्रत्यय नहीं है', अर्थात् मिथ्यात्व के निमित्त से बँधनेवाली सोलह प्रकृतियों में इसका अन्तर्भाव नहीं होता क्योंकि मिथ्यात्व के होने पर उसका बन्ध नहीं पाया जाता। असंयम-प्रत्यय भी नहीं है क्योंकि संयतों में भी उसका बन्ध देखा जाता है। कषायसामान्य भी नहीं है क्योंकि कषाय होने पर भी उसका बन्धव्युच्छेद देखा जाता है अथवा कषाय के रहते हुए भी उसके बन्ध का

प्रारम्भ नहीं पाया जाता। कषाय की मन्दता भी कारण नहीं है क्योंकि तीव्र कषायवाले नारकियों के भी इसका बन्ध देखा जाता है। तीव्र कषाय भी बन्ध का कारण नहीं है क्योंकि सर्वार्थसिद्धि के देव और अपूर्वकरणगुणस्थानवर्ती मनुष्यों के भी बन्ध देखा जाता है। सम्यक्त्व भी बन्ध का कारण नहीं है क्योंकि सभी सम्यग्दृष्टि जीवों के तीर्थंकर-कर्म का बन्ध नहीं पाया जाता और मात्र दर्शन की विशुद्धता भी कारण नहीं है क्योंकि दर्शनमोह कर्म का क्षय कर चुकनेवाले सभी जीवों के उसका बन्ध नहीं पाया जाता, इसलिए तीर्थंकर-गोत्र के बन्ध का कारण कहना ही चाहिए।

इस प्रकार उपयोगिता प्रदर्शित कर—

'तत्थ इमेहि सोलसेहि कारणेहि जीवा तित्थयरणामगोदं कम्मं बंधंति' ॥४०॥

इस सूत्र में कहा है कि आगे कहे जानेवाले सोलह कारणों के द्वारा जीव तीर्थंकर-नाम-गोत्र को बाँधते हैं। इस तीर्थंकर-नाम-गोत्र का प्रारम्भ मात्र मनुष्य-गति में होता है क्योंकि केवलज्ञान से उपलक्षित जीवद्रव्य का सन्निधान मनुष्य-गति में ही सम्भव होता है अन्य गतियों में नहीं। इसी सूत्र की टीका में वीरसेनस्वामी ने कहा है कि पर्यायार्थिक नय का आलम्बन करने पर तीर्थंकर-कर्मबन्ध के कारण सोलह हैं और द्रव्यार्थिकनय का अवलम्बन करने पर एक ही कारण होता है अथवा दो भी कारण होते हैं, इसलिए ऐसा नियम नहीं समझना चाहिए कि सोलह ही कारण होते हैं।

अग्रिम सूत्र में इन सोलह कारणों का नामोल्लेख किया गया है—

'दंसणविसुज्झदाए विणयसंपण्णदाए सीलव्वदेसु णिरदिचारदाए आवासएसु अपरिहीणदाए खणलवपडिबुज्झणदाए लद्धिसंवेगसंपण्णदाए जधाथामे तधा तवे साहूणं पासुअपरिचागदाए साहूणं समाहि-संधारणाए साहूणं वज्जावच्चजोगजुत्तदाए अरहंतभत्तीए बहुसुदभत्तीए पवयणवच्छलदाए पवयणप्पभावणदाए अभिक्खणं अभिक्खणं णाणोवजोग-जुत्तदाए इच्चेदेहि सोलसेहिं कारणेहि जीवा तित्थयरणामगोदं कम्मं बंधंति।'

१. दर्शनविशुद्धता, २. विनयसम्पन्नता, ३. शीलव्रतेष्वनतीचार, ४. आवश्यका-परिहीणता, ५. क्षणलवप्रतिबोधनता, ६. लब्धिसंवेगसंपन्नता, ७. यथास्थाम—यथाशक्ति तप, ८. साधूनां प्रासुकपरित्यागता, ९. साधूनां समाधिसंधारणा, १०. साधूनां वैयावृत्त्ययोगयुक्तता, ११. अरहन्तभक्ति, १२. बहुश्रुतभक्ति, १३. प्रवचनभक्ति, १४. प्रवचनवत्सलता, १५. प्रवचनप्रभावना और १६. अभिक्षणअभिक्षण—प्रत्येक समय ज्ञानोपयोग-युक्तता इन सोलह कारणों से जीव तीर्थंकर-नाम-गोत्र कर्म का बन्ध करते हैं।

दर्शन-विशुद्धता आदि का संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है—

१. दर्शन-विशुद्धता—तीन मूढ़ता[1] तथा शंका आदिक आठ[2] मलों से रहित सम्यग्दर्शन का होना दर्शन-विशुद्धता है। यहाँ वीरसेन स्वामी ने निम्नांकित शंका उठाते

---

१. लोकमूढ़ता, देवमूढ़ता और गुरुमूढ़ता ये तीन मूढ़ताएँ हैं।

२. शंका, कांक्षा, विचिकित्सा—ग्लानि, मूढदृष्टि, अनुपगूहन, अस्थितीकरण, अवात्सल्य और अप्रभावना ये शंकादिक आठ मल-दोष हैं।

हुए उसका समाधान किया है।

शंका—केवल उस एक दर्शनविशुद्धता से ही तीर्थंकर-नाम-कर्म का बन्ध कैसे सम्भव है क्योंकि ऐसा मानने से सब सम्यग्दृष्टि जीवों के तीर्थंकर-नाम-कर्म के बन्ध का प्रसंग आता है।

समाधान—शुद्धनय के अभिप्राय से तीन मूढ़ताओं और आठ मलों से रहित होने पर ही दर्शन-विशुद्धता नहीं होती किन्तु पूर्वोक्त गुणों से स्वरूप को प्राप्त कर स्थित सम्यग्दर्शन का, साधुओं के प्रासुक-परित्याग में, साधुओं की संधारणा में, साधुओं के वैयावृत्यसंयोग में, अरहन्तभक्ति, बहुश्रुतभक्ति, प्रवचनभक्ति, प्रवचनवत्सलता, प्रवचन-प्रभावना और अभिक्षण ज्ञानोपयोग से युक्तता में प्रवर्तने का नाम दर्शन-विशुद्धता है। उस एक ही दर्शनविशुद्धता से जीव तीर्थंकर कर्म को बाँधते हैं।

२. विनय-सम्पन्नता—ज्ञान, दर्शन और चारित्र की विनय से युक्त होना विनय-सम्पन्नता है।

३. शीलव्रतेष्वनतीचार—अहिंसादिक व्रत और उनके रक्षक साधनों में अतिचार-दोष नहीं लगाना शीलव्रतेष्वनतीचार है।

४. आवश्यकापरिहीणता—समता, स्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और व्युत्सर्ग इन छह आवश्यक कामों में हीनता नहीं करना अर्थात् इनके करने में प्रमाद नहीं करना आवश्यकापरिहीणता है।

५. क्षणलवप्रतिबोधनता—क्षण और लव, काल-विशेष के नाम हैं। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, व्रत और शील आदि गुणों को उज्ज्वल करना, दोषों का प्रक्षालन करना अथवा उक्त गुणों को प्रदीप्त करना प्रतिबोधनता है। प्रत्येक क्षण अथवा प्रत्येक लव में प्रतिबुद्ध रहना क्षणलवप्रतिबोधनता है।

६. लब्धिसंवेगसंपन्नता—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र में जीव का जो समागम होता है उसे लब्धि कहते हैं। उस लब्धि में हर्ष का होना संवेग है। इस प्रकार के लब्धिसंवेग से—सम्यग्दर्शनादि की प्राप्तिविषयक हर्ष से संयुक्त होना सो लब्धिसंवेगसम्पन्नता है।

७. यथास्थाम तप—अपने बल और वीर्य के अनुसार बाह्य[1] तथा अन्तरंग[2] तप करना यथास्थाम तप है।

८. साधूनां प्रासुकपरित्यागता—साधुओं का निर्दोष ज्ञान, दर्शन, चारित्र तथा निर्दोष वस्तुओं का जो त्याग—दान है उसे साधुप्रासुकपरित्यागता कहते हैं।

९. साधूनां समाधि-संधारणा—साधुओं का सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र में

---

१. अनशन, ऊनोदर, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश ये छह बाह्य तप हैं। 'अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यान-रसपरित्याग-विविक्तशय्यासनकायक्लेशा बाह्यं तपः' त. सू.।

२. प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये छह आभ्यन्तर तप हैं। 'प्रायश्चित्त-विनय-वैयावृत्य-स्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम्।' त. सू.-अध्याय ९।

अच्छी तरह अवस्थित होना साधुसमाधि-संधारणा है।

१०. साधूनां वैयावृत्त्ययोगयुक्तता—व्यावृत—रोगादिक से व्याकुल साधु के विषय में जो किया जाता है उसे वैयावृत्य कहते हैं। जिन सम्यक्त्व तथा ज्ञान आदि गुणों से जीव वैयावृत्य में लगता है उन्हें वैयावृत्य कहते हैं। उनसे संयुक्त होना सो साधुवैयावृत्य-योगयुक्तता है।

११. अरहन्तभक्ति—[1]चार घातिया कर्मों को नष्ट करनेवाले अरहन्त अथवा आठों कर्मों को नष्ट करनेवाले सिद्धपरमेष्ठी अरहन्त शब्द से ग्राह्य हैं। उनके गुणों में अनुराग होना अरहन्त-भक्ति है।

१२. बहुश्रुतभक्ति—द्वादशांग के पारगामी बहुश्रुत कहलाते हैं, उनकी भक्ति करना सो बहुश्रुत भक्ति है।

१३. प्रवचनभक्ति—सिद्धान्त अथवा बारह अंगों को प्रवचन कहते हैं, उसकी भक्ति करना प्रवचनभक्ति है।

१४. प्रवचनवत्सलता—देशव्रती, महाव्रती, अथवा असंयत सम्यग्दृष्टि प्रवचन कहलाते हैं, उनके साथ अनुराग अथवा ममेदं भाव रखना प्रवचनवत्सलता है।

१५. प्रवचनप्रभावना—आगम के अर्थ को प्रवचन कहते हैं, उसकी कीर्ति का विस्तार अथवा वृद्धि करने को प्रवचनप्रभावना कहते हैं।

१६. अभिक्षण-अभिक्षण-ज्ञानोपयोगयुक्तता—क्षण-क्षण अर्थात् प्रत्येक समय ज्ञानोपयोग से युक्त होना अभिक्षण-अभिक्षण-ज्ञानोपयोगयुक्तता है।

ये सभी भावनाएँ एक दूसरे से सम्बद्ध हैं इसलिए जहाँ ऐसा कथन आता है कि अमुक एक भावना से तीर्थंकर-कर्म का बन्ध होता है वहाँ शेष भावनाएँ उसी एक में गर्भित हैं ऐसा समझना चाहिए।

इन्हीं सोलह भावनाओं का उल्लेख आगे चलकर उमास्वामी महाराज ने तत्त्वार्थ-सूत्र में इस प्रकार किया है—

'दर्शनविशुद्धिविनयसंपन्नता शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी साधुसमाधिर्वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिमार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थंकरत्वस्य'।

दर्शनविशुद्धि, विनयसंपन्नता, शीलव्रतेष्वनतिचार, अभीक्ष्णज्ञानोपयोग, संवेग, शक्तितस्त्याग, शक्तितस्तप, साधुसमाधि, वैयावृत्यकरण, अर्हद्भक्ति, आचार्यभक्ति, बहुश्रुत-भक्ति, प्रवचनभक्ति, आवश्यका-परिहाणि, मार्गप्रभावना और प्रवचनवत्सलत्व—इन सोलह कारणों से तीर्थंकर-प्रकृति का आस्रव होता है।

इन भावनाओं में षट्खण्डागम के सूत्र में वर्णित क्रम को परिवर्तित किया गया है। क्षणलवप्रतिबोधनता भावना को छोड़कर आचार्यभक्ति रखी गयी है तथा प्रवचन-

---

१. ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोह और अन्तराय ये चार घातिया कर्म हैं। शेष वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र ये चार कर्म अघातिया हैं।

भक्ति के नाम को परिवर्तित कर मार्गप्रभावना नाम रखा गया है। अभिक्षण अभिक्षण-ज्ञानोपयोगयुक्तता के स्थान पर संक्षिप्त नाम अभीक्ष्ण-ज्ञानोपयोग रखा है। लब्धिसंवेग-भावना के स्थान पर संवेग इतना संक्षिप्त नाम रखा है। क्षणलवप्रतिबोधनता भावना को अभीक्ष्णज्ञानोपयोग में गतार्थ समझकर छोड़ा गया है ऐसा जान पड़ता है और ज्ञान के समान आचार को भी प्रधानता देने की भावना से बहुश्रुतभक्ति के साथ आचार्यभक्ति को जोड़ा गया है। शेष भावनाओं के नाम और अर्थ मिलते-जुलते हैं। इन सोलह भावनाओं का चिन्तन कर मुनिराज दशरथ ने तीर्थंकर-कर्मका बन्ध किया था। उसी के फलस्वरूप वे सर्वार्थसिद्धिविमान से च्युत होकर धर्मनाथ तीर्थंकर हुए।

धर्मशर्माभ्युदय में जैन-सिद्धान्त

समवसरण सभा के मध्य में स्थित गन्धकुटी में देवनिर्मित रत्नमय सिंहासन पर भगवान् धर्मनाथ विराजमान हैं। वे सिंहासन से चार अंगुल ऊपर अन्तरीक्ष में स्थित हैं। उनके चारों ओर घेरकर बारह सभाएँ हैं जिनमें क्रम से १. निर्ग्रन्थ मुनि, २. कल्पवासिनी देवियाँ, ३. आर्यिकाएँ, ४. ज्योतिष्क देवियाँ, ५. व्यन्तर देवियाँ, ६. भवनवासिनी देवियाँ, ७. भवनवासी देव, ८. व्यन्तर देव, ९. ज्योतिष्क देव, १०. कल्पवासी देव, ११. मनुष्य और १२. तिर्यंच—पशु प्रशान्तभाव से बैठे हैं। भगवान् आठ प्रातिहार्यों से सुशोभित हैं। बारह सभाओं के लोग उनकी दिव्यध्वनि सुनने के लिए उत्कण्ठित हैं।

निर्ग्रन्थ मुनियों की सभा में समासीन गणधर—प्रमुख श्रोता ने उनसे पूछा कि हे भगवन्! संसार के प्राणियों का कल्याण किस प्रकार हो सकता है? इसके उत्तर में उनकी दिव्यध्वनि खिरी—दिव्योपदेश प्रारम्भ हुआ। उपदेश के समय उनके मुख पर कोई विकार नहीं था। प्रशान्त गम्भीरमुद्रा में बोलते हुए उन्होंने कहा—

जिन-शासन में जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं। पुण्य और पाप, बन्धतत्त्व के अन्तर्गत हो जाते हैं इसलिए उनका अलग से निरूपण नहीं किया जा रहा है। वैसे पुण्य और पाप को मिलाकर सात तत्त्व नौ पदार्थ कहलाते हैं।

जीव तत्त्व

इनमें जीव तत्त्व चैतन्य-लक्षण से सहित है, अमूर्तिक है, शुभ-अशुभ कर्मों का कर्ता और भोक्ता है, शरीर-प्रमाण है, ऊर्ध्वगमन-स्वभाव वाला है तथा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य-स्वरूप है। सिद्ध और संसारी के भेद से जीव तत्त्व दो प्रकार का है। जन्म-मरण के चक्र में फँसे हुए जीव संसारी हैं और इसके चक्र से जो पार हो चुके हैं वे सिद्ध कहलाते हैं।

संसारी जीव नारकी, तिर्यंच, मनुष्य और देव के भेद से चार प्रकार के हैं।

इस पृथिवी के नीचे रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और महातमःप्रभा नाम की सात पृथिवियाँ हैं जिनमें नारकी जीवों का निवास है। इन जीवों का समय निरन्तर दुःखमय व्यतीत होता है। रौद्रध्यान तथा हिंसा, असत्य, चौर्य, कुशील और परिग्रह में तीव्र आसक्ति रखनेवाले जीव इन नरकों में उत्पन्न होते हैं।

तिर्यंच जीव त्रस और स्थावर के भेद से दो प्रकार के हैं। पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति के भेद से स्थावर जीव पाँच प्रकार के हैं। ये सब एकेन्द्रिय होते हैं अर्थात् इनके मात्र स्पर्शन इन्द्रिय होती है। त्रस जीव विकल और सकल के भेद से दो प्रकार के हैं। द्वीन्द्रिय (शंख, कौड़ी, केंचुआ आदि), त्रीन्द्रिय (चिउटी, बिच्छू, खटमल आदि) और चतुरिन्द्रिय (मक्खी, मच्छर, बर्र, भ्रमर आदि) जीव विकल कहलाते हैं। सकल जीव पंचेन्द्रिय होते हैं अर्थात् उनके स्पर्शन, रसना, नासिका, नेत्र और कर्ण ये पाँच इन्द्रियाँ होती हैं। पंचेन्द्रिय तिर्यंचों में कोई मनसहित और कोई मनरहित होते हैं। तिर्यंचों के दुःख सबके सामने हैं। मायाचार-रूप प्रवृत्ति करने से तिर्यंचों में जन्म लेना पड़ता है।

मनुष्य गति के जीव भोगभूमिज और कर्मभूमिज के भेद से दो प्रकार के होते हैं। जहाँ कल्पवृक्षों से भोगोपभोग की प्राप्ति होती है ऐसे देव-कुरु, उत्तरकुरु आदि क्षेत्रों के निवासी भोगभूमिज कहलाते हैं। बहुत ही सुख-शान्ति से इनका जीवन व्यतीत होता है। और जहाँ असि, मषी, कृषि, शिल्प, वाणिज्य और विद्या इन उपायों से आजीविका चलती है ऐसे भरत, ऐरावत तथा विदेह क्षेत्र के निवासी मनुष्य कर्म-भूमिज कहलाते हैं। कर्मभूमिज मनुष्य ही मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। भोग-भूमिज मनुष्य नियम से देवगति ही प्राप्त करते हैं।

देवगति के जीव भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक के भेद से चार प्रकार के होते हैं। असुर कुमार, नागकुमार आदि के भेद से भवनवासी देव दस प्रकार के हैं। किन्नर, किंपुरुष, गन्धर्व आदि के भेद से व्यन्तर देव आठ प्रकार के हैं। सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र तथा तारों के भेद से ज्योतिष्क देव पाँच प्रकार के हैं और कल्पवासी तथा कल्पातीत के भेद से वैमानिक देव दो प्रकार के हैं। सौधर्म आदि सोलह स्वर्गों के निवासी देव कल्पवासी कहलाते हैं क्योंकि इनमें इन्द्र, सामानिक आदि भेदों की कल्पना होती है तथा सोलह स्वर्गों के ऊपर ग्रैवेयक, अनुदिश तथा अनुत्तर विमानों में रहनेवाले देव कल्पातीत कहलाते हैं क्योंकि इनमें इन्द्र आदि भेदों की कल्पना नहीं होती। कल्पातीत देव एक समान होने से अहमिन्द्र कहलाते हैं। देवगति के जीवों को यद्यपि मनुष्यों की अपेक्षा सांसारिक भोगों की सुलभता है पर वे उस पर्याय से मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते। उन्हें अपनी आयु पूर्ण होने पर नियम से मनुष्य या तिर्यंचों में जन्म लेना पड़ता है।

सिद्ध जीवों का निवास लोक के अग्रभाग पर है। तपश्चर्या के द्वारा कर्मविकार

को नष्ट करनेवाले जीव सिद्ध अवस्था को प्राप्त होते हैं। सिद्ध जीव फिर कभी जन्म-मरण के चक्र में नहीं पड़ते।

अजीव तत्त्व

जो चेतना—जानने-देखने की शक्ति से रहित है उसे अजीव कहते हैं। यह अजीव धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और काल के भेद से पाँच प्रकार का है। पाँच अजीव और एक जीव इस तरह दोनों मिलकर छह द्रव्य कहलाते हैं। इन छह द्रव्यों से ही लोक का निर्माण हुआ है। इन छह द्रव्यों में जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य क्रिया-सहित हैं, शेष चार द्रव्य निष्क्रिय हैं। धर्मास्तिकाय जीव और पुद्गलों के चलने में सहायक होता है और अधर्मास्तिकाय उनके ठहरने में साहाय्य करता है। आकाशास्तिकाय से सब द्रव्यों को ठहरने के लिए अवगाहन प्राप्त होता है। पुद्गलास्तिकाय से शरीर तथा अन्य दृश्यमान पदार्थों का निर्माण हुआ है। कालद्रव्य सब द्रव्यों के परिवर्तन में सहायक है। दिन, रात, घड़ी, घण्टा आदि का व्यवहार काल, द्रव्य की ही सहायता से होता है। अनादि काल से जीव के साथ कर्म और नोकर्म-ज्ञानावरणादि रूप अजीव का सम्बन्ध लगा रहा है। इस सम्बन्ध के कारण ही जीव को संसार-भ्रमण करना पड़ता है। जब इस अजीव का सम्बन्ध सर्वथा छूट जाता है तब जीव सिद्ध हो जाता है।

आस्रव तत्त्व

ज्ञानावरणादि कर्म रूप होने के योग्य पुद्गल द्रव्य के परमाणु लोक में सर्वत्र व्याप्त हैं। आत्मा के साथ उनका सम्बन्ध होने में जो कारण पड़ता है उसे आस्रव कहते हैं। यह आस्रव प्रमुख रूप से योग के कारण होता है। आत्मप्रदेशों में परिस्पन्द-कम्पन होने को योग कहते हैं। यह योग काय, वचन और मन के निमित्त से तीन प्रकार का होता है। शुभ परिणामों से रचा हुआ योग शुभ योग कहलाता है और अशुभ परिणामों से रचा हुआ अशुभ योग। शुभ योग से पुण्य कर्म का आस्रव होता है, और अशुभ योग से पाप कर्म का। शुभ कर्म सांसारिक सुख का कारण है और अशुभ कर्म सांसारिक दुख का कारण। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय के भेद से कर्म आठ प्रकार का होता है। इन आठों के आस्रव अलग-अलग परिणाम हैं।

बन्ध तत्त्व

कषायसहित होने के कारण जीव कर्म-रूप होने के योग्य पुद्गल परमाणुओं को ग्रहण करता है। वे पुद्गल परमाणु किसी निश्चित समय तक आत्मप्रदेशों के साथ संलग्न रहते हैं, यही बन्ध तत्त्व है। मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग

ये पाँच बन्ध के प्रमुख कारण हैं। प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के भेद से बन्ध के चार भेद होते हैं। ज्ञानावरणादि कर्मों का जो अपना-अपना स्वभाव है वह प्रकृति-बन्ध है। जबतक ज्ञानावरणादि कर्म आत्मप्रदेशों के साथ संलग्न रहकर अपना कार्य करने में समर्थ रहते हैं तबतक के काल को स्थितिबन्ध कहते हैं। कर्मों के फल देने की शक्ति में जो हीनाधिक भाव होता है वह अनुभाग बन्ध कहलाता है और कर्म-प्रदेशों का जो परिमाण है वह प्रदेशबन्ध कहलाता है। एक बार का बँधा हुआ ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय कर्म अधिक से अधिक तीस कोड़ाकोड़ी सागर तक आत्मप्रदेशों के साथ संलग्न रह सकता है, मोहनीय कर्म सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर तक तथा नाम और गोत्र बीस कोड़ाकोड़ी सागर तक यही इनका उत्कृष्ट स्थिति-बन्ध है। ज्ञानावरण कर्म, आत्मा के ज्ञान गुण को और दर्शनावरण कर्म दर्शन गुण को आवृत करता है। वेदनीय कर्म सुख और दुख का अनुभव कराता है। मोहनीय कर्म पर-पदार्थों में अहंभाव तथा ममभाव उत्पन्न करता है। आयुकर्म इस जीव को निश्चित समय तक नरक, तिर्यंच, मनुष्य अथवा देव के शरीर में अवरुद्ध रखता है। नाम कर्म से शरीर तथा इन्द्रिय आदि की रचना होती है। गोत्र कर्म इस जीव को उच्च अथवा नीच कुल में उत्पन्न करता है तथा अन्तराय कर्म दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य—आत्मबल में बाधा डालता है।

संवर तत्त्व

आत्मा में नवीन कर्मों का आस्रव-आना, रुक जाना संवर कहलाता है। यह संवर, गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र के द्वारा होता है। तात्पर्य यह है कि जिन भावों से आस्रव होता है उन भावों के विपरीत भावों से संवर होता है। मन-वचन-काय रूप योगत्रय को नियन्त्रित करना गुप्ति है। गमनागमन, भाषा, भोजन, वस्तुओं के रखने, उठाने और मल-मूत्र छोड़ने में प्रमाद-रहित होकर प्रवृत्ति करना समिति है। उत्तम-क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य ये दश धर्म हैं। अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म ये बारह अनुप्रेक्षाएँ हैं। क्षुधा, तृषा आदि बाईस प्रकार की बाधाओं को समता भाव से सहन करना परीषहजय है और सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात ये पाँच प्रकार के चारित्र हैं। इन सब कारणों से संवर होता है। आस्रव संसार का और संवर मोक्ष का कारण है।

निर्जरा तत्त्व

पूर्वबद्ध कर्मों का एक-देश पृथक् होना निर्जरा है। इसके सकाम निर्जरा और अकाम निर्जरा के भेद से दो भेद हैं। तपश्चरण आदि के द्वारा बुद्धि-पूर्वक जो निर्जरा

की जाती है उसे सकाम निर्जरा कहते हैं और स्थिति पूर्ण होने पर कर्म-परमाणु स्वयं खिरते रहते हैं उसे अकाम निर्जरा कहते हैं। सकाम निर्जरा को अविपाक और अकाम निर्जरा को सविपाक निर्जरा भी कहते हैं। संवरपूर्वक होनेवाली निर्जरा से ही जीव का कल्याण होता है। निर्जरा का प्रमुख कारण तपश्चरण और व्रताचरण है। तपश्चरण के उपवास, ऊनोदर, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन, कायक्लेश, प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान इस प्रकार बारह भेद हैं। व्रताचरण के सागार और अनगार के भेद से दो भेद हैं। सागार गृहस्थ को कहते हैं और अनगार मुनि को। गृहस्थ सम्बन्धी व्रताचरण के पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत के भेद से बारह भेद हैं। इन सब व्रतों के पहले सम्यक्त्व—सम्यग्दर्शन का होना आवश्यक है।

धर्म, आप्त, गुरु और तत्त्वार्थ का यथार्थ श्रद्धान करना सम्यक्त्व कहलाता है। वीतराग–सर्वज्ञ देव के द्वारा कथित धर्म, धर्म कहलाता है, अरहन्त—वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी जिनेन्द्र को आप्त या देव कहते हैं, विषयों की आशा से रहित तथा ज्ञानध्यान में लीन निर्ग्रन्थ साधु गुरु कहलाते हैं, और जीवाजीवादि उपर्युक्त तत्त्वार्थ कहलाते हैं। सागार—गृहस्थ को हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाँच पापों का एकदेश त्याग करना अनिवार्य है। द्यूत, मांस, मदिरा, वेश्यासेवन, आखेट, चोरी और परस्त्रीसेवन इन सात व्यसनों का त्याग करना भी उसके प्राथमिक कर्तव्यों में से है। अन्य अभक्ष्य पदार्थों का सेवन भी गृहस्थ के लिए वर्जित है।

अनगार मुनि को कहते हैं। यह गृह का परित्याग कर वन में या अन्य एकान्त स्थानों में रहते हैं। पाँच पापों का त्याग कर अट्ठाईस मूलगुणों को धारण करते हैं। नग्न—दिगम्बर रहते हैं। दिन में एक बार ही आहार ग्रहण करते हैं।

मोक्ष तत्त्व

संवर और निर्जरापूर्वक समस्त कर्म-परमाणुओं का आत्मा से सदा के लिए पृथक् हो जाना मोक्ष तत्त्व है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता से मोक्ष की प्राप्ति होती है। जिन जीवों को मोक्ष प्राप्त हो जाता है वे सदा के लिए जन्म-मरण के चक्र से बच जाते हैं।

इस प्रकार धर्म का उपदेश देकर धर्मनाथ जिनेन्द्र ने संसारस्थ जीवों को कल्याण का मार्ग प्रदर्शित किया। इनके ४२ गणधर थे। विहार काल में हजारों मुनि, आर्यिकाएँ तथा लाखों श्रावक-श्राविकाओं का विशाल संघ साथ रहता था।

साढ़े बारह लाख वर्ष की आयु समाप्त होने पर इन्होंने चैत्र शुक्ल चतुर्थी की पुण्यवेला में सम्मेदशिखर (पारसनाथ हिल) से मोक्ष प्राप्त किया था। धर्मशर्माभ्युदय का यह जैन-सिद्धान्त-वर्णन, वीरनन्दी के चन्द्रप्रभचरित तथा उमास्वामी के तत्त्वार्थसूत्र पर आधारित जान पड़ता है।

जीवन्धरचम्पू में जैनाचार

क्षेमपुरी से निकलकर जीवन्धर आगे बढ़ गये। उनके शरीर पर जो मणिमय आभूषण थे उन्हें वे किसी को देना चाहते थे परन्तु अटवी में किसके लिए देवें ? यह विचार उनके मन में चल रहा था उसी समय एक किसान उन्हें आता हुआ दिखा। जीवन्धरकुमार ने उससे जब कुशल समाचार पूछा तब वह विनय से गद्गद होता हुआ बोला—

वृषलोऽपि विनीतः सन्नुवाच कुरुकुञ्जरम्।
कुशलं साम्प्रतं युष्मद्दर्शनेन विशेषतः ॥६॥ पृ. १२२

विनयावनत किसान ने जीवन्धरकुमार से कहा कि कुशल है और आपके दर्शन से इस समय विशेष रूप है।

इसके उत्तर में जीवन्धरकुमार ने [1] कहा कि असि, मसि, कृषि, शिल्प, वाणिज्य और विद्या इन छह कर्मों से उत्पन्न कुशलता, कुशलता नहीं कहलाती क्योंकि वह नाना प्रकार की आशारूपी लताओं की उत्पत्ति के लिए कन्द के समान है। सच्ची कुशलता तो मोक्ष से उत्पन्न होनेवाले अनन्त सुख की प्राप्ति में है। वह अनन्त सुख आत्मसाध्य है—आत्मा से ही प्राप्त किया जाता है और आत्मरूप है।

वह मोक्षजनित सुख रत्नत्रय की पूर्णता होने पर आत्मा को प्राप्त होता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीन को रत्नत्रय कहते हैं। इनमें वीतराग—सर्वज्ञ देव, उनके द्वारा प्रतिपादित आगम और जीवाजीवादि पदार्थों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कहलाता है। भव्य जीवों के प्रमुख आभूषण-स्वरूप जो सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र हैं वे सम्यग्दर्शन के होने पर ही होते हैं। जिस प्रकार शरीर के समस्त अंगों में मस्तक प्रधान अंग है और इन्द्रियों में नेत्र प्रधान इन्द्रिय है उसी प्रकार मोक्ष के अंगों में सम्यग्दर्शन प्रधान अंग है।

ज्ञान, दर्शन और सुख रूप लक्षण से युक्त अतिशय निर्मल आत्मा, सब प्रकार की अपवित्रता के प्रमुख कारणस्वरूप शरीरादिक से भिन्न कहा गया है। इस प्रकार संशयरहित आत्मतत्त्व का ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान कहलाता है।

सम्यग्ज्ञानी जीव के द्वारा परपदार्थ का जो त्याग किया जाता है उसे सम्यक्चारित्र कहते हैं। सम्यक्चारित्र के धारक जीव अनगार—मुनि और सागार—गृहस्थ के भेद से दो प्रकार के कहे गये हैं। इनमें अनगार—मुनि हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्म और परिग्रह इन पाँच पापों का सर्वथा त्याग करते हैं और गृहस्थ एकदेश त्याग करते हैं।

इस प्रकार संक्षेप से रत्नत्रय का स्वरूप बताकर जीवन्धरकुमार ने उस किसान से कहा कि जिस प्रकार किसी बड़े बैल के द्वारा धारण करने योग्य भार को उसका बछड़ा नहीं धारण कर सकता है इसी प्रकार तुम भी मुनि का धर्म धारण करने के

---

१. पृष्ठ १२३-१२४, श्लोक ७-११।

लिए समर्थ नहीं हो अतः गृहस्थ का धर्म धारण करो। इस गृहस्थ-धर्म से मोक्षलक्ष्मी निकटस्थ हो जाती है।

जो पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों के धारण करने में उद्यत हैं तथा सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से युक्त हैं वे गृहस्थ कहलाते हैं। हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्म और परिग्रह इन पाँच पापों का स्थूल रूप से त्याग करना और मद्य, मांस तथा मधु का त्याग करना ये गृहस्थ के आठ मूल गुण कहलाते हैं।

अहिंसाणुव्रत—त्रस जीव की संकल्पपूर्वक हिंसा का त्याग करना, सत्याणुव्रत—पीड़ाकारक, कठोर और निन्द्य वचनों का त्याग करना, अचौर्याणुव्रत—सार्वजनिक उपयोग के लिए घोषित जल और मिट्टी के बिना, बिना दी हुई अन्य वस्तुओं का त्याग करना, ब्रह्मचर्याणुव्रत—अपनी विवाहित स्त्री के अतिरिक्त अन्य स्त्री का त्याग करना और परिग्रह-परिमाणाणुव्रत—अपनी आवश्यकता से अतिरिक्त परिग्रह का त्याग करना, ये पाँच अणुव्रत कहलाते हैं।

नशा उत्पन्न करनेवाली मदिरा, अफ़ीम, गाँजा, चरस आदि वस्तुओं का त्याग करना मद्यत्याग है। स्वयं मृत अथवा मारे हुए त्रस जीव के मांस का त्याग करना मांसत्याग है और मधुमक्खियों के उगाल से उत्पन्न हुए मधु—शहद का त्याग करना मधुत्याग है। जैनाचार का पालन करने के लिए उपर्युक्त आठ नियमों का पालन करना सर्वप्रथम आवश्यक है इसलिए इन्हें मूलगुण[1] कहते हैं।

इन मूलगुणों के अतिरिक्त गृहस्थ को तीन गुणव्रत धारण करने पड़ते हैं। दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत ये तीन गुणव्रत कहलाते हैं। किन्हीं-किन्हीं आचार्यों ने दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोग परिमाणव्रत इन तीन को गुणव्रत कहा है। दशों दिशाओं में आने-जाने की सीमा जीवन-पर्यन्त के लिए निर्धारित कर लेना और उससे बाहर नहीं जाना दिग्व्रत कहलाता है। दिग्व्रत के भीतर जीवन-पर्यन्त के लिए की हुई प्रतिज्ञा को काल की अवधि रखकर संकोचित करना देशव्रत कहलाता है और मन-वचन-काय की व्यर्थ—निष्प्रयोजन प्रवृत्ति का त्याग करना अनर्थदण्डव्रत है। पापोपदेश—दूसरे के लिए पाप का उपदेश देना, हिंसादान—हिंसा के साधन—अस्त्र-शस्त्र आदि दूसरे के लिए देना, दुःश्रुति—राग-द्वेष को बढ़ानेवाले शास्त्रों का सुनना, अपध्यान—राग-द्वेष के वशीभूत होकर किसी के वध-बन्धन आदि का चिन्तन करना और प्रमादचर्या—निष्प्रयोजन घूमना-घुमाना तथा जल आदि का बिखेरना, ये अनर्थदण्ड के पाँच भेद हैं।

जो वस्तु एक ही बार भोगी जाती है उसे भोग कहते हैं जैसे भोजन आदि और जो बार-बार भोगी जाती है उसे उपभोग कहते हैं जैसे वस्त्र-आभूषण आदि। इन भोग और उपभोग की वस्तुओं का जीवन-पर्यन्त के लिए अथवा कुछ समय के लिए परिमाण निश्चित करना भोगोपभोग परिमाण व्रत है।

---

१. मद्यमांसमधुत्यागैः सहाणुव्रतपञ्चकम्।
अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः॥—रत्नकरण्डश्रावकाचार।

सामायिक, प्रोषधोपवास, अतिथिसंविभाग और सल्लेखना ये चार शिक्षाव्रत कहलाते हैं। इनसे मुनिव्रत की शिक्षा मिलती है इसलिए इनका नाम शिक्षाव्रत रखा गया है। प्रातः, मध्याह्न और सायं इन तीन सन्ध्याओं में किसी निश्चित समय तक पाँच पापों का त्याग कर एक स्थान पर स्थित हो समता भाव धारण करना, पंचपरमेष्ठी की आराधना करना तथा आत्मस्वरूप का चिन्तन करना सामायिक कहलाता है। प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशी के दिन अन्न, पेय, खाद्य और लेह्य—इन चारों प्रकार के आहारों का त्याग करना प्रोषधोपवास कहलाता है। योग्य पात्र के लिए आहार, औषध, शास्त्र तथा अभय—ये चार प्रकार के दान अतिथिसंविभाग कहलाता है और अन्तिम समय कषाय को कृश करते हुए समताभाव से प्राणत्याग करना सल्लेखना कहलाती है। इसे ही संन्यासमरण अथवा समाधिमरण कहते हैं।

इस प्रकार पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत को एकत्रित कर गृहस्थ के बारह व्रत कहते हैं। इनका पालन करनेवाला मनुष्य सागार, गृहस्थ या श्रावक कहलाता है। श्रावकधर्म का अभ्यास करनेवाला मनुष्य अपनी शक्ति को बढ़ाकर कभी मुनिव्रत भी धारण करता है और उसके फलस्वरूप मोक्षसुख को प्राप्त होता है।

जीवन्धरकुमार के मुखारविन्द से श्रावकधर्म का वर्णन सुनकर किसान बहुत प्रसन्न हुआ तथा उसे धारण कर अपने जीवन को सफल मानने लगा। जीवन्धरकुमार ने उसकी पात्रता का विचार कर उसे अपने मणिमय आभूषण दे दिये और निर्द्वन्द्व होकर आगे बढ़ गये।

किसी काव्य में धर्म तत्त्व का वर्णन संक्षिप्त ही शोभा देता है क्योंकि अधिक विस्तृत होने से कथा या काव्य का सौन्दर्य नष्ट हो जाता है और पाठक का चित्त उससे ऊब जाता है। जैसा कि जटासिंह नन्दी के वरांगचरित में हुआ है। यही कारण है कि जीवन्धरचम्पू में महाकवि हरिचन्द्र ने ऐसे प्रसंगों को संक्षिप्त ही रखा है।

धर्मशर्माभ्युदय में चार्वाक दर्शन और उसका निराकरण

सुसीमा के राजा दशरथ चन्द्रग्रहण को देख संसार की मोह-ममता से विरक्त हो जब राजसभा में अपना दीक्षा लेने का विचार प्रकट करते हैं तब उनके सुमन्त्र नामक मन्त्री ने जो चार्वाक मत का अनुयायी था, राजा के इस प्रयत्न को व्यर्थ बताते हुए जीव की स्वतन्त्र सत्ता को ही निरस्त कर दिया। राजा ने सुयुक्ति-बल से जीव की सत्ता को सिद्ध कर सुमन्त्र की मन्त्रणा का निरसन किया। धर्मशर्माभ्युदय का यह दार्शनिक प्रकरण अल्पकाय होने पर भी अपने आप में पूर्ण है तथा काव्य के काव्यत्व की रक्षा करने में दक्ष है। वीरनन्दी के चन्द्रप्रभचरित (द्वितीय सर्ग) और श्रीहर्ष के नैषधीयचरित (सप्तदश सर्ग) में दार्शनिक प्रकरण आवश्यकता से अधिक लम्बे हो गये हैं, अतः वे काव्योचित नहीं जान पड़ते। धर्मशर्माभ्युदय का यह प्रकरण ६२-७५ तक मात्र १४ श्लोकों में पूर्ण हुआ है। सुमन्त्र मन्त्री का पूर्वपक्ष देखिए—

देव त्वदारब्धमिदं विभाति नभःप्रसूनाभरणोपमानम् ।
जीवाख्यया तत्त्वमपीह नास्ति कुतस्तनी तत्परलोकवार्ता ॥६३॥
न जन्मनः प्राङ् न च पञ्चतायाः परो विभिन्नेऽवयवे न चान्तः ।
विशन्न निर्यन्न च दृश्यतेऽस्माद्भिन्नो न देहादिह कश्चिदात्मा ॥६४॥
किं त्वत्र भूवह्निजलानिलानां संयोगतः कश्चन यन्त्रवाहः ।
गुडान्नपिष्टोदकधातकीनामुन्मादिनी शक्तिरिवाभ्युदेति ॥६५॥
विहाय तद्दृष्टमदृष्टहेतोर्वृथा कृथाः पार्थिव मा प्रयत्नम् ।
को वा स्तनाग्राण्यवधूय धेनोर्दुग्धं विदग्धो ननु दोग्धि शृङ्गम् ॥६६॥

हे देव ! आपके द्वारा प्रारम्भ किया हुआ यह कार्य आकाशपुष्प के आभूषणों के समान निर्मूल जान पड़ता है। क्योंकि जब जीवनाम का कोई पदार्थ ही नहीं है तब उसके परलोक की वार्ता कहाँ हो सकती है?

इस शरीर के सिवाय कोई भी आत्मा न तो जन्म के पहले प्रवेश करता ही दिखाई देता है और न मरने के बाद निकलता ही। इसी प्रकार किसी अवयव के खण्डित हो जाने पर न भीतर प्रवेश करता और न निकलता हुआ दिखाई देता है।

किन्तु जिस प्रकार गुड़, अन्नचूर्ण, पानी और आँवलों के संयोग से एक उन्माद पैदा करनेवाली शक्ति उत्पन्न हो जाती है उसी प्रकार पृथिवी, अग्नि, जल और वायु के संयोग से इस शरीररूपी यन्त्र का कोई संचालक उत्पन्न हो जाता है।

इसलिए हे राजन् ! प्रत्यक्ष को छोड़कर परोक्ष के लिए व्यर्थ ही प्रयत्न न कीजिए। भला ऐसा कौन बुद्धिमान् होगा जो गाय के स्तन को छोड़ सींगों से दूध दुहेगा।

तात्पर्य यह है कि चार्वाक दर्शन, जीव के स्वतन्त्र अस्तित्व को ही स्वीकृत नहीं करता है। अब इसके समाधान रूप उत्तर पक्ष देखिए।

राजा दशरथ ने कहा—

अये सुमन्त्र ! इस निःसार अर्थ का प्रतिपादन करते हुए तुमने अपना नाम ही मानो निरर्थक कर दिया। हे मन्त्रिन् ! यह जीव अपने शरीर में सुखादि की तरह स्वसंवेदन से जाना जाता है, क्योंकि उसके स्वसंविदित होने में कोई भी बाधक कारण नहीं है और यतः बुद्धिपूर्वक व्यापार देखा जाता है अतः अपने शरीर के समान दूसरे के शरीर में भी वह अनुमान से जाना जाता है। तत्काल का उत्पन्न हुआ बालक जो माता का स्तन पीता है उसे पूर्वभव का संस्कार छोड़कर अन्य कोई भी सिखानेवाला नहीं है इसलिए यह जीव नया ही उत्पन्न होता है—ऐसा आत्मज्ञ मनुष्य को नहीं कहना चाहिए। यतश्च यह आत्मा अमूर्तिक है और एक ज्ञान के द्वारा ही जाना जा सकता है अतः इसे मूर्तिक दृष्टि नहीं जान पाती। अरे ! अन्य की बात जाने दो, बड़े-बड़े निपुण मनुष्यों के द्वारा भी चलायी हुई पैनी तलवार क्या कभी आकाश का भेदन कर सकती है? भूतचतुष्टय के संयोग से जीव उत्पन्न होता है—यह जो तुमने कहा है उसका वायु

से प्रज्वलित अग्नि के द्वारा सन्तापित जल से युक्त बटलोई में खरा व्यभिचार है क्योंकि भूतचतुष्टय के रहते हुए भी उसमें चेतन उत्पन्न नहीं होता और गुड़ आदि के सम्बन्ध से होनेवाली जिस अचेतन उन्मादिनी शक्ति का तुमने उदाहरण दिया है वह चेतन के विषय में उदाहरण कैसे हो सकती है ? इस प्रकार यह जीव अमूर्तिक, निर्बाध, कर्ता, भोक्ता, चेतन और कथंचित् एक है तथा विपरीत स्वरूपवाले शरीर से पृथक् ही है। जिस प्रकार अग्नि की शिखाओं का समूह स्वभाव से ऊपर को जाता है परन्तु प्रचण्ड पवन उसे हठात् इधर-उधर ले जाता है उसी प्रकार यह जीव स्वभाव से ऊर्ध्वगति है- ऊपर को जाता है परन्तु पुरातन कर्म इसे हठात् समयमन्त्र में अनेक गतियों में ले जाता है। इसलिए मैं आत्मा के इस कर्म-कलंक को तपश्चर्या के द्वारा शीघ्र ही नष्ट करूँगा क्योंकि अमूल्य मणि पर कारणवश लगे हुए पंक को जल से कौन नहीं धो डालता ?

(श्लोक ६७-७५)

□

व्याख्यान २ : वर्णन

धर्मशर्माभ्युदय का देश और नगर-वर्णन

देश, ग्राम और नगर में किसका वर्णन करना चाहिए ? इसका उत्तर देते हुए 'अलंकार-चिन्तामणि' में श्री अजितसेन ने लिखा है—

देशे मणिनदीस्वर्णधान्याकरमहाभुवः ।
ग्रामदुर्गजनाधिक्यनदीमातृकतादयः ॥३६॥
ग्रामे धान्यसरोवल्लीतरुगोपुष्टचेष्टितम् ।
ग्राम्यमौग्ध्यघटीयन्त्रे केदारपरिशोभनम् ॥३७॥
पुरे प्राकारतच्छीर्षवप्राट्टालकखातिकाः ।
तोरणध्वजसौधाध्ववाप्यारामजिनालयाः ॥३८॥

—प्रथम परिच्छेद

देश में मणि, नदी, स्वर्ण, धान्य, खान, विस्तृत भूमि, ग्राम, दुर्ग, जनसंख्या की बहुलता और नदीमातृकता आदि का वर्णन करना चाहिए। ग्राम में धान्य, सरोवर, लताएँ, वृक्ष, गायों की पुष्ट चेष्टाएँ, ग्रामीणजनों का भोलापन, घटीयन्त्र और खेतों की शोभा वर्णनीय है, तथा नगर में कोट, गुम्बज, वप्र, अट्टालिकाएँ, परिखा, तोरण, ध्वजा, महल, मार्ग, वापिका, बाग-बगीचे और जिन-मन्दिरों का वर्णन होना चाहिए।

महाकवि हरिचन्द्र ने धर्मशर्माभ्युदय में आनेवाले देश, ग्राम तथा नगर के वर्णन में साहित्य की उपर्युक्त विधाओं पर पूर्ण दृष्टि रखी है। इस काव्य में देश और नगर के वर्णन का प्रसंग प्रथम और चतुर्थ सर्ग में आया है। प्रथम सर्ग में आर्यखण्ड के उत्तर कोशल देश का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि उस देश में स्वर्गप्रदेशों को जीतनेवाले ग्राम थे क्योंकि स्वर्गप्रदेश एकपद्माप्सरस्—एक पद्मा नाम की अप्सरा से युक्त थे और ग्राम अनेकपद्माप्सरस्—अनेक पद्मा नामक अप्सराओं से सहित थे—परिहार पक्ष में, अनेक कमलोपलक्षित जल के सरोवरों से सहित थे, स्वर्गप्रदेश एक हिरण्यगर्भ-एक ब्रह्मा से सहित थे और ग्राम असंख्यात हिरण्यगर्भ—असंख्य ब्रह्माओं से—पक्ष में, अपरिमित स्वर्ण से सहित थे, और स्वर्गप्रदेश एक पीताम्बर धामरम्य थे और ग्राम अनन्तपीताम्बर धामरम्य थे—अनेक गगनचुम्बी महलों से सुशोभित थे, पक्ष में अनन्तगगनचुम्बी भवनों से रमणीय थे। श्लोक यह है—

अनेकपद्मास्सरस: समन्ताद्यस्मिन्नसंख्यातहिरण्यगर्भा: ।
अनन्तपीताम्बरधामरम्या ग्रामा जयन्ति त्रिदिवप्रदेशान् ॥४४॥ सर्ग १

यहाँ देश के सरोवर, अपरिमित स्वर्ण भाण्डार और गगनचुम्बी महलों का कितना मनोरम वर्णन है।

गन्ना पेरने के यन्त्रों तथा वायु के मन्द झोंके से हिलते हुए धान्य के खेतों से परिपूर्ण पृथिवी का वर्णन देखिए—

यन्त्रप्रणालीचषकैरजस्रमापीय पुण्ड्रेक्षुरसासवौघम् ।
मन्दानिलान्दोलितशालिपूर्णा विघूर्णते यत्र मदादिवोर्वी ॥४५॥ सर्ग १

वहाँ मन्द-मन्द वायु से हिलते हुए धान्य के पौधों से परिपूर्ण पृथिवी ऐसी जान पड़ती है मानो यन्त्रों की नालीरूप कटोरों के द्वारा गन्ना और ईख के रसरूपी मदिरा का पान कर उसके नशा में मानो झूमती रहती है।

वहाँ की धान्य-सम्पदा का वर्णन देखिए कितना भावपूर्ण है—

जनै: प्रतिग्रामसमीपमुच्चैःकृता वृषाद्यैर्वरधान्यकूटा: ।
यत्रोदयास्ताचलमध्यगस्य विश्रामशैला इव भान्ति भानो: ॥४८॥ सर्ग १

जिस देश में प्रत्येक गाँव के समीप लगायी हुई धान्य की ऊँची-ऊँची राशियाँ ऐसी जान पड़ती हैं मानो उदयाचल और अस्ताचल के बीच चलनेवाले सूर्य के विश्राम के लिए धर्मात्मा जनों के द्वारा बनवाये हुए विश्रामशैल—विश्राम करने के लिए पर्वत ही हों।

धान्य के खेतों की रखानेवाली लड़कियाँ सुन्दर गीत गाती हैं और उन गीतों को सुनकर मृगों का समूह चित्रलिखित-सा स्थिर हो जाता है। समीप से निकलनेवाले पथिक उन मृगों के समूह को चित्राभ-जैसा मानते हैं। यह कितना प्राकृतिक वर्णन है। श्लोक देखिए—

सस्यस्थलीपालकबालिकानामुल्लोलगीतश्रुतिनिश्चलाङ्गम् ।
यत्रैणयूथं पथि पान्थसार्था: सल्लेप्य-लीलामयमामनन्ति ॥५०॥ सर्ग १

उत्तरकोसल देश की नदियों का वर्णन करते हुए कवि ने अपनी काव्य-प्रतिभा को कितना साकार किया है—यह देखिए—

यं तादृशं देशमपास्य रम्यं यत्क्षारमब्धिं सरित: समीयु: ।
बभूव तेनैव जडाशयानां तासां प्रसिद्धं किल निम्नगात्वम् ॥५१॥ सर्ग १

उस वैसे सुन्दर देश को छोड़कर नदियाँ खारे समुद्र के पास गयी थीं इसीलिए क्या उन जडाशयों—मूर्खों (पक्ष में जलयुक्त) का नाम लोक में निम्नगा प्रसिद्ध हुआ था।

चतुर्थ सर्ग में वत्सदेश की फल-सम्पत्ति का वर्णन करते हुए कहते हैं—

फलावनम्राम्रविलम्बिजम्बूजम्बीरसारङ्गलवङ्गपूगम् ।
सर्वत्र यत्र प्रतिपद्य पान्था: पाथेयभारं पथि नोद्वहन्ति ॥३॥ सर्ग ४

जिस देश में पथिकों को सर्वत्र फलों से झुके हुए आम, जामुन, जम्बीर, सन्तरे, लौंग और सुपारियों के वृक्ष मिलते हैं अतः वे व्यर्थ ही मार्ग में पाथेय का बोझ नहीं उठाते।

प्रजा की सुख-सुविधा और स्वास्थ्य सम्पत्ति का वर्णन परिसंख्या अलंकार की आभा में देखिए—

काले प्रजानां जनयन्ति तापं करा रवेरेव न यत्र राज्ञः।
स्याद्भोगभङ्गोऽपि भुजङ्गमानां स्वस्थे कदाचिन्न पुनर्नराणाम् ॥११॥ सर्ग ४

जिस देश में सूर्य की किरणें ही समय पाकर प्रजा को सन्ताप पहुँचाती थीं, राजा के कर—टैक्स नहीं। इसी प्रकार भोगभङ्ग—फणा का नाश यदि होता था तो सर्पों के ही होता था, वहाँ के मनुष्यों के स्वस्थ रहते हुए भोगभङ्ग—विषय का नाश नहीं होता था।

प्रथम सर्ग में रत्नपुर नगर का वर्णन करते हुए वहाँ के महलों की ऊँचाई और उनपर फहराती हुई धवल पताकाओं का वर्णन देखिए कितना मनोरम हुआ है—

प्रासादशृङ्गेषु निजप्रियायाँ हेमाण्डकप्रान्तमुपेत्य रात्रौ।
कुर्वन्ति यत्रापरहेमकुम्भभ्रमं द्युगङ्गाजलचक्रवाकाः ॥६०॥
शुभ्रा यदभ्रंलिहमन्दिराणां लग्ना ध्वजाग्रेषु न ताः पताकाः।
किंतु त्वचो घट्टनतः सितांशोर्नो चेत्किमन्तर्व्रणकालिकास्य ॥६१॥—सर्ग १.

उस नगर में रात्रि के समय आकाशगङ्गा के जल के समीप रहनेवाले चक्रवाक पक्षी, अपनी स्त्रियों के वियोग से दुखी होकर मकानों के शिखरों पर स्वर्णकलशों के समीप यह समझकर जा बैठते हैं कि यह चक्रवाकी है और इस तरह वे कलशों पर लगे हुए दूसरे स्वर्ण-कलशों का भ्रम उत्पन्न करने लगते हैं।

उस नगर के गगनचुम्बी महलों के ऊपर ध्वजाओं के अग्रभाग में जो सफ़ेद-सफ़ेद वस्त्र लगे हैं वे पताकाएँ नहीं हैं किन्तु संघर्षण से निकली हुई चन्द्रमा की त्वचाएँ हैं। यदि ऐसा न होता तो इस चन्द्रमा के बीच व्रण की कालिमा क्यों होती?

कोट की ऊँचाई का वर्णन करने के लिए कवि की उत्प्रेक्षा देखिए—

मद्वाजिनो नोर्ध्वधुरा रथेन प्राकारमारोढुममुं क्षमन्ते।
इतीव यल्लङ्घयितुं दिनेशः श्रयत्यवाचीमथवाप्युदीचीम् ॥८१॥ सर्ग १

जिसकी धुरा बिलकुल ऊपर की ओर उठ रही है ऐसे रथ के द्वारा हमारे घोड़े इस प्राकार को लाँघने में समर्थ नहीं हैं। यह विचारकर ही मानो सूर्य उस रत्नपुर को लाँघने के लिए कभी तो दक्षिण की ओर जाता है और कभी उत्तर की ओर।

इसी सन्दर्भ में तद्गुणालंकार का वैभव देखिए—

रात्रौ तमःपीत-सितेतराश्म-वेश्माग्रभाजामसितांशुकानाम्।
स्त्रीणां मुखैर्यत्र नवोदितेन्दुमाला कुलेव क्रियते नभःश्रीः ॥८०॥ सर्ग १

उस नगर में रात्रि के समय अन्धकार से तिरोहित नील मणियों के मकानों की छतों पर बैठी हुई नील वस्त्र पहननेवाली स्त्रियों के मुख से आकाश की शोभा ऐसी जान पड़ती है मानो नवीन उदित चन्द्रमाओं के समूह से ही व्याप्त हो रही हो।

चतुर्थ सर्ग में सुसीमा नगर का वर्णन करते हुए वहाँ की हर्म्य-पंक्ति का वर्णन करने के लिए कवि ने जिस श्लेषोपमा का आश्रय लिया है उसका एक नमूना देखिए—

व्यापार्य सज्जालकसंनिवेशे करानभिप्रेङ्खति यत्र राज्ञि ।

द्रवत्यनीचैस्तनकूटरम्या कान्तेव चन्द्रोपलहर्म्यपङ्क्तिः ॥१९॥ सर्ग ४.

जब राजा—प्राणवल्लभ सँभले हुए केशों के बीच धीरे-धीरे अपने हाथ चलाता है तब जिस प्रकार पीनस्तनों से सुशोभित स्त्री काम से द्रवीभूत हो जाती है उसी प्रकार जब राजा—चन्द्रमा उस नगरी के सुन्दर झरोखों के बीच धीरे-धीरे अपनी किरणें चलाता है तब ऊँचे-ऊँचे शिखरों से सुशोभित उस नगरी की चन्द्रकान्तमणि-निर्मित महलों की पंक्ति भी द्रवीभूत हो जाती है—उससे पानी झरने लगता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि ने देश और नगर के वर्णन में विविध अलंकारों की जो छटा दिखलायी है वह अन्य काव्यों में दुर्लभ है।

जीवन्धरचम्पू का नगरी-वर्णन

देखिए, प्रथम लम्भ में हेमांगद देश की राजपुरी का वर्णन करते हुए कवि की काव्यप्रतिभा कितनी साकार हो उठी है।

'उस हेमांगद देश में राजपुरी नाम की जगत्प्रसिद्ध नगरी है। उस नगरी के कोट में लगे हुए नीलमणियों की किरणें सूर्य का मार्ग रोक लेती हैं जिससे सूर्य यह समझकर विवश हो जाता है कि मुझे राहु ने घेर लिया है और इस भ्रान्ति के कारण ही वह हजार चरणों (पक्ष में किरणों) से सहित होने पर भी वहाँ के कोट को नहीं लाँघ सकता है[1] ॥१३॥'

'वह नगरी अपने मेघस्पर्शी महलों की ध्वजाओं के वस्त्रों से सूर्य के घोड़ों की थकान दूर करती रहती है तथा बिजली के समान चमकीली शरीरलता को धारक स्त्रियों से सुशोभित रहती है। उसके मणिमय महलों की फैली हुई कान्ति की परम्परा से स्वर्गलोक में चँदोवा-सा तन जाता है और नील पत्थर के कोट से निकलती हुई कान्ति वहाँ हरे-भरे वन्दनमाल के समान जान पड़ती है[2] ॥१४॥'

---

१. तत्रास्ति राजनगरी जगति प्रसिद्धा
प्राकारनीलमणिदीधितिरुद्धमार्गः।
राहुभ्रमेण विवशस्तरणिः सहस्रैः
पादैर्युतोऽपि न हि लङ्घयति स्म सालम् ॥१३॥

२. अम्भोमुक्चुम्बिसौधध्वजपटपवनोद्धूतसप्ताश्वखेदा—
भ्रान्तैः सौदामिनीश्रीतुलिततनुलतामानिनीमानितायाः।
यस्या माणिक्यगेहप्रसृतरुचिभरैः कल्पितोऽभूद्विताने
निर्यन्नीलाश्मसालद्युतिरमरपुरे वन्दनस्रामभूव ॥१४॥ --लम्भ १

'उस नगरी के हरे-भरे मणियों से निर्मित मकानों की कान्ति से व्याप्त होकर जब मेघों के समूह हरे-भरे दिखने लगते हैं तब सूर्य के रथ के घोड़े उन मेघों को दूर्वा और पानी समझकर उनकी ओर झपटते हैं और यतः सूर्य घोड़ों की इस प्रवृत्ति को सहने में असमर्थ है इसलिए ही उसने क्या उत्तरायण और दक्षिणायन के भेद से अपने दो मार्ग बना लिये हैं[1] ॥१५॥'

'उस नगरी की सुन्दरी स्त्रियों के मुख-रूपी चन्द्रमा से पिघले हुए, चन्द्र-कान्तमणिनिर्मित महलों से जो पानी झरता है उसे पीने की इच्छा से चन्द्रमा का मृग बड़े वेग से आया परन्तु ज्यों ही उसने महलों के शिखर पर बने हुए सिंह देखे त्यों ही भयभीत हो बड़े वेग से बाहर निकल गया[2] ॥१६॥'

'उस नगरी के अतिशय श्रेष्ठ राजमहलों की देहलियों में जो गरुड़ मणि लगे हुए हैं उनसे मृगों के समूह पहले कई बार छकाये जा चुके हैं इसलिए अब वे कोमल तृणों को देखकर छूते भी नहीं हैं किन्तु जब वे तृण स्त्रियों की मन्द मुसकान से सफ़ेद हो जाते हैं, तब चर लेते हैं[3] ॥१७॥'

'उस नगरी के ऊँचे-ऊँचे महलों की छतों पर बैठनेवाली स्त्रियों के नेत्ररूपी नील कमलों की काली कान्ति ऐसी जान पड़ती है मानो अपनी सखी गंगा नदी को देखने के लिए यमुना नदी ही बड़ी शीघ्रता से स्वर्ग की ओर बढ़ी जा रही हो[4] ॥१८॥'

'उस नगरी के मकानों की छतों पर देवांगनाओं के प्रतिबिम्ब पड़ रहे थे और वहीं पर तरुणजनों की निज की स्त्रियाँ बैठी थीं। यद्यपि दोनों का रूप-रंग एक-सा था तथापि तरुणजन नेत्रों की टिमकार की कुशलता से उन दोनों को अलग-अलग जान लेते हैं। इसी प्रकार वहाँ के नीलमणि निर्मित महलों के अग्रभाग में स्थित किन्हीं सुन्दरियों के मुखचन्द्र को तथा पास ही में विचरनेवाले चन्द्रमा के बिम्ब को देखकर

---

१. यस्यां हरिन्मणिमयालयकान्तिजालै—
र्व्याप्ते बलाहककुलेऽपि सहस्ररश्मिः ।
दूर्वाम्बुबुद्धिपतदश्वरथाश्मरोध —
क्लेशासहः किमकरोद्गमनेऽयने द्वे ॥१५॥

२. यत्सुन्दरीवदनचन्द्रविलीनचन्द्र—
कान्ताश्मसौधगलितं सलिलं पिपासुः ।
एणाङ्करङ्कुरतिवेगवशात्समेत्य
भीतो रयेण निरयात् कृतसौधसिंहात् ॥१६॥

३. यस्यामनर्घ्यमणिमन्दिरदेहलीषु
गारुत्मतीषु भगणा बहु वञ्चिताः प्राक् ।
दृष्ट्वापि कोमलतृणानि न संस्पृशन्ति
स्त्रीमन्दहासधवलानि चरन्ति तानि ॥१७॥

४. उच्चहर्म्यशिखराधिष्ठाना,
यत्राङ्गनानां नयनोत्पलश्रीः ।
गङ्गां सखीं स्वामवलोकितुं द्राक्
स्वर्गं गता सूर्यसुतेव भाति ॥१८॥

राहु आकाशांगण में संशय को प्राप्त हुआ था[1] ॥१९॥'

'उस नगरी के बड़े-बड़े महलों को देखकर ही मानो देवेन्द्र शीघ्र ही निमेषकाररहित हो गया है, कमलों से सुशोभित परिखा को देखकर ही मानो गंगा नदी विषाद—खेद (पक्ष में शिव) को प्राप्त हुई है, वहाँ के जिनमन्दिरों को देखता हुआ सुमेरु पर्वत अपने रमणीय शब्द कर रहा है (पक्ष में—सुवर्णमय सुन्दर शरीर धारण करता है) और देवों की नगरी अमरावती भी उस नगरी को देखकर तथा शोक से आकुल हो बल के साथ द्वेष रखनेवाले (पक्ष में—बल नामक दैत्य को नष्ट करनेवाले) इन्द्र को स्वीकृत कर चुकी है[2] ॥२०॥

धर्मशर्माभ्युदय का नारी-सौन्दर्य

प्रथम तो प्रकृति ने ही पुरुष शरीर की अपेक्षा स्त्री के शरीर में सौन्दर्य का समावेश अधिक किया है फिर कवि ने अपनी क़लम से, चित्रकार ने अपनी तूलिका से और कलाकार ने अपनी छेनी से उसके सौन्दर्य को उभारकर प्रस्तुत किया है। राजा महासेन की रानी सुव्रता के सौन्दर्य-वर्णन में कवि ने जो विभुता प्राप्त की है वह अन्य काव्यों में दुर्लभ है। कवि की अनुप्रासपूर्ण भाषा में उसकी युवावस्था का वर्णन देखिए—

सुधासुधारश्मिमृणालमालतीसरोज-सारैरिव वेधसा कृतम्।
शनैः शनैर्मौग्ध्यमतीत्य सा दधौ सुमध्यमा मध्यममध्यमं वयः ॥२-२६॥

सुन्दर कमरवाली उस सुव्रता ने धीरे-धीरे मौग्ध्य अवस्था को व्यतीत कर ब्रह्मा द्वारा अमृत, चन्द्रमा, मृणाल, मालती और कमल के स्वरस से निर्मित की तरह सुकुमार तारुण्य अवस्था को धारण किया।

रानी सुव्रता के सौन्दर्य रस का एकत्र वर्णन देखिए—

स्मरेण तस्याः किल चारुतारसं जनाः पिबन्तः शरजर्जरीकृताः।
स पीतमात्रोऽपि कुतोऽन्यथागलत्तदङ्गतः स्वेदजलच्छलाद् बहिः ॥२-२७॥

जो भी मनुष्य उसके सौन्दर्यरस का पान करते थे, कामदेव उन सबको अपने बाणों द्वारा जर्जर कर देता था। यदि ऐसा न होता तो वह सौन्दर्यरस, पीते ही साथ स्वेद जल के बहाने उनके शरीर से बाहर क्यों निकलने लगता ?

---

१. यत्प्रासादपरम्पराप्रतिफलद्देहेनाकृत्नास्नाङ्गना—
भेदं दृष्टिनिमेषकौशलवशाज्जानाति यूनां ततिः।
यद्वैडूर्यशिरोगृहस्थयुवतीवक्त्रेन्दुबिम्बं विधो—
बिम्बं नैव समीक्ष्य संशयमगात् स्वर्भानुरभ्राजिरे ॥१९॥ —सर्ग १

२. यत्सौधानवलोक्य निर्जरपतिर्द्राक् निर्निमेषोऽभवद्
यस्या वीक्ष्य सरोजशोभिपरिखां गङ्गा विषादं गता।
यत्रत्यानि जिनालयानि कलयन्मेरुः स्वकार्तस्वरं
स्वीचक्रे च बलद्विषं सुरपुरी यां वीक्ष्य शोकाकुला ॥२०॥

नखशिख वर्णन में कवि ने ३८ से ६० श्लोक तक बहुभाग घेरा है। प्रत्येक अंग के वर्णन में कवि ने उत्प्रेक्षा की जो लम्बी-लम्बी उड़ानें भरी हैं वे पाठक के चित्त को आश्चर्य में डाल देती हैं। रानी के कपोलों का वर्णन देखिए—

कपोलहेतोः खलु लोकचक्षुषो विधिर्व्यधात्पूर्णसुधाकरं द्विधा।
विलोक्यतामस्य तथाहि लाञ्छनच्छलेन पश्चात्कृतसीवनव्रणम् ॥२-५०॥

ऐसा लगता है मानो विधाता ने उस चपललोचना के कपोल बनाने के लिए पूर्णचन्द्र के दो टुकड़े कर दिये हों। देखो न, इसीलिए तो उस चन्द्रमा में कलंक के बहाने पीछे से की हुई सिलाई के चिह्न विद्यमान हैं।

मस्तक पर सुशोभित घुँघराले बालों का वर्णन देखिए, कितनी प्रवाहपूर्ण भाषा में दिया है?

अनिन्द्यदन्तद्युतिफेनिलाधरप्रवालशालिन्युरुलोचनोत्पले।
तदास्यलावण्यसुधोदधौ बभुस्तरङ्गभङ्गा इव मञ्जुरालकाः ॥२-५१॥

दाँतों की उज्ज्वल कान्ति से फेनिल, अधरोष्ठरूपी मूँगा से सुशोभित और बड़े-बड़े नेत्ररूपी कमलों से युक्त उसके मुख के सौन्दर्य-सागर में घुँघराले बाल लहरों की तरह सुशोभित हो रहे थे।

मुख की शोभा का वर्णन करने के लिए कवि ने चन्द्रमा को जो उपालम्भ दिया है वह क्या कहीं अन्यत्र प्राप्त है?

तदाननेन्दोरधिरोहता तुलां मृगाङ्कचित्तेऽपि न लज्जितं त्वया[1]।
यतोऽसि कस्तत्र पयोधरोन्नतौ स मूल यत्राभ्यधिकं व्यराजत ॥२-६०॥

रे चन्द्र! उस सुव्रता के मुखचन्द्र की तुलना को प्राप्त होते हुए तुझे चित्त में लज्जा भी न आयी? जिन पयोधरों (मेघों, स्तनों) की उन्नति के समय उसका मुख अधिक शोभित होता है उन पयोधरों (मेघों) के समय तेरा पता भी नहीं चलता।

समग्र सौन्दर्य का वर्णन देखिए—

चकार यो नेत्रचकोरचन्द्रिकामिमामनिन्द्यां विधिरन्य एव सः।
कुतोऽन्यथा वेद[2] नयान्वितात्ततोऽप्यभूदमन्दद्युति रूपमीदृशम् ॥२-६४॥

—सुव्रता के पति राजा महासेन उसकी सुन्दरता का स्वयं विचार करते हुए कहते हैं—जिस विधाता ने नेत्ररूपी चकोरों के लिए चाँदनी तुल्य इस सुव्रता को बनाया है वह अन्य ही है अन्यथा वेदनयान्वित-वेदज्ञान से सहित (पक्ष में वेदना से सहित) प्रकृत ब्रह्मा से ऐसा अमन्द-कान्ति-सम्पन्न रूप कैसे बन सकता है?

यह तद्योगेऽतद्योगनामक अतिशयोक्ति अलंकार का सुन्दर उदाहरण है।

---

१. अये मृगाङ्क! त्वं यत्र पयोधरोन्नतौ विलुप्तो भवसि स तत्राधिकं चकासामास अतस्तस्य तुलारोहणे त्वया चेतसि लज्जितव्यमिति भावः।

२. वेदनया वार्धक्यजनितपीडया पक्षे ज्ञानेन अन्विताद् सहिताद् 'वेदना ज्ञानपीडयोः' इति विश्वलोचनः।

यह श्लोक कालिदास के 'विक्रमोर्वशी' के निम्न श्लोक से प्रभावित जान पड़ता है—

> अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः
>
> शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः ।
>
> वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो
>
> निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः ॥

और हस्तिमल्ल के 'विक्रान्त कौरव' का निम्न श्लोक इससे प्रभावित लगता है ।

> इयं चेत् सृष्टा स्यादमृतनिधिनैवेन्दुवदना
>
> कथं क्लाम्यत्कान्तिः सृजतु स इमामस्थिरकलः ।
>
> अथैनां कामश्चेत् प्रकृतिललितः स्रष्टुमुचितः
>
> स्वसत्तायां कोऽन्यः प्रथमभवलम्बोऽस्य भवतु ॥१-२३॥

राजा महासेन का दूसरा चिन्तन देखिए—

> वपुर्वयोवेषविवेकवाग्मिता-विलास-वंशव्रत-वैभवादिकम् ।
>
> समस्तमप्यत्र चकास्ति तादृशं न यादृशं व्यस्तमपीक्ष्यते क्वचित् ॥२-२६॥

शरीर, अवस्था, वेष, विवेक, वचन, विलास, वंश, व्रत और वैभव आदिक सभी इसमें जिस प्रकार सुशोभित हो रहे हैं, उस प्रकार कहीं अन्यत्र पृथक्-पृथक् भी सुशोभित नहीं होते ।

> न नाकनारी न च नागकन्यका न च प्रिया कापि च चक्रवर्तिनः ।
>
> अभूद् भविष्यत्यथवास्ति साम्प्रिमां यदङ्गकान्त्योपमिमीमहे वयम् ॥२-६७॥

न ऐसी कोई देवाङ्गना, न नागकन्या और न चक्रवर्ती की प्रिया ही हुई है, होगी अथवा है जिसके शरीर की कान्ति के साथ हम इस सुव्रता की अच्छी तरह तुलना कर सकें ।

सत्रहवें सर्ग में सुप्रभा की लक्ष्मी का वर्णन देखिए, कितना अद्भुत है ?

> मङ्क्तुं जले वाञ्छति पद्ममिन्दुर्व्योमाङ्गणं सर्पति लङ्घनार्थम् ।
>
> क्लिश्यन्ति लक्ष्म्याः सुदृशा हृतायाः प्रत्यागमार्थं कति न त्रिलोक्याम् ॥१७-२०॥

कमल जल में डूबना चाहता है और चन्द्रमा उल्लंघन करने के लिए आकाश रूपी आँगन में गमन करता है सो ठीक ही है क्योंकि उस सुलोचना के द्वारा अपहृत लक्ष्मी को पुनः प्राप्त करने के लिए तीनों लोकों में कितने लोग कष्ट नहीं उठाते ? और भी—

> कुतः सुवृत्तं स्तनयुग्ममस्या नितम्बभारोऽपि गुरुः कथं वा ।
>
> येन द्वयेनापि महोन्नतेन समाश्रितं मध्यमकारि दीनम् ॥१७-२१॥

इसका स्तनयुगल सुवृत्त—सदाचारी (पक्ष में गोलाकार) और नितम्बभार गुरु—उपाध्याय (पक्ष में स्थूल) कैसे हो सकता था जिन दोनों ने स्वयं उन्नत होकर अपने आश्रित मध्यभाग को अत्यन्त दीन—कृश बना दिया था ।

अब स्तन-वर्णन में कवि की कला देखिए—

यद्वर्ण्यते निर्वृतिधाम धन्यैर्ध्रुवं तदस्याः स्तनयुग्ममेव ।

नो चेत्कुतस्त्यक्तकलङ्कपङ्का मुक्ता गुणैरत्र वसन्ति मुक्ताः ।।१७-२२।।

धन्य पुरुषों के द्वारा जिस मुक्तिधाम का वर्णन किया जाता है निश्चय से वह इसका स्तनयुगल ही है। यदि ऐसा न होता तो यहाँ कलंकरूपी पाप से रहित और सम्यग्दर्शनादि गुणों से (पक्ष में तन्तुओं से) युक्त मुक्त—सिद्ध परमेष्ठी (पक्ष में मुक्ताफल) क्यों निवास करते ?

जीवन्धरचम्पू में नारी-सौन्दर्य का वर्णन

यह पहले कहा जा चुका है कि नारी, कवि की कलम, चित्रकार की तूलिका और शिल्पकार की छैनी का लक्ष्य युग-युग से होती आ रही है। महाकवि हरिचन्द्र ने जीवन्धरचम्पू में भी नारी को अपनी क़लम का लक्ष्य कितने ही स्थलों पर बनाया है पर उसके सर्वाधिक सौन्दर्य का वर्णन उन्होंने तृतीय लम्भ में गन्धर्वदत्ता के सौन्दर्य अंकन में किया है। देखिए, पाणिग्रहण के अनन्तर गन्धर्वदत्ता का चित्रण कितना मनोहारी हुआ है[1]—

अपने कान्तिपूर की तरंगों के मध्य में स्तनरूपी तुम्बीफल के सहारे तैरती हुई उस नवयुवती को देखकर जीवन्धरकुमार बहुत भारी आश्चर्य के साथ आनन्दित हुए ।।५०।।

यतश्च कमल-युगल ने अनेक प्रकार से तप में स्थिर रहकर पुण्य-संचय किया था इसलिए फलस्वरूप उसके दोनों चरण बन सके थे, यदि ऐसा न होता तो दोनों चरण हंसों (पक्ष में तोडर) का आश्रय लेकर हृदयहारी—मनोहर शब्द कैसे करते[2] ? ।।५१।।

पैर की किरणों से जिनका अग्रभाग लाल हो रहा है ऐसे उसके नख इस प्रकार सुशोभित हो रहे थे मानो अन्य स्त्रियों को मुख देखने के लिए विधाता के द्वारा बनाये हुए अतिशय निर्मल मणिमय दर्पण ही हों ।।५२।।

इसके कुछ-कुछ लाल नखों ने कुरबक पुष्प की कान्ति जीत ली थी और चरणकमल की कान्ति ने अशोक वृक्ष का पल्लव जीत लिया था ।।५३।।

मैं गन्धर्वदत्ता के जंघायुगल को कामदेव के तरकस का युगल समझता हूँ अथवा कामदेव के बाणों को तीक्ष्ण करने के लिए वज्रनिर्मित मसाण मानता हूँ ।।५४।।

तपाये हुए सुवर्ण के समान सुन्दर रूप को धारण करनेवाले उसके दोनों ऊरु ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो स्तनरूपी गुम्बजों से सुशोभित उसके शरीररूपी

---

१. पृ. ७०, श्लोक ५० से पृष्ठ ७४, श्लोक ६६ तक ।

२. सरोजयुग्मं बहुधातपःस्थितं बभूव तस्याश्चरणद्वयं ध्रुवम् ।
न चेत् कथं तत्र च हंसकाश्रिमौ समेत्य कुर्वन्तनुतां कलस्वनम् ।।५१।।

कामायतन के दो खम्भे ही हों ॥५५॥

इसका नितम्बमण्डल ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो दुकूलरूपी स्वच्छ जल से अलंकृत बालू का टीला ही था, अथवा कामरूपी सागर में डूबनेवाले तरुणजनों के तैरने के लिए यौवनरूपी अग्नि से तपाया हुआ सुवर्णकलश का युगल ही था, अथवा वस्त्र से परिवृत कामदेव का एक चक्रवाला वाहन ही था, अथवा शृंगाररूपी राजा के क्रीडाशैल का मण्डल ही था।

इसकी रोमराजि ऐसी जान पड़ती थी मानो चन्दन से लिप्त स्तनरूपी पर्वत पर चढ़नेवाले कामदेव के लिए मरकतमणियों की बनी सीढ़ियों की पंक्ति ही थी, अथवा सौन्दर्यरूपी नदी पर फैला हुआ पुल ही था, अथवा नाभिरूपी वापिका में गोता लगाने के लिए उद्यत कामदेवरूपी हाथी के गण्डस्थल से उड़ती हुई भ्रमरों की पंक्ति ही थी, अथवा बहुत भारी स्तनों का बोझ धारण करने की चिन्ता से कृशता को प्राप्त हुए मध्य भाग के द्वारा सहारा के लिए ग्रहण की हुई लाठी ही थी, अथवा नाभिरूपी वामी के मुख से निकलती हुई काली नागिन ही थी।

इस मृगनयनी के स्तन ऐसे जान पड़ते थे मानो रोमराजिरूपी लता के दो गुच्छे ही हों और इसीलिए वे जीवन्धरकुमार के नेत्ररूपी भ्रमरों को अपनी ओर खींच रहे थे ॥५६॥

हाररूपी बिजली से सहित तथा नीलाम्बर—नील वस्त्र (पक्ष में नीले आकाश) के भीतर वृद्धि को प्राप्त उसके पयोधरों—स्तनों (पक्ष में मेघों) की उन्नति कामरूपी मयूर को पुष्ट कर रही थी ॥५७॥

उसके दोनों स्तन क्या थे मानो चूचुकरूपी उत्तम लाख से मुद्रित कामदेव के रस से परिपूर्ण दो कलश ही थे और कभी गिर न जावें इस भय से विधाता ने उन्हें लोहे के कीलों से कीलित कर दिया था क्या ? ॥५८॥

उस सुलोचना की लम्बी-लम्बी भुजाएँ आकाशगंगा में सुशोभित सुवर्ण-कमलिनी के मृणाल के समान थीं और ऐसी जान पड़ती थीं मानो कामीजनों को बाँधने के लिए विधाता के द्वारा बनाये हुए दो बड़े-बड़े पाशजाल ही हों ॥५९॥

गन्धर्वदत्ता स्वयं एक पतली लता के समान थी और कोमल तथा स्निग्ध शोभा से सम्पन्न उसकी दोनों भुजाएँ शाखाओं के समान सुशोभित हो रही थीं। उसकी भुजा-रूप शाखाएँ अपनी अंगुलियोंरूपी पल्लवों से सहित थीं, नख ही उनके सुन्दर फूल थे और मनोहर शब्द करनेवाली मरकतमणि की चंचल चूड़ियाँ ही उन पर छाये हुए भ्रमर थे ॥६०॥

उस खंजनलोचना के शंख तुल्य कण्ठ में वीर कामदेव ने यह सोचकर ही मानो तीन रेखाएँ खींच दी थीं कि इसने तीनों जगत् को जीत लिया है ॥६१॥

उसके अधरोष्ठ को कितने ही लोग तो ऐसा कहते हैं कि यह मुखरूपी चन्द्रमा के समीप शोभा पानेवाला सन्ध्याकालीन राग ही है—सन्ध्या की लाली ही है, कोई

कहते हैं कि यह नवीन पल्लव ही है, कोई कहते हैं कि यह मुख की कान्तिरूपी समुद्र का मूँगा ही है पर हम कहते हैं कि यह दन्तपंक्तिरूपी मणियों की रक्षा के लिए लाख से लगायी हुई मनोहर मुहर ही है ॥६२॥

बहुत भारी माधुर्य से भरी हुई उसकी वाणी कोयलों के कलरव की निन्दा करने में निपुण थी। वह अमृत को लज्जा प्रदान करती थी, मुनक्का दाख का तिरस्कार करती थी, पौंडे और ईख को रसीली शक्कर को खण्डित करती थी और श्रेष्ठ मधु को भी नीचा दिखाती थी ॥६३॥

उसकी नाक ऐसी जान पड़ती थी मानो मुख रूपी चन्द्रबिम्ब से नूतन अमृत की एक मोटी धारा निकल कर जम गयी हो अथवा दन्त-पंक्ति रूपी मोतियों और मणियों को तौलनेवाली तराजू की दण्डी ही हो[1] ॥६४॥

उस गन्धर्वदत्ता के मुखरूपी सदन में जगद्विजयी कामदेव रहता था इसलिए उसने उसकी टेढ़ी भौंह को धनुष और उसकी आँखों को बाण बना लिया था। यही कारण है कि उसकी कमलतुल्य आँखों के अग्रभाग में जो लालिमा थी वह तरुण मनुष्यों के मर्मस्थल छेदने से उत्पन्न रुधिर सम्बन्धी लालिमा ही थी ॥६५॥

उत्पल के बहाने मनुष्यों के नेत्ररूपी पक्षियों को पकड़ कर रखनेवाले उसके दोनों कान ऐसे जान पड़ते थे मानो मनुष्यों के नेत्ररूपी पक्षियों को बाँधने के लिए विधाता के द्वारा बनाये हुए दो पाश ही हों ॥६६॥

ऐसा जान पड़ता है कि चन्द्रमा रात्रि के समय उसके मुख की कान्तिरूपी धन को चुराकर आकाश मार्गरूपी वन में वेग से भागता है और दिन के समय कहीं जाकर छिप जाता है। यदि वह कान्तिरूपी धन को हरने वाला नहीं है तो फिर उसके बीच में यह कलंक क्यों है? ॥६७॥

उस कृशांगी के केश क्या थे? मानो मुखचन्द्र की कान्ति रूपी समुद्र के फैले हुए शैवाल ही थे, अथवा मुखरूपी चन्द्रमा के इधर-उधर इकट्ठे हुए सघनमेघ ही थे, अथवा कामरूपी अग्नि से उठता हुआ धूम का समूह ही था, अथवा मुखकमल पर मँडराते हुए भ्रमरों का समूह ही था ॥६८॥

वह गन्धर्वदत्ता क्या किन्नरांगना थी, या असुर की स्त्री थी, या कामदेव की स्त्री—रति थी, या सुवर्ण की लता थी, या बिजली थी, या तारिका थी अथवा क्या नेत्रों की भाग्य रेखा थी? ॥६९॥

गन्धर्वदत्ता के समान अन्य स्त्रियों का भी सौन्दर्य यथास्थान गद्य-पद्य में अंकित किया गया है। सबके उद्धरण इस अल्पकाय लेख में देना सम्भव नहीं है।

---

१. ललाटलेखाशशकलेन्दु-निर्गलत्सुधौघधारेव घनत्वमागता।
तदीयनासा द्विजरत्नसंहतेस्तुलेव कान्त्या जगदप्यशोभयत् ॥६४॥ धर्म., सर्ग २

१७

जीवन्धरचम्पू की नेपथ्य-रचना

[1]तृतीय लम्भ के अन्त में विद्याधरों का राजा गरुडवेग, अपनी पुत्री गन्धर्वदत्ता का जीवन्धर कुमार के साथ पाणिग्रहण करने के लिए समुद्यत है। विवाह के प्रारम्भ में होनेवाली नेपथ्य-रचना का प्रारम्भ गरुडवेग के द्वारा किये हुए मंगलस्नान से शुरू होता है।

विद्याधरों के राजा गरुडवेग ने आकर स्फटिक मणि के पीठ पर स्थित देव-दम्पतीतुल्य वधूवर का अपनी भुजारूपी सर्प के फणामणि के समान दिखनेवाले मणिमय कलशों से झरती हुई जलधाराओं के द्वारा अभिषेकमंगल—मांगलिकस्नान पूर्ण किया। उस समय जलधारा की सफ़ेदी हाथ के नाखूनों की कान्ति से दूनी हो रही थी और भुजारूपी वंश से निकलनेवाले मोतियों के झरनों की सम्भावना बढ़ा रही थी।

क्षीरसमुद्र के फेन-समूह के समान दिखनेवाले वस्त्रों को पहने हुए वे दोनों दम्पती अलंकारगृह के मध्य में हीरकजटित पीठ पर पूर्व दिशा की ओर मुख कर बैठाये गये। इन दोनों के शरीर स्वभाव से ही सुन्दर थे, यहाँ तक कि आभूषणों को भी सुशोभित करनेवाले थे, इसलिए उनमें आभूषण पहनाने का प्रयोजन केवल मंगलाचार ही था, शोभा बढ़ाना नहीं। अथवा भूषण-समूह की शोभा बढ़ानेवाले उनके शरीर में जो आभूषण पहनाये गये थे वे केवल दृष्टिदोष को नष्ट करने के लिए ही पहनाये गये थे।

[2]सर्वप्रथम उस खंजनलोचना के शिर पर सखी ने वह सीमन्त—माँग निकाली थी जो कि मुख की कान्तिरूपी नदी के मार्ग के समान जान पड़ती थी और तदनन्तर उसपर उस नदी के फेनपुंज के समान दिखनेवाली फूलों की माला पहनायी गयी थी। इसके मुखपर नीलमणि की वह बेंदी पहनायी गयी थी जो मुखरूपी चन्द्रमा के कलंक-चिह्न के समान जान पड़ती थी और इसके पश्चात् आँखों में अंजन लगाया गया जो मुख पर आक्रमण करनेवाली आँखों की सीमान्त-रेखा के समान जान पड़ता था।

आभूषण पहनाने वाली सखी-जनों ने गन्धर्वदत्ता के कपोल पर जो मकरी का चिह्न बनाया था वह ऐसा सुशोभित होता था मानो 'यह कामदेव की पताका है' ऐसा समझकर साक्षात् कामदेव के पताका की मकरी ही आ पहुँची हो अथवा उसके कपोल-मण्डल के सौन्दर्य-सरोवर में जो युवकजनों के नेत्ररूपी पक्षी पड़ रहे थे उन्हें बाँधने के लिए विधाता ने एक जाल ही बना रखा हो।

---

१. पृष्ठ ६७-६८।

२. सीमन्तं परिकल्प्य खञ्जनदृशो वक्त्रप्रभानिम्नगा-
मार्गाभं सुममालिकां च विदधे तत्फेनपुञ्जायिताम्।
आस्ये नीलललाटिका सहचरी वक्त्रेन्दुलक्ष्मायिता-
मक्ष्णोरञ्जनमाननाक्रमकृतोः सीमान्तरेखामिव ॥५८॥

[1]मृगनयनी गन्धर्वदत्ता के कपोलों पर कस्तूरी द्वारा निर्मित पत्राकार रचना के बहाने केशों का प्रतिबिम्ब पड़ रहा था और वह अन्धकार के बच्चों के समान जान पड़ता था। साथ ही उसके कानों में जो दो कर्णफूल पहनाये गये थे वे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो अन्धकार के उन दो बच्चों को शीघ्रता से नष्ट करने के लिए दो सूर्य ही आ पहुँचे हों। फूलों से सुशोभित उसका केशपाश ऐसा जान पड़ता था मानो जगत्त्रय की विजय के लिए प्रस्थान करनेवाले कामदेव का बाणों से भरा तरकस ही हो। सखी के द्वारा बनायी हुई उसकी सर्पतुल्य वेणी ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो शरीर रूप कामदेव के धनुष की डोरी ही हो अथवा मुखकमल की सुगन्ध के लोभ से आयी हुई भ्रमरों की पंक्ति ही हो।

नहलायी हुई राजपुत्री पद्मा को उसकी सखियों ने बड़े हर्ष से प्रसाधनगृह के आँगन में आभूषण पहनाना शुरू किया ॥४०॥

क्षीर-सागर के तटपर स्थित चंचल फेन के टुकड़ों के समान कोमल वस्त्र से वेष्टित राजपुत्री ऐसी जान पड़ती थी मानो शरद्ऋतु की निर्मल मेघमाला से सुशोभित चन्द्रमा की रेखा ही हो अथवा फूलों से आच्छादित कल्पलता ही हो ॥४१॥

[2]उसके चरण कमलों में जो हीरों के नूपुर चमक रहे थे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो नखरूपी चन्द्रमा की सेवा के लिए ताराओं की पंक्ति ही उसके चरणों के समीप आयी हो। अथवा ऐसे जान पड़ते थे मानो यौवन रूपी लता के फूल ही झड़कर नीचे आ पड़े हों ॥४२॥

उसके स्थूल नितम्बमण्डल पर सुशोभित कर-धनी ऐसी जान पड़ती थी मानो कामदेव की राजधानी का सुवर्णमय कोट ही हो, अथवा काम के खजाने को घेरकर बैठी सर्पिणी ही हो अथवा कामदेव के उद्यान की बाड़ी रूप कल्पलता ही हो।

[3]क्या यह हार है अथवा सब मनुष्यों के नेत्रों का आहार ही है? अथवा इस कमल-लोचना के स्तनरूपी पर्वत से पड़ता हुआ झरने का प्रवाह है? अथवा स्तनरूपी

---

१. तस्याः कपोलतलसङ्क्रमितौ मृगनाभिपत्र-
पत्रच्छलेन कचबृन्दतमःकिशोरौ।
ध्वंसयितुं रवियुगं किल कर्णशोभि
ताटङ्कयुग्ममधिकं रुरुचे मृगाक्ष्याः ॥४३॥
—लम्भ ३.

२. पादाम्बुजोल्लसित-हीरकनूपुरश्री-
राविर्बभूव नखचन्द्रसेवनाय।
ताराबलिः पदसमीपगतेव तस्या-
स्तारुण्यवल्लिपतितेव सुमालिः ॥४२॥—लम्भ ३

३. हारः किं वा सकलनयनाहार एवाम्बुजाक्ष्या
धारा वक्षोरुहगिरिपतन्निर्झरस्यैव पूरः।
किं वा तस्याः स्तनमुकुलयोः कोमलश्रीमृणाली
भाति स्मैवं विशयवशगैः स्त्रीजनैः प्रेक्ष्यमाणः ॥४४॥

मुकुलों का कोमलमृणाल है ? इस प्रकार संशय के वशीभूत हो स्त्रीजनों के द्वारा देखा गया उसका हार बहुत ही अधिक सुशोभित हो रहा था ।

[1]उसके नाक की मणि ऐसी जान पड़ती थी मानो मुखरूपी कमल के मध्य में सुशोभित पानी की बूंद ही हो अथवा नासारूपी वंश से गिरा हुआ श्रेष्ठ नूतन मोती ही हो ॥४४॥

[2]उसके स्तनों पर जो मकरी का चिह्न बना था वह निम्न प्रकार संशय उत्पन्न कर रहा था—क्या यह कामदेव सम्बन्धी मन्त्र के बीजाक्षरों की पंक्ति है ? क्या उसकी विरुदावली है ? अथवा क्या स्तन-रूपी कमलों पर बैठनेवाली भ्रमरों की पंक्ति ही है ॥४५॥

राजा

अलंकार-चिन्तामणि के अनुसार नृप—राजा में निम्नांकित गुणों का वर्णन किया जाता है—

> नृपे यशः प्रतापाज्ञेऽसत्सन्निग्रहपालने ।
> सन्धिविग्रहयानादिशस्त्राभ्यासनयक्षमाः ॥२५॥
> अरिषड्वर्गजेतृत्वं धर्मरागो दयालुता ।
> प्रजारागो जिगीषुत्वं धर्मौदार्यगभीरताः ॥२६॥
> अविरुद्धत्रिवर्गत्वं सामादिविनियोजनम् ।
> त्यागसत्यसदाशौचशौर्यैश्वर्योद्यमादयः ॥२७॥—प्रथम परिच्छेद

राजा में, यश, प्रताप, आज्ञा, दुष्टनिग्रह, सदनुग्रह, सन्धि, विग्रह, युद्ध के लिए प्रस्थान, शस्त्राभ्यास, नय, क्षमा, काम, क्रोध आदि छह अन्तरंग शत्रुओं को जीतना, धर्म-राग, दयालुता, प्रजा के साथ स्नेह, जीत की इच्छा न होना, धीरता, उदारता, गम्भीरता, त्रिवर्ग का निर्विरोध पालन करना, साम-दान, दण्ड आदि उपायोंका प्रयोग करना, त्याग, सत्य, सदा निर्लोभ रहना, शूरता, ऐश्वर्य और उद्यम आदि गुणों का वर्णन होता है ।

धर्मशर्माभ्युदय में राजवर्णन का प्रसंग द्वितीय सर्ग (१-२४) और चतुर्थ सर्ग (२६-४०) में आया है । दोनों ही स्थानों पर कविवर हरिचन्द्र ने अलंकारचिन्तामणि में प्रदर्शित गुणों का अच्छा समावेश किया है । उदाहरण के लिए राजा महासेन की शूरता का वर्णन देखिए । यहाँ शूरता के साथ सुरूपता का भी श्लेष द्वारा सुन्दर अंकन हुआ है—

---

१. नासामणिर्वक्त्रपयोजमध्यविभासुरो यं जलबिन्दुरेव ।
आहोस्विदस्या नवमौक्तिकं किं नासाख्यवंशाद् गलितं गरिष्ठम् ॥४४॥

२. किं काममन्त्रबीजालिः किं वा तद्विरुदावलिः ।
किंचित्कुचाब्जभृङ्गालिर्मकरी संशयं व्यधात् ॥४५॥

गतेऽपि दृग्गोचरमत्र शत्रवः स्त्रियोऽपि [1]कंदर्पमपत्रपा[2] दधुः ।
किमद्भुतं तद्धृत[3]पञ्चसायके यदद्रवन्संगरसंगताः[4] क्षणात् ॥२-२॥

इस राजा के दिखते ही शत्रु अहंकार-रहित हो जाते थे और स्त्रियाँ काम से पीड़ित हो जाती थीं। शत्रु सवारियाँ छोड़ देते थे और स्त्रियाँ लज्जा खो बैठती थीं। जब दिखने में ही यह बात थी तब पाँच बाणों के धारण करने पर युद्ध में आये हुए शत्रु क्षणभर में भाग जाते थे इसमें क्या आश्चर्य था? इसी प्रकार जब यह राजा स्वयं पंचसायक—काम को धारण करता था तब स्त्रियाँ समागम के रस को प्राप्त होकर क्षणभर में द्रवीभूत हो जाती थीं इसमें क्या आश्चर्य था?

दिग्विजय के लिए प्रयाण का वर्णन देखिए—

न केवलं दिग्विजये चलच्चमूभरभ्रमद्भूवलयेऽस्य जङ्गमैः ।
श्रिताहितत्राणकलङ्कशङ्कितैरिव स्थिरैरप्युदकम्पि भूधरैः ॥२-३॥

चलती हुई सेना के भार से जिसमें समस्त भूमण्डल कम्पित हो रहा है ऐसे महाराज महासेन के दिग्विजय के समय केवल जंगम भूधर—राजा ही कम्पित नहीं हुए थे किन्तु शरणागत शत्रुओं की रक्षारूप अपराध से शंकित हुए स्थिरभूधर—पर्वत भी कम्पित हो उठे थे।

तदा तुदत्तुङ्गतुरङ्गमक्रमप्रहारमज्जन्मणिशङ्कुसंहिताम् ।
न भूरिबाधाविधुरोऽप्यपोहितुं प्रगल्भतेऽद्यापि महीमहीश्वरः ॥६॥—सर्ग २

उस समय राजा महासेन के ऊँचे-ऊँचे घोड़ों की टापों के प्रहार से धँसती हुई मणिरूपी कील में पृथिवी मानो खचित हो गयी थी, यही कारण है कि शेषनाग भारी बाधा से दुःखी होने पर भी उसे अब तक छोड़ने में असमर्थ बना है।

उक्त दोनों श्लोकों में भाषा का प्रवाह भी द्रष्टव्य है, आगे राजा महासेन के यश का वर्णन देखिए कितना मनोहारी है?

कुलेऽपि किं तात तवेदृशी स्थितिर्यदात्मजा श्रीर्न सभास्वपि त्यजेत् ।
तदङ्कलीलामिति कीर्तिरीर्ष्यया ययावुपालब्धुमिवास्य वारिधिम् ॥२-५॥

हे तात! क्या तुम्हारे भी कुल में ऐसी रीति है कि पुत्री—लक्ष्मी सभाओं में भी इनके गोद की क्रीड़ा को नहीं छोड़ सकती। ऐसा उलाहना देने के लिए ही मानो इस राजा की कीर्ति समुद्र के पास गयी थी।

इसी से प्रभावित अन्य कवि का भी सुयश-वर्णन देखिए—

लग्नं रागावृताङ्ग्या सुदृढमिव यथैवासियष्ट्यारिकण्ठे
मातङ्गानामपीहोपरि परपुरुषैर्या च दृष्टा पतन्ती ।

---

१. कं दर्पमिति चेदः, पक्षे कंदर्पं कामम् ।
२. न विद्यते पत्रपं श्रेष्ठ-वाहनं येषां ते, पक्षे अपगता-नष्टा त्रपा-लज्जा यासां ताः ।
३. धृताः पञ्च सायकाः पञ्चषड् वा बाणा येन सः, पक्षे धृतः पञ्चसायकः कामो येन सः ।
४. संगरे युद्धे संगता मिलिताः, पक्षे सङ्गे रसः सङ्गरसः तम्, गताः प्राप्ताः ।

तत्सन्नोऽयं न किंचिद् गणयति विदितं तेऽस्तु तेनास्मि दत्ता
मृत्येभ्यः श्रीनियोगाद् गदितुमिति गतेवाम्बुधिं यस्य कीर्तिः ॥

निम्नांकित श्लोक में राजा के सुयश के साथ शत्रु के अपयश का वर्णन भी देखिए कितना मनोहारी हुआ है—

जगत्त्रयोत्तंसितभासि तद्यशः समग्रपीयूषमयूखमण्डले ।
विजृम्भमाणं रिपुराजदुर्यशो बभार तुच्छेतरलाञ्छनच्छविम् ॥२२॥—सर्ग २

त्रिभुवन को अलंकृत करनेवाले उस राजा के यशरूपी पूर्णचन्द्रमा के बीच शत्रुओं का बढ़ता हुआ अपयश विशाल कलंक की कान्ति को धारण कर रहा था।

प्रताप का वर्णन देखिए—

वमन्नमन्दं रिपुवर्मयोगतः स्फुलिङ्गजालं तदसिस्तदा बभौ ।
वपन्निवासृग्जलसिक्तसंगरक्षितौ प्रतापद्रुमबीजसंततिम् ॥२-२३॥

शत्रुओं के कवचों का संसर्ग पाकर बहुत भारी चिनगारियों के समूह को उगलता हुआ उस राजा का कृपाण उस समय ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो खूनरूपी जल से सिंची हुई युद्ध की भूमि में प्रतापरूपी वृक्ष के बीजों का समूह ही बो रहा हो।

दूरात्समुत्तंसितशासनोऽसिन्दूरमुद्रारुणभालमूलाः ।
यस्य प्रतापेन नृपाः कचाग्रकृष्टा इवाजग्मुरुपासनाय ॥३१॥—सर्ग ४

जिनके ललाट का मूलभाग सिन्दूर की मुद्रा से लाल-लाल हो रहा है ऐसे राजा लोग आज्ञा शिरोधार्य कर दूर-दूर से इसकी उपासना के लिए इस प्रकार चले आते थे मानो इसका प्रताप उनके बाल पकड़ उन्हें खींच-खींचकर ही ले आ रहा हो।

औदार्य गुण का वर्णन देखिए—

उदर्कवक्रां वनितास्वभावतो विभाव्य विश्रम्भमधारयन्निव ।
न्यशिश्रणद्वैरिकुलाद्बलाद्धृतां स्वसंमतेभ्यो बहिरेव स श्रियम् ॥२-२०॥

यह लक्ष्मी स्त्री जैसा स्वभाव रखती है अतः फलकाल में कुटिल होगी—ऐसा विचारकर विश्वास न करता हुआ वह राजा शत्रुओं के कुल से हठपूर्वक लायी हुई लक्ष्मी को बाहर ही अपने मित्रों को दे देता था।

प्रयच्छता तेन समीहितार्थान्नूनं निरस्तार्थिकुटुम्बकेभ्यः ।
व्यर्थीभवत्यागमनोरथस्य चिन्तामणेरेव बभूव चिन्ता ॥४-३८॥

यतश्च यह राजा सबके लिए इच्छानुसार पदार्थ देता था अतः याचकों के समूह से खदेड़ी हुई चिन्ता केवल उस चिन्तामणि के पास पहुँची थी जिसके दान के मनोरथ याचक न मिलने से व्यर्थ हो रहे थे।

राजा की श्रुतपारदर्शिता का वर्णन देखिए—

ततः श्रुताम्भोनिधिपारदृश्वनो विशङ्कमानेव पराभवं तदा ।
विशेषपाठाय विधृत्य पुस्तकं कराग्र मुञ्चत्यधुनापि भारती ॥२-१६॥

उस समय शास्त्ररूपी समुद्र के पारदर्शी राजा महासेन से पराभव की आशंका करती हुई सरस्वती ने विशेष पाठ के लिए ही मानो पुस्तक अपने हाथ में ली थी पर उसे अब भी नहीं छोड़ती।

श्रुत, शील, बल और औदार्य का एकत्र समावेश देखिए—

श्रुतं च शीलं च बलं च तत् त्रयं स सर्वदौदार्यगुणेन संदधत्।
चतुष्कमापूरयति स्म दिग्जयप्रसृत्वरकीर्तेः प्रथमं सुमङ्गलम् ॥२–१८॥

वह राजा श्रुत, शील और बल इन तीनों को सदा उदारतारूपी गुण से युक्त रखता था मानो दिग्विजय में फैली हुई कीर्ति के लिए मंगलरूप चौक ही पूरा करता था।

ऐश्वर्य का वर्णन देखिए—

अन्ये भियोपात्तपयोधिगोत्राः क्षोणीभुजो जग्मुरगम्यभावम्।
लक्ष्मीस्ततो वारिधिराजकन्या तमेकमेवारमपतिं चकार ॥४–२८॥

जब अन्य राजा भय से भागकर समुद्र और पर्वतों में जा छिपे (पक्ष में समुद्र का गोत्र स्वीकृत कर चुके) अतः अगम्य भाव को प्राप्त हो गये (कहीं भाई के साथ भी विवाह होता है ?) तब समुद्रराज की पुत्री लक्ष्मी ने उसी एक दशरथ राजा को अपना पति बनाया था। तात्पर्य यह है कि वह लक्ष्मी का अद्वितीय पति होने से अत्यधिक ऐश्वर्यवान् था।

देवसेना

धर्मजिनेन्द्र का जन्माभिषेक करने के लिए सुमेरु पर्वत पर जानेवाली विक्रिया-निर्मित देवसेना में कविवर हरिचन्द्र ने धर्मशर्माभ्युदय के सप्तम सर्ग में गजों और अश्वों का जो स्वभावोक्ति रूप वर्णन किया है वह शिशुपालवध के गजाश्व वर्णन से कहीं अधिक आकर्षक बन पड़ा है। पाण्डुक वन में स्थित ऐरावत हाथी का वर्णन देखिए—

हरेर्द्विपो हारिहिरण्यकक्षः क्षरन्मदक्षालितशैलशृङ्गः।
बभौ तडिद्दण्डविहारसारः शरत्तडित्वानिव तत्र वर्षन् ॥३९॥

जिसके गले में सुवर्ण की सुन्दर मालाएँ पड़ी हैं और जिसके झरते हुए मद से सुमेरु पर्वत का शिखर धुल रहा है ऐसा ऐरावत हाथी उस पर्वत पर इस प्रकार सुशोभित हो रहा था मानो बिजली के संचार से श्रेष्ठ बरसता हुआ शरद् ऋतु का बादल ही हो।

हाथियों के मदजल का वर्णन देखिए—

हिरण्मयभूभृद्द्विरदैस्तदानीं मदाम्बुधारास्तपितोरुसानुः।
स दृष्टपूर्वोऽपि सुरासुराणामजीजनत्कज्जल-शैलशङ्काम् ॥४३॥

हाथियों ने अपने मदजल की धारा से जिसका शिखर तर कर दिया था ऐसा वह सुवर्णगिरि—सुमेरु यद्यपि पहले का देखा हुआ था तथापि उस समय सुर और असुरों को कज्जल गिरि की शंका उत्पन्न कर रहा था।

हाथियों की मदवर्षा और घोड़ों की टापों के उत्पतन-पतन का सम्मिलित वर्णन देखिए—

मदाञ्जनेनालिखितां गजेन्द्रैः सहेषमुत्क्षिप्तखुराग्रटङ्काः ।
हयाः किलोच्चार्यशिलासु जैनीमिहोत्किरन्ति स्म यशःप्रशस्तिम् ॥४४॥

पर्वत की शिलाओं पर हाथियों का मद फैला था और घोड़े हिनहिनाकर उन-पर अपनी टापें पटक रहे थे जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो हाथियों के द्वारा मदरूपी अंजन से लिखी हुई जिनेन्द्रदेव की कीर्तिगाथा को घोड़े ऊपर उठायी हुई टाप-रूपी टाँकियों के द्वारा ज़ोर-ज़ोर से उच्चारण कर उकीर ही रहे हैं।

घोड़ों की टापों के पड़ने से उछलते हुए तिलगों का वर्णन देखिए कितनी विचित्र कल्पना से ओत-प्रोत है—

दृढैस्तुरङ्गाग्रखुरप्रहारैरिहोच्छलन्तो ज्वलनस्फुलिङ्गाः ।
बभुर्विभिद्येव महीं विभिन्नफणीन्द्रमौलेरिव रत्नसङ्घाः ॥४७॥

घोड़ों के अगले खुरों के कठोर प्रहार से जो अग्नि के तिलगे उछट रहे थे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो खुरों के आघात ने पृथिवी का भेदन कर शेषनाग का मस्तक ही विदीर्ण कर दिया हो और उससे रत्नों के समूह ही बाहर निकल रहे हों।

हाथी की जलावगाहन-लीला देखिए—

विलासवत्याः सरितः प्रसङ्गमवाप्य विस्फारिपयोधरायाः ।
गजो ममज्जात्र कुतोऽथवा स्यान्महोदयः स्त्रीव्यसनालसानाम् ॥५८॥

विलास-पक्षियों के संचार से युक्त (पक्ष में हावभाव से युक्त तथा विस्फारि-पयोधर—विशाल जल को धारण करनेवाली (पक्ष में स्थूल स्तनों को धारण करनेवाली) नदी का (पक्ष में स्त्री का) समागम पाकर हाथी डूब गया सो ठीक ही है क्योंकि स्त्रीलम्पट पुरुष का महान् उदय कैसे हो सकता है ?

घोड़ों का भूमि पर लोटना तथा नदी से उनका बाहर निकलना कितना कौतुकोत्पादक है—

इतस्ततो लोलनभाजि वाजिन्यभिच्युताः फेनलवा विरेजुः ।
तदङ्गसङ्गत्रुटितोरुहारप्रकीर्णमुक्ताप्रकरा इवोर्व्याः ॥६३॥

जब घोड़ा इधर-उधर लोट रहा था तब उसके मुख से कुछ फेन के टुकड़े निकलकर पृथिवी पर गिर गये थे जो ऐसे जान पड़ते थे मानो उसके शरीर के संसर्ग से पृथिवी-रूपी स्त्री के हार के मोती ही टूट-टूटकर बिखर गये हों।

नदान्निमलच्छैवलजालनीला निरीयुराक्रम्य पयस्तुरङ्गाः ।
दिनोदये व्योम समुत्पतन्तः पयोधिमध्यादिव हारिदश्वाः ॥६४॥

जिस प्रकार प्रभात समय आकाश की ओर जानेवाले सूर्य के हरे-हरे घोड़े समुद्र के मध्य से निकलते हैं उसी प्रकार शरीर पर लगे हुए शैवाल-दल से हरे-हरे दिखनेवाले घोड़े पानी चीरकर नदी के बाहर निकले।

इसी प्रसंग में रथों और बैलों की सेना का भी संक्षिप्त वर्णन हुआ है। रथों का वर्णन देखिए—

> समन्ततः काञ्चनभूमिभागास्तथा रथैश्चुक्षुदिरे सुराणाम् ।
> यथा विवस्वद्रथनेमिधारा पथेऽरुणस्यापि मतिभ्रमोऽभूत् ॥४८॥

देवों के रथों ने सुवर्ण-भूमि-प्रदेशों को चारों ओर से इस प्रकार चूर्ण कर दिया था कि जिससे सूर्यरथ के मार्ग में अरुण को भी भ्रम होने लगा था।

बैल के वर्णन में स्वभावोक्ति देखिए—

> नितम्बमाघ्राय मदादुदञ्चच्छिरःसमाकुञ्चित-फुल्लघोणम् ।
> अनुव्रजन्तं चमरीं महोक्षमिहारुणत्कष्टमहो महेशः ॥४९॥

भाव स्पष्ट है।

सुमेरु

जैन-मान्यता के अनुसार जम्बूद्वीप के सात क्षेत्र हैं—१. भरत, २. हैमवत, ३. हरि, ४. विदेह, ५. रम्यक, ६. हैरण्यवत और ७. ऐरावत। वर्तमान में उपलब्ध भूभाग भरतक्षेत्र का ही एक भाग है। उपर्युक्त सात क्षेत्रों का विभाग करनेवाले हिमवान्, महाहिमवान्, निषध, नील, रुक्मि और शिखरी ये छह कुलाचल हैं। ये छहों कुलाचल पूर्व से पश्चिम तक लम्बे माने गये हैं तथा इनके दोनों छोर जम्बूद्वीप को घेरकर स्थित लवण-समुद्र में घुसे हुए हैं। विदेह क्षेत्र के बीच में सुमेरु पर्वत है। मेरु, सुमेरु, हेमाद्रि, रत्नसानु, सुरालय आदि उसके नाम संस्कृत-साहित्य में प्रसिद्ध हैं। सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, तारा आदि ज्योतिर्विमान इसी मेरु की प्रदक्षिणा देते हुए आकाश में घूमते हैं। निषध कुलाचल का रंग लाल है। इसी निषध कुलाचल को भारतीय साहित्य में पूर्वाचल या उदयाचल कहा जाता है। सूर्योदय और सूर्यास्त इसी पर्वत के पूर्व और पश्चिम भाग में होते हैं। प्रातःकाल और सायंकाल सूर्य की किरणें जब उस पर्वत पर पड़ती हैं तब आकाश में लाल प्रभा फैलती है। इसी निषधाचल के आगे विदेह क्षेत्र है। सुमेरुपर्वत एक लाख योजन ऊँचा बताया जाता है। उस पर समान धरातल से लेकर ऊपर की ओर क्रम से भद्रशालवन, नन्दनवन, सौमनसवन और पाण्डुकवन ये चार वन हैं। सबसे ऊपर जो पाण्डुक वन है उसकी चारों विदिशाओं में चार पाण्डुक शिलाएँ हैं। उनमें ऐशान दिशा की पाण्डुक शिला पर भरत क्षेत्र में उत्पन्न हुए तीर्थंकर का जन्माभिषेक सम्पन्न होता है। यह जन्माभिषेक देवों के द्वारा सम्पन्न होता है। उन देवों में सौधर्मेन्द्र प्रमुख रहता है।

यतश्च धर्मनाथ, पन्द्रहवें तीर्थंकर थे अतः देव लोग अभिषेक के लिए उन्हें सुमेरु पर्वत पर ले गये। इसी प्रसंग में धर्मशर्माभ्युदय के सप्तम सर्ग में सुमेरु पर्वत का वर्णन आया है। कवि हरिचन्द्र जी ने साहित्यिक विधाओं की रक्षा करते हुए सुमेरु पर्वत का बहुत सुन्दर वर्णन किया है। उस सन्दर्भ के दो चार श्लोक देखिए—

अधःकृतस्तावदनन्तलोकः श्रिया किमुच्चैस्त्रिदशालयो मे ।
इत्यस्य दे[illegible]नैर्भु[illegible] ॥२१॥

सुमेरु पर्वत क्या था ? मैंने अनन्तलोक—पाताल लोक (पक्ष में अनन्त जीवों का लोक) को तो नीचे कर दिया फिर यह त्रिदशालय स्वर्ग (पक्ष में, तीनगुणित—दश—तीस जीवों का घर) लक्ष्मी द्वारा मुझसे उच्च उत्कृष्ट (पक्ष में, ऊपर) क्यों है ? इस प्रकार स्वर्ग को देखने के लिए पृथिवी के द्वारा उठाया हुआ मानो मस्तक ही था। उस सुमेरु पर्वत पर जो लाल-लाल कमल थे वे मानो क्रोध से लालिमा को धारण करने वाले नेत्र ही थे।

परिस्फुरत्काञ्चनकायमाराद्विभावरीवासरयोर्भ्रमेण ।
विडम्बयन्तं नवदम्पतीभ्यां परीयमाणानलपुञ्जलीलाम् ॥२९॥

उस सुमेरु पर्वत का सुवर्णमय शरीर चारों ओर से चमचमा रहा था और दिन तथा रात्रि उसकी प्रदक्षिणा दे रहे थे इससे ऐसा जान पड़ता था मानो नवीन दम्पती के द्वारा परिक्रम्यमाण—प्रदक्षिणा दिये जाने वाले अग्निसमूह की शोभा का अनुकरण ही कर रहा हो।

मरुद्ध्वनद्वंशमनेकतालं रसालसंभावित-मन्मथैलम् ।
धृतस्मरातङ्कमिवाश्रयन्तं वनं च गानं च सुराङ्गनानाम् ॥३०॥

वह पर्वत मानो काम का आतंक धारण कर रहा था अतः जिसमें वायु द्वारा वंश शब्द कर रहे हैं, जिसमें ताड़ के अनेक वृक्ष लग रहे हैं, और जिसमें आम्र वृक्षों के समीप मदन तथा इलायची के वृक्ष सुशोभित हैं ऐसे वन का, एवं जिसमें देव लोग बाँसुरी बजा रहे हैं, जो ताल से सहित है, रस से अलस है, और कामवर्धक गीतग्रन्थ-विशेष से युक्त है ऐसे देवांगनाओं के गान का आश्रय लिये हुए था।

विशालदन्तं घनदानवारि प्रसारितोद्दामकराग्रदण्डम् ।
उपेयुषो दिग्गजपुङ्गवस्य पुरो दधानं प्रतिमल्ललीलाम् ॥३२॥

वह सुमेरु पर्वत, सम्मुख आने वाले ऐरावत हाथी के आगे उसके प्रतिपक्षी की शोभा धारण कर रहा था, क्योंकि जिस प्रकार ऐरावत हाथी विशालदन्त—बड़े-बड़े दाँतों से युक्त था उसी प्रकार वह पर्वत भी विशालदन्त—बड़े-बड़े तट अथवा बड़े-बड़े चार गजदन्त पर्वतों से युक्त था, जिस प्रकार हाथी घनदानवारि—अत्यधिक मदजल से सहित था उसी प्रकार वह पर्वत भी घनदानवारि—बहुत भारी देवों से युक्त था, और जिस प्रकार ऐरावत हाथी अपने उत्कट कराग्रदण्ड—शुण्डाग्रदण्ड को फैलाये हुए था उसी प्रकार वह पर्वत भी अपने उत्कट कराग्र—किरणाग्रदण्ड को फैलाये हुए था।

जिनागमे प्राज्यमणिप्रभाभिः प्रभिन्नरोमाञ्चमिव प्रमोदात् ।
समीरणान्दोलयवाल्लतालैर्भुजैरिवोल्लासितलास्यलीलम् ॥३५॥

वह पर्वत उत्तमोत्तम मणियों की किरणों से ऐसा जान पड़ता था मानो जिनेन्द्र भगवान् का आगमन होनेवाला है अतः हर्ष से रोमांचित ही हो रहा हो और वायु से

हिलते हुए बड़े-बड़े ताड़ वृक्षों से ऐसा जान पड़ता था मानो भुजाएँ उठाकर नृत्य की लीला ही प्रकट कर रहा हो।

धर्मशर्माभ्युदय में यह सुमेरुवर्णन सप्तम सर्ग के २० से लेकर ३७ श्लोक तक अभिव्याप्त है। इस वर्णन में कवि ने उपमा, रूपक, श्लेष, समासोक्ति और उत्प्रेक्षा अलंकारों का अच्छा चमत्कार दिखलाया है।

क्षीरसमुद्र

जन्माभिषेक का जल लाने के लिए जब देवपंक्तियाँ क्षीरसमुद्र के तट पर पहुँचीं तब उसकी अवदात आभा और घेरकर खड़ी हुई हरी-भरी वृक्षावली को देख उनका मन प्रसन्न हो गया। सबकी दृष्टि समुद्र पर जा रुकी, उसी समय वचन-रचना में चतुर एक पालक नाम का हास्यप्रिय देव समुद्र की सुषमा का वर्णन करने लगा। यह वर्णन धर्मशर्माभ्युदय के अष्टम सर्गीय १२-२६ श्लोकों में पूर्ण हुआ है। मालिनी छन्द ने उसकी शोभा बढ़ायी है। उदाहरण के लिए कुछ पद्य देखिए—

अभिनवमणिमुक्ताशङ्खशुक्तिप्रवाल-
प्रभृतिकमतिलोलैर्दर्शयन्नूर्मिहस्तैः।
जडजठरतयैक्षि व्याकुलो मुक्तकच्छः
स्थविरवणिगिवाग्रे स्वर्गिभिः क्षीरसिन्धुः ॥१२॥

देवों ने अपने आगे वह क्षीरसमुद्र देखा जो ठीक उस वृद्ध व्यापारी के समान जान पड़ता था जो काँपते हुए तरंग-रूप हाथों से नये-नये मणि, मोती, शंख, सीप तथा मूँगा आदि दिखला रहा था, स्थूल पेट होने से जो व्याकुल था (पक्ष में—जलयुक्त होने से पक्षियों द्वारा व्याप्त था) और इसी कारण जिसकी काँछ खुल गयी थी (पक्ष में, जिसका जल छलक-छलककर किनारे से बाहर जा रहा था अथवा किनारे पर जिसने कछुओं को छोड़ रखा था।

उपचितमतिमात्रं वाहिनीनां सहस्रैः
पृथुलहरिसमूहैः क्रान्तदिक्चक्रवालम्।
अकलुषतरवारिक्रोडमज्जन्महीध्रं
नृपमिव विजिगीषुं मेनिरे ते पयोधिम् ॥१३॥

देवों ने उस समुद्र को विजयाभिलाषी राजा की तरह माना था। क्योंकि जिस प्रकार विजयाभिलाषी राजा हजारों वाहिनियों—सेनाओं से युक्त होता है उसी प्रकार वह समुद्र भी हजारों वाहिनियों—नदियों से युक्त था, जिस प्रकार विजयाभिलाषी राजा पृथुल-हरिसमूह—स्थूलकाय घोड़ों के द्वारा दिङ्मण्डल को व्याप्त करता है उसी प्रकार वह समुद्र भी पृथुलहरिसमूह—बड़ी-बड़ी लहरों के समूह से दिङ्मण्डल को व्याप्त कर रहा था और जिस प्रकार विजयाभिलाषी राजा अकलुषतरवारिक्रोडमज्जन्महीध्र—अपनी उज्ज्वल तलवार के मध्य से अनेक राजाओं का खण्डन करनेवाला होता है उसी प्रकार

वह समुद्र भी अकलुषतर-वारिक्रोडमज्जन्महीध्र—अत्यन्त निर्मल जल के मध्य में अनेक पर्वतों को निमग्न करनेवाला था।

क्षीरसमुद्र की लहरें ऊपर उठकर नीचे आतीं, इस स्वाभाविक वर्णन में देखिए कवि की प्रतिभा कितनी साकार हुई है—

नियतमयमुदञ्चद्वीचिमालाछलेनो-
उच्छलति जलदमार्गे ज्ञातजैनाभिषेकः।
तदनु जडतयोच्चैर्नाधिरोढुं समर्थः
पतति पुनरधस्तात्सागरः किं करोतु ॥१६॥

निश्चित ही यह समुद्र जिनेन्द्र भगवान् के अभिषेक का समय जानकर उछलती हुई तरंगों के छल से आकाश में छलांग भरता है परन्तु स्थूलता के कारण (पक्ष में, जलरूपता के कारण) ऊपर चढ़ने में असमर्थ हो पुनः नीचे गिर पड़ता है। बेचारा क्या करे?

क्षीरसमुद्र की सफ़ेदी का कारण क्या है? इसमें कवि की कल्पना देखिए—

प्रशमयितुमिवाति दुर्वहामौर्ववह्ने-
र्यदयमिरजनि चान्द्रीः शीलयामास भासः।
तदयमिति मतिर्मे क्षीरसिन्धुर्जनाना-
मजनि हृदयहारी हारनीहारगौरः ॥१७॥

मेरा तो ऐसा ख्याल है कि यतः इस क्षीरसमुद्र ने बड़वानल की तीव्र पीड़ा को शान्त करने के लिए रात्रि के समय चन्द्रमा की किरणों का अत्यधिक पान किया था इसलिए ही मानो वह मनुष्यों के हृदय को हरनेवाला हार और बर्फ़ के समान सफ़ेद हो गया है।

तरंगों का गर्जन क्यों हो रहा था इसमें कवि की युक्ति देखिए—

द्विरदतरुतुरङ्गश्रीसुधाकौस्तुभाद्याः
कति कति न ममार्था हन्त धूर्तैर्गृहीताः।
इति मुहुरयमुर्वी ताडयन्नूर्मिहस्तै-
र्ग्रहिल इव विरावैः सागरो रोरवीति ॥१८॥

ऐरावत हाथी, कल्पवृक्ष, उच्चैःश्रवा घोड़ा, लक्ष्मी, अमृत तथा कौस्तुभमणि आदि मेरे कौन-कौन पदार्थ इन धूर्तों ने नहीं छीन लिये हैं? इस प्रकार तरंगरूप हाथों के द्वारा पृथ्वी को पीटता हुआ यह समुद्र पागल की भाँति पक्षियों के शब्द के बहाने मानो रो ही रहा है।

इसी प्रकार लहरों में उतराते हुए असंख्य शंख, जल लेने के लिए आकाश में स्थित श्यामल घन, घेरकर खड़े हुए हरे-भरे वृक्ष और आती हुई नदियों आदि के वर्णन में कवि ने जो निपुणता प्राप्त की है वह आश्चर्य उत्पन्न करनेवाली है। क्षीरसमुद्र के

इस कवित्वपूर्ण वर्णन के सामने रघुवंश के त्रयोदश सर्ग में महाकवि कालिदास का समुद्र-वर्णन पौराणिक और वस्तुवर्णन-जैसा प्रतीत होता है।

विन्ध्यगिरि

भारतीय पर्वतों में हिमालय के बाद दूसरा नम्बर विन्ध्यगिरि का है। यह भी भारत के मध्य में पूर्व से पश्चिम तक लम्बा है। विदर्भ देश को जाते समय युवराज धर्मनाथ ने इस पर्वत पर सेना का पड़ाव किया था। हरी-भरी वृक्षावली और काली-काली चट्टानों से इस पर्वत की शोभा निराली थी। कवि की भाषा में यह पर्वत प्राणियों के लिए अगम्यरूप था अर्थात् वे इसके वास्तविक रूप का दर्शन नहीं कर सकते थे।

महाकाव्य के लक्षणानुसार महाकाव्य में कोई एक सर्ग नानावृत्तमय होता है। अतः दशम सर्ग की रचना कवि ने उपजाति, मन्दाक्रान्ता, मालिनी, वसन्ततिलका, पृथ्वी, वंशस्थ, भुजंगप्रयात, द्रुतविलम्बित, दोधक, इन्द्रवंशा, प्रमिताक्षरा, ललिता, विपरीताख्यानकी और शार्दूलविक्रीडित इन चौदह वृत्तों में की है। एक-एक वृत्त के अनेक श्लोक हैं। समूचे सर्ग में ५७ श्लोक हैं। उपमा, उत्प्रेक्षा, भ्रान्तिमान्, समासोक्ति, रूपक, विरोधाभास, अर्थापत्ति आदि अनेक अर्थालंकारों तथा अनुप्रास और प्रमुखतया यमक इन दो शब्दालंकारों से समस्त सर्ग को अलंकृत किया गया है।

ऐसा लगता है कि यह विन्ध्यगिरि का वर्णन यद्यपि शिशुपाल-वध के रैवतक गिरि से प्रभावित है तथापि इसकी कोमलकान्त-पदावली और मनोहारी अर्थविन्यास अपना पृथक् स्थान रखता है। भगवान् धर्मनाथ का प्रगाढ़ मित्र प्रभाकर इस पर्वत की सुषमा का वर्णन करता है और भगवान् सतृष्ण नेत्रों से उसे देख रहे हैं। प्रभाकर कह रहा है कि हे प्रभो! यह पृथ्वीधर—पर्वत, किसी राजा के समान जान पड़ता है। यथा—

अनेकसुरसुन्दरीनयनवल्लभोऽयं दधन्
मदान्धघन-सिन्धुरभ्रमरुचिः सहस्राक्षताम्।
महागहनभक्तितो मुकुलिताग्रभास्वत्करः
पुरस्तव पुरन्दरद्युतिमुपैति पृथ्वीधरः॥१७॥

यह पृथ्वीछन्द है तथा पृथ्वी का नाम इसमें आया हुआ है। श्लोक का अर्थ इस प्रकार है—

यह पर्वत आपके आगे ठीक इन्द्र की शोभा धारण कर रहा है क्योंकि जिस प्रकार इन्द्र स्वामी होने के कारण समस्त देवांगनाओं के नेत्रों को प्रिय है उसी प्रकार यह पर्वत भी सुरतयोग्य सुन्दर स्थानों से युक्त होने के कारण देवांगनाओं के नेत्रों को प्रिय है—आनन्द देनेवाला है। जिस प्रकार इन्द्र मदोन्मत्त मेघरूपी हाथी द्वारा भ्रमण करने की अभिलाषा रखता है उसी प्रकार यह पर्वत भी मदोन्मत्त अत्यधिक हाथियों के भ्रमण की अभिलाषा से युक्त है—इसपर मदोन्मत्त हाथी घूमने की इच्छा रखते हैं।

जिस प्रकार इन्द्र सहस्राक्षता—हजार नेत्रों के अस्तित्व को धारण करता है उसी प्रकार यह पर्वत भी सहस्राक्षता—हजारों बहेड़े के वृक्षों के अस्तित्व को धारण करता है और जिस प्रकार इन्द्र महागहन भक्ति से—तीव्र भक्ति की अधिकता से मुकुलिताग्र-भास्वत्कर—अपने देदीप्यमान हाथों को कमल की बौंड़ी के आकार करके स्थित रहता है उसी प्रकार यह पर्वत भी महागहन भक्तिसे—अत्यन्त वन की रचना से मुकुलिताग्र-भास्वत्कर—सूर्य की अग्रकिरणों को संकोचित करनेवाला है।

यहाँ श्लेषानुप्राणित उपमा का रूप कितना निखरा हुआ है, यह दर्शनीय है।

समासोक्ति का चमत्कार देखिए—

प्रकटितोरुपयोधरबन्धुराः सरसचन्दनसौरभशालिनीः।
मदनबाणगणाङ्कितविग्रहो गिरिरयं भजते सुभगास्तटीः ॥२२॥

जिस प्रकार मदनबाणगण—कामबाणों के समूह से चिह्नित शरीरवाला मनुष्य, उठे हुए स्थूल स्तनों से सुन्दर एवं सरस चन्दन की सुगन्धि से सुशोभित सौभाग्यशाली स्त्रियों का आलिंगन करता है उसी प्रकार यह पर्वत भी यतः मदनबाणों—कामबाणों के समूह से (पक्ष में, मैनार और बाणवृक्षों के समूह से) चिह्नित था अतः उठे हुए विशाल पयोधरों—स्तनों (पक्ष में मेघों) से सुन्दर एवं सरस चन्दन की सुगन्धि से सुशोभित मनोहर तटियों का आलिंगन कर रहा है।

यहाँ विशेषणसाम्य के कारण पर्वत में नायक और तटियों में नायिका का व्यवहार आरोपित किया गया है।

यह वर्णन शिशुपाल-वध के निम्नांकित श्लोक से सुन्दर बन पड़ा है क्योंकि इसमें रैवतक गिरि की कामुकता को सूचित करनेवाला कोई विशेषण नहीं है जबकि धर्मशर्माभ्युदयकार ने विन्ध्यगिरि की कामुकता को प्रकट करनेवाला 'मदनबाणगणाङ्कित-विग्रहः' विशेषण दिया है।

अयमतिजरठाः प्रकामगुर्वीरलघुविलम्बिपयोधरोपरुद्धाः।
सततमसुमतामगम्यरूपाः परिणतदिक्करिकास्तटीर्बिभर्ति ॥२९॥—शिशु., सर्ग ४

कुछ यमक की छटा देखिए—

न यत्र नवप्रेमबद्धा भ्रमन्ती स्मरन्ती स्मरं तीव्रमासाद्य भर्तुः।
क्षणादीक्षणादीश बाष्पं वमन्ती दशां का दशाङ्कामिहान्वेति न स्त्री ॥२१॥

हे नाथ ! यहाँ नये प्रेम से बँधी, शिखर पर घूमती, काम की तीव्र बाधावश पति का स्मरण करती तथा नेत्रों से क्षण एक में अश्रु बहाती हुई कौन-सी स्त्री दशमी—मृत्युदशा को प्राप्त नहीं होती ?

मन्दाक्षमन्दा क्षगमत्र तावन्नव्यापि न व्यापि मनोभवेन।
रामा वरा मावनिरन्यपुष्टध्वना नवध्वानवशा न यावत् ॥२६॥

शोभासम्पन्न, लजीली, नवीन उत्कृष्ट स्त्री इस पर्वत पर कामदेव से तभी तक व्याप्त नहीं होती जबतक वह कोयल के नवीन शब्द के अधीन नहीं हो पाती—कोमल

की कूक सुनते ही अच्छी-अच्छी लज्जावती स्त्रियाँ काम से पीड़ित हो जाती हैं।

पर्वत के धार्मिक वातावरण का वर्णन करते हुए कवि ने कहा है—

उद्भिद्य भीमभवसंततितन्तुजालं
मार्गेऽपवर्गनगरस्य नितान्तदुर्गे।
लब्ध्वा भवन्तमभयं जिन सार्थवाहं
प्रस्थातुमुत्थितवतामयमग्रभूमिः ।।४०।।

हे जिनेन्द्र ! जन्म-मरणरूप भयंकर तन्तुओं के जाल को नष्ट कर आप-जैसे अभयदायी सार्थवाह को पा मोक्ष-नगर के अतिशय कठिन मार्ग में प्रस्थान करने के लिए उद्यत मनुष्यों की यह प्रथमभूमि है—प्राप्य स्थान है।

इसी वसन्ततिलका छन्द में माघ द्वारा वर्णित रैवतक गिरि का धार्मिक वातावरण देखिए—

मैत्र्यादिचित्तपरिकर्मविदो विधाय
क्लेशप्रहाणमिह लब्धसबीजयोगाः ।
ख्यातिं च सत्त्वपुरुषान्यतयाधिगम्य
वाञ्छन्ति तामपि समाधिभृतो निरोद्धुम् ।।५५।।

—शिशुपाल., सर्ग ४

इस वर्णन में पर्वत का धार्मिक वातावरण कुछ अधिक स्पष्ट हुआ है।

इसी सन्दर्भ में भारवि द्वारा वर्णित हिमालय का धार्मिक वातावरण भी देखिए—

वीतजन्मजरसं परं शुचि ब्रह्मणः पदमुपैतुमिच्छताम् ।
आगमादिव तमोपहादितः संभवन्ति मतयो भवच्छिदः ।।२२।।

—किरातार्जुनीय, सर्ग ५

धर्मशर्माभ्युदय में विन्ध्यगिरि का वर्णन करते हुए कवि ने भ्रान्तिमान् अलंकार का कितना मधुर उदाहरण प्रस्तुत किया है ? यह देखिए—

बिम्बं विलोक्य निजमुज्ज्वलरत्नभित्तौ क्रोधात्प्रतिद्विप इतीह ददौ प्रहारम् ।
तद्भग्नदीर्घदशनः पुनरेव तोषाल्लीलारसं स्पृशति पश्य गजः प्रियेति ।।१९।।

प्रभाकर धर्मनाथ से कह रहा है—ज़रा इधर देखिए, इस उज्ज्वल रत्नों की दीवाल में अपना प्रतिबिम्ब देख, यह हाथी क्रोधपूर्वक यह समझकर बड़े ज़ोर से प्रहार कर रहा है कि यही हमारा शत्रु दूसरा हाथी है और इस प्रहार से जब इसके दाँत टूट जाते हैं तब उसी प्रतिबिम्ब को अपनी प्रिया समझ बड़े सन्तोष से लीलापूर्वक उसका स्पर्श करने लगता है।

पर्वत की वनस्थली का वर्णन करते हुए कवि ने जो श्लेषोपमा का वैभव दिखाया है उससे उसकी काव्यप्रतिभा का चमत्कार स्पष्ट ही परिलक्षित होता है—

कुशोपरूढां द्रुतमालपल्लवां वराप्सरोभिर्महितामकल्मषाम् ।
नृपेषु रामस्त्वमिहोररीकुरु प्रसीद सीतामिव काननस्थलीम् ।।५६।।

हे भगवन् ! यह वनस्थली ठीक सीता के समान है क्योंकि जिस प्रकार सीता कुशोपरुद्धा—कुश नामक पुत्र से उपरुद्ध थी उसी प्रकार यह वनस्थली भी कुशोपरुद्धा—डाभों से भरी है, जिस प्रकार सीता द्रुतमालपल्लवा—जल्दी-जल्दी बोलते हुए लव नामक पुत्र से सहित थी उसी प्रकार यह वनस्थली भी द्रुतमालपल्लवा—तमालवृक्ष के पत्तों से व्याप्त है, जिस प्रकार सीता वराप्सरोभिर्महिता—उत्तमोत्तम अप्सराओं से पूजित थी उसी प्रकार यह वनस्थली भी उत्तमोत्तम जल के सरोवरों से सुशोभित है और जिस प्रकार सीता स्वयं अकल्मषा—निर्दोष थी उसी प्रकार यह वनस्थली भी पंक आदि दोषों से रहित है। यतः आप राजाओं में राम—रामचन्द्र हैं (पक्ष में रमणीय) हैं अतः सीता की समानता रखनेवाली इस वनस्थली को स्वीकृत कीजिए, प्रसन्न होइए।

इस प्रकार धर्मशर्माभ्युदय का यह विन्ध्य-वर्णन भाषा, भाव और अलंकार की दृष्टि से निरुपम है।

□

स्तम्भ ३ : प्रकृति-निरूपण

ऋतुचक्र

यद्यपि ऋतुचक्र अपने नियत क्रम के अनुसार परिवर्तित होता है तथापि दिव्य नायकों की प्रभुता प्रकट करने के लिए उसका एक साथ प्रकट होना भी स्वीकृत किया गया है। माघ ने श्रीकृष्ण की समाराधना के लिए रैवतक गिरि पर समस्त ऋतुओं के अवतार का जैसा वर्णन किया है वैसा ही हरिचन्द्र ने धर्मनाथ तीर्थंकर की आराधना के लिए विन्ध्याचल पर एक साथ समस्त ऋतुओं के अवतरण का वर्णन किया है। वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त और शिशिर ये छह ऋतुएँ हैं जो चैत्र से लेकर फाल्गुन तक दो-दो मासों में अवतीर्ण होती हैं। ऋतुएँ आती हैं और जाती हैं; उनमें कोई खास बात दृष्टिगोचर नहीं होती परन्तु जब कवि की कल्पना-रूप तूलिका उन ऋतुओं का चित्र खींचती है तब उनमें एक अद्भुत-सा आकर्षण हो जाता है।

धर्मशर्माभ्युदय के दशम सर्ग में विन्ध्याचल का वर्णन है। उसकी प्राकृतिक शोभा देखने के लिए जब भगवान् धर्मनाथ उस पर्वत पर विहार करते हैं तब उनके पुण्य-प्रभाव से वहाँ छहों ऋतुएँ प्रकट हो जाती हैं। द्रुतविलम्बित छन्द की मधुरध्वनि में कवि ने उन ऋतुओं का वर्णन किया है। श्लोक के चतुर्थ पाद में एक पद का यमक भी दिया है जिससे उसकी शोभा, नाक पर पहने हुए मोती से किसी शुभ्रवदना के मुखकमल की शोभा के समान निखर उठी है। समूचा ग्यारहवाँ सर्ग ऋतुवर्णन से सम्बद्ध है। यह ७२ श्लोकों में पूर्ण होता है। प्रारम्भिक पीठिका के बाद इन वसन्त आदि ऋतुओं का ही विस्तृत वर्णन इन श्लोकों में किया गया है। उदाहरण के लिए कुछ छन्द प्रस्तुत हैं—

वसन्त ऋतु में आम मौर गये, अशोक पर लाल-लाल फूल निकल आये तथा टेसू के वृक्षों ने अपनी लालिमा से वनवसुधा को रंगीन बना दिया। इन सबका वर्णन देखिए कितना सुन्दर है?

> तदभिधानपदैरिव षट्पदैः शबलिताम्रतरोरिह मञ्जरी।
> कनकभल्लिरिव स्मरधन्विनो जनमदारमदारमदञ्जसा ॥१२॥

नामाक्षरों की तरह दिखनेवाले भौंरों से चित्रित आम्र-वृक्ष की मंजरी कामदेवरूप धानुष्क के सुवर्णमय भाले की तरह स्त्रीरहित मनुष्य को निश्चय ही विदीर्ण कर रही थी।

समधिरुह्य शिरः कुसुमच्छलादयमशोकतरोर्मदनानलः ।

पथि दिधक्षुरिवैक्षत सर्वतः समवधूतवधूतरसोऽध्वगान् ॥१३॥

ऐसा जान पड़ता है कि लाल-लाल फूलों के बहाने कामाग्नि अशोक वृक्ष के ऊपर चढ़कर स्त्रियों के कोप का अनादर करनेवाले पथिकों को मार्ग में ही जला देने की इच्छा से मानो सब ओर देख रही थी ।

उचितमाप पलाश इति ध्वनिं द्रुमपिशाचपतिः कथमन्यथा ।

अजनि पुष्पपदाद्दलिताध्वगो नृगलजग्धलजम्भरसोन्मुखः ॥१६॥

टेसू के वृक्ष ने 'पलाश' (पक्ष में, मांस खानेवाला) यह उचित ही नाम प्राप्त किया है । यदि ऐसा न होता तो वह फूलों के बहाने पथिकों को नष्ट कर मनुष्यों के गले का मांस खाने में क्यों उत्सुकता से तत्पर होता ?

ग्रीष्म ऋतु में छोटे तालाब सूख गये तथा उनकी मिट्टी फट गयी । क्यों फट गयी ? इसका कवि की भाषा में वर्णन देखिए—

इह तृषातुरमर्थिनमागतं विगलिताशमवेक्ष्य मुहुर्मुहुः ।

हृदयमुत्त्रपयेव भिदां गता गतरसा तरसा सरसी शुचौ ॥२०॥

ग्रीष्म ऋतु में निर्जल सरोवर की भूमि सूखकर फट गयी थी, जो ऐसी जान पड़ती थी मानो आगत तृषातुर मनुष्य को निराश देख लज्जा से उसका हृदय ही फट गया हो ।

वर्षा ऋतु में मेघों में बिजली चमक रही थी, इसका वर्णन देखिए—

जलधरेण पयः पिबताम्बुधेर्ध्रुवमपीयत वाडवपावकः ।

कथमिहेतरथा तडिदाख्यया रुचिररोचिररोचत वह्निजम् ॥२६॥

ऐसा जान पड़ता है कि समुद्र का जल पीते समय मेघ ने मानो बडवानल भी पी लिया था । यदि ऐसा न होता तो बिजली के नाम से अग्नि की सुन्दर ज्योति क्यों देदीप्यमान होती ?

इसी सन्दर्भ में हस्तिमल्ल की उत्प्रेक्षा देखिए जो विक्रान्तकौरव के विद्याधर-युद्ध में साकार हुई है—

सौदामिन्य इमा विभान्ति विशिखिनः पूर्वं निगीर्णाः शिखा

रोमन्थायितुमिच्छया मुहुरथोद्गीर्णा इवाम्भोधरैः ।

किं चान्तःकवलीकृतो जलधरैर्वैश्वानरो दुर्जर-

स्तत्क्रोडानि विपाट्य वाडमशनिच्छद्मा विनिर्गच्छति ॥७॥

—विक्रान्तकौरव, चतुर्थाङ्क

ये बिजलियाँ ऐसी जान पड़ती हैं मानो मेघों के द्वारा पहले निगली हुई अग्नि की वे ज्वालाएँ हैं जिन्हें वे रोमन्थ की इच्छा से बार-बार बाहर निकालते हैं । अथवा मेघों ने पहले तो अग्नि को खा लिया परन्तु वह हजम नहीं हो सकी इसलिए वज्र के बहाने उन मेघों के मध्यभाग को फाड़कर अच्छी तरह बाहर निकल रही है ।

शरद् वर्णन के प्रसंग में इन्द्रधनुष से सुशोभित धवल मेघ का वर्णन देखिए, कितना सरस है?

किमपि पाण्डुपयोधरमण्डले प्रकटितामरचापमखक्षता ।
अपि मुनीन्द्रजनाय ददौ शरत्कुसुमचापमचापलचेतसे ॥४७॥

जिसके सफ़ेद मेघमण्डल पर (पक्ष में, गौरवर्ण स्तनमण्डल पर) इन्द्रधनुषरूप नखक्षत का चिह्न प्रकट है ऐसी शरद् ऋतु ने (स्त्रीलिंग की समानता से किसी स्त्री ने) गम्भीर चित्तवाले मुनियों को भी काम-बाधा उत्पन्न कर दी।

नदियों के तट धीरे-धीरे जल से रहित हो रहे हैं इसके लिए कवि के द्वारा प्रदत्त उपमालंकार का चमत्कार देखिए—

विघटिताम्बुपटानि शनैः शनैरिह दधुः पुलिनानि महापगाः ।
नवसमागमजातह्रियो यथा स्वजघनानि घनानि कुलस्त्रियः ॥४८॥

जिस प्रकार नवीन समागम में अत्‍यन्त लजीली कुलांगनाएँ धीरे-धीरे अपने स्थूल नितम्बमण्डल, वस्त्ररहित करती हैं उसी प्रकार उस शरद् ऋतु में बड़ी-बड़ी नदियाँ अपने विशाल तटों को जल-रूपी वस्त्र से रहित कर रही थीं।

इसी उपमा का प्रयोग भारवि ने शरद्-वर्णन के प्रसंग में गायों के समूह से छोड़े जानेवाले नदी-तटों का वर्णन करने के लिए किया है—

विमुच्यमानैरपि तस्य मन्थरं गवां हिमानीविशदैः कदम्बकैः ।
शरन्नदीनां पुलिनैः कुतूहलं गलद्दुकूलैर्जघनैरिवादधे ॥१२॥

—किरातार्जुनीय, सर्ग ४

बर्फ़ के समान सफ़ेद गायों के समूह जिन्हें धीरे-धीरे छोड़ रहे थे ऐसे नदी-तटों ने उस अर्जुन के लिए धीरे-धीरे वस्त्ररहित होनेवाले नारीनितम्बों के समान कुतूहल उत्पन्न किया था।

हेमन्त-वर्णन में काम, वियोगिनी स्त्री के हृदय में क्यों जा छिपा, इसका हेतु देखिए—

मरुति वाति हिमोदयदुःसहे सहसि संततशीतभयादिव ।
हृदि समिद्धवियोगहुताशने कृशतनोरतनोर्वसति स्मरः ॥५३॥

मार्गशीर्ष में बर्फ़ से मिली दुःसह वायु चल रही थी अतः निरन्तर की शीत से डरकर कामदेव, जिसमें वियोगाग्नि जल रही थी ऐसे किसी सुन्दरांगी के हृदय में जा बसा था।

शिशिर ऋतु में सूर्य की किरणें मन्द क्यों पड़ गयीं? इसका कल्पनापूर्ण वर्णन देखिए—

स महिमोदयतः शिशिरो व्यधादपहृतप्रसरत्कमलाः प्रजाः ।
इति कृपालुरिवाश्रितदक्षिणो दिनकरो न करोपचयं दधौ ॥५७॥

जब कोई दुष्ट राजा अपनी महिमा के उदय से प्रजा की कमला—लक्ष्मी को छीन उसे दरिद्र बना देता है तब जिस प्रकार दूसरा दयालु राजा उदासीन होने पर प्रजा से करोपचय—टैक्स का संग्रह नहीं करता उसी प्रकार जब शिशिर ने निरन्तर बर्फ की वर्षा से प्रजा के कमल छीन उसे कमलरहित कर दिया तब दयालु एवं उदार (पक्ष में, दक्षिणदिशास्थ) सूर्य ने करोपचय—किरणों का संग्रह नहीं किया।

इस प्रकार वसन्तादि ऋतुओं का पृथक्-पृथक् वर्णन कर यमकालंकार की छटा दिखलाने के लिए सर्गान्त में एक-एक श्लोक द्वारा पुनः उन ऋतुओं का वर्णन किया है।

जीवन्धरचम्पू के चतुर्थ लम्भ के प्रारम्भ में भी कवि ने वसन्त ऋतु का सुन्दर वर्णन किया है।

जीवन्धरचम्पू का तपोवन

भारतीय संस्कृति के अनुसार 'योगेनान्ते तनुत्यजाम्' जीवन के अन्त में समाधि धारण करना, जिन्होंने अपना लक्ष्य बना रखा है वे संसार के विषय एवं दूषित वातावरण से दूर रहकर आश्रम या तपोवनों में आत्मसाधना करते हैं। यही कारण है कि हम महाकाव्यों में इन तपोवनों का सुन्दर वर्णन देखते हैं। कालिदास ने [1]रघुवंश के प्रथम सर्ग में वसिष्ठजी के तपोवन का जो संक्षिप्त वर्णन किया है उसका विशद—विस्तृत रूप हम बाणभट्ट की कादम्बरी में जाबालि ऋषि के [2]आश्रम-वर्णन में प्राप्त करते हैं। तदनन्तर वादीभसिंह की गद्यचिन्तामणि के [3]दण्डकारण्याश्रम सम्बन्धी वर्णन में उसकी कुछ झलक देखते हैं। जीवन्धरचम्पू में भी उसका संक्षिप्त किन्तु विशद वर्णन हुआ है। देखिए—

तत्र तत्र तीर्थस्थानानि यात्रंयात्रं सत्वरं गत्वरः कुरुवीरः, क्वचन वासःसमासक्त-तापसकुल-कूज्यमानतरुत्तङ्मर्मरारावमुखरम्, क्वचित्पाषण्डिकरमण्डितकमण्डलुमुखनिर्झर-जलपूरणजनित-कलकलशब्दशोभितम्, कुत्रचिद्बालकत्रुटितोज्झितमौञ्जीमेखलाविकीर्णम्, कुत्रचन कुमारिकापूर्यमाणबालवृक्षालवालम्, क्वचन काषायवसनसेचनलोहितायमानसरो-जलम्, क्वचन संसिक्तवल्कलशिखानिर्गलत्पयोधारारेखाङ्कितम्, क्वचन चमूरुचर्मनिर्मिता-सनासीनजपपरजनसङ्कुलम्, कुत्रचित्स्नानकालसंसक्तशैवालच्छदायमानजटापटलधारितया परितो देदीप्यमानपावकप्रसृतधूमरेखालिङ्गितैरिवोर्ध्वप्रसारितभुजदण्डैः पञ्चाग्निमध्यतपः-प्रचण्डैस्तापसैर्मण्डितम्, क्वचन तत्पत्नीजनक्रियमाणनीवारपाकम्, क्वचित्तत्पुत्रच्छिद्यमाना-र्द्रसमित्समाकुलम्, तपोवनं ददर्श।—पृ. १०८-१०९

भाव यह है—

---

१. रघुवंश, प्रथम सर्ग, श्लोक ४९-५३।

२. कादम्बरी, निर्णयसागर संस्करण, पृ. ८५-९०।

३. गद्यचिन्तामणि, भारतीय ज्ञानपीठ संस्करण, पृ. २०९-२१०।

जहाँ-तहाँ तीर्थस्थानों की पूजा करते हुए जीवन्धरस्वामी बड़ी शीघ्रता से आगे बढ़ते जाते थे। चलते-चलते उन्होंने एक ऐसा तपोवन देखा जो कहीं तो वस्त्र की इच्छा रखनेवाले तपस्वियों के द्वारा खींची जानेवाली वृक्षों की छाल की मर्मर ध्वनि से शब्दायमान था, कहीं साधुओं के हाथ में सुशोभित कमण्डलु के मुख में झरने का जल भरने से समुत्पन्न कलकल शब्द से सुशोभित था, कहीं बालकों के द्वारा तोड़कर फेंकी हुई मूँज की मेखलाओं से व्याप्त था, कहीं कुमारियों के द्वारा भरी जानेवाली बालवृक्षों की क्यारियों से युक्त था, कहीं उसके सरोवर का जल गेरुआ वस्त्र धोने से लाल-लाल हो रहा था, कहीं अच्छी तरह सींचे गये वल्कलों की शिखाओं से निकलनेवाले जल की रेखाओं से सुशोभित था, कहीं व्याघ्रचर्म से निर्मित आसनों पर बैठे हुए जप करनेवाले लोगों से व्याप्त था, कहीं उन तपस्वियों से सुशोभित था जो स्नान के समय लगे हुए शेवाल की छटा के समान दिखनेवाले जटासमूह के धारक होने से चारों ओर देदीप्यमान अग्नियों की फैली हुई धुएँ की रेखाओं से आलिंगित के समान जान पड़ते थे, जिन्होंने अपना भुजदण्ड ऊपर की ओर फैला रखा था और पंचाग्नि के मध्य तपस्या करने में अत्यन्त निपुण थे। कहीं उन तपस्वी लोगों की स्त्रियों के द्वारा वहाँ नीवार पकाया जाता था और कहीं उन्हीं के पुत्रों के द्वारा काटे जानेवाले गीले ईंधन से व्याप्त था।

[1]साधुओं के मिथ्या तप को देखकर दयालु-हृदय जीवन्धर ने उन्हें अहिंसा धर्म का उपदेश देते हुए कहा कि जिस प्रकार चावलों के बिना अग्नि, पानी आदि समस्त सामग्री इकट्ठी कर लेने पर भी भोजन बनाने का उपक्रम सफल नहीं होता उसी प्रकार तत्त्वज्ञान के बिना केवल शरीर को कष्ट पहुँचाने मात्र से तपस्या सफल नहीं होती है। आप लोग जटाजूट रखाकर, ललाट पर जो सूर्य का सन्ताप झेलते हैं वह सब व्यर्थ है। हे विद्वानो ! सदा निष्फल रहने से यह हिंसायुक्त तपश्चरण करना ठीक नहीं है। आप लोग जो बड़ी-बड़ी जटाएँ रखे हुए हैं स्नान के समय बहुत-से जन्तु उनमें लग जाते हैं पश्चात् वे ही जन्तु अग्नि में गिरकर क्षण-भर में नष्ट हो जाते हैं—यह आप लोग स्वयं देख लें। अतः आप लोग क्लेशकारी इस तप को छोड़कर अहिंसक तप धारण करो।

जीवन्धर स्वामी के इस उपदेश से प्रभावित होकर उन साधुओं ने हिंसापूर्ण तप परित्याग कर अहिंसापूर्ण तप को स्वीकृत किया।

इसी सन्दर्भ में आगत निम्न श्लोक—

> आरामोऽयं वदति मधुरैः स्वागतं भृङ्गशब्दैः
>
> पुष्पानम्रैर्विटपिविटपैरानतिं द्राक् तनोति ।
>
> पाद्यार्घ्यादीन् दिशति धवलैस्तत्सरस्याः पयोभि-
>
> रित्येवं श्रीकुरुकुलपतेरादधे भूरिशङ्काम् ॥२३॥—पृ. ११३

१. जीवन्धरचम्पू, पृ. १०६, श्लोक ६–१५।

भवभूति के उत्तररामचरित सम्बन्धी निम्नांकित श्लोक का स्मरण कराता है—

वनदेवता (अर्घ्यं विकीर्य)

यथेच्छाभोग्यं वो वनमिदमयं मे सुदिवसः

सतां सद्भिः सङ्गः कथमपि हि पुण्येन भवति ।

तरुच्छाया तोयं यदपि तपसां योग्यमशनं

फलं वा मूलं वा तदपि न पराधीनमिह वः ॥१॥ द्वितीय अंक

जीवन्धरचम्पू का प्रकृति-वर्णन

संस्कृत-साहित्य में प्रकृति-वर्णन के लिए महाकवि भवभूति की प्रसिद्धि है, परन्तु जब हम जीवन्धरचम्पू का प्रकृति-वर्णन देखते हैं तब कहीं उससे भी अधिक आनन्द का अनुभव होता है । निर्मल नभस्तल में फैली हुई चाँदनी, रात्रि का घनघोर अन्धकार, सूर्योदय, सूर्यास्त, लहराता हुआ सागर, प्रातःकाल का मन्द-शीतल और सुगन्धित समीर, पक्षियों का कलरव, हरे-भरे कानन, आकाश में छायी हुई श्यामल घनघटा, दावानल और उसके बीच रुके हुए हाथियों के झुण्ड, जन-जन के मानस में आनन्द करनेवाला वसन्त, मेघ वृष्टि के बाद बहता हुआ पानी, ग्रीष्म के रूक्ष दिन और पावस के सरस दिन—इन सबका कवि ने जितना सरस वर्णन किया है उतना हम अन्यत्र कम पाते हैं । सबके उद्धरण देना सम्भव नहीं है, फिर भी कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करने का लोभ संवरण नहीं कर सक रहा हूँ । देखिए अष्टम लम्भ में दण्डकारण्य का वर्णन—

'तदन्वत्यद्भुतसंनिवेशं दण्डकारण्यप्रदेशमवलोकितुकामा वयम्, तत्र तत्र विहृत्य, क्वचन विजृम्भितकुम्भीन्द्रकुम्भस्थलमुक्तमुक्ताकुलसिकतिलं वनविहरणश्रान्तनिमज्जत्पुलिन्द-सुन्दरीवदनाम्भोजपरिष्कृतं गभीरमहाह्रदम्, कुत्रचिद्वलीमुखकरकम्पितमहीरुहशाखानिपति-तपर्णौघसमाघातकुपितसुप्तसमुत्थितशार्दूलव्याप्यमानशबरजनसरभसारूढाभ्रंलिहानोकहृच्चयम्, क्वचित्तरुमूलसुखसुप्तानि तमालस्तोमनिभानि भल्लूककुलानि, क्वचित्तपनकिरणसंतप्तवक्षो पद्माकरसमीपमानीय निजकरनिर्मूलितबालमृणालवलयं तदङ्गे निक्षिप्य पयोजरजःसुगन्धि-शीतलजलशीकरनीकरांस्तन्मुखे संसिच्य शुण्डादण्डविधृतविशालपद्मपत्रमातपत्रीकुर्वन्तं वशावल्लभम्, कुत्रचित्सावज्ञं लोचनयुगलं क्षणमुन्मील्य पुनः सुषुप्सुं पञ्चवदनसञ्चयम्, सविस्मयमवलोकमानाः, क्वचन तापसजनसङ्कुलप्रदेशे प्रविशमानाः, क्रमेण किञ्चित्तरुमूल-मावसन्तीं पुण्यमातरं पश्यामः स्म ।'—पृ. १४९-१५० ।

एकाकी वन में विहार करते हुए जीवन्धर वनवसुन्धरा की शोभा का समवलोकन करते हैं । देखिए पंचम लम्भ का एक सन्दर्भ—

'तदनु कुरुवंशकेसरी केसरीव तत्र तत्र निर्भय एव विहरन्, क्वचिदतिविततानो-कहकुलविलसितमसूर्यंपश्यं तरक्षुमृगाधिष्ठानम्, क्वचन तरुषण्डे कादम्बिनीभ्रान्त्या दुरोभ-मितकेकागर्भकण्ठं प्रबलगुरोवातसंताडितशिखण्डं नीलकण्ठम्, कुत्रचिन्महागुल्मान्तर-कुटुम्बिशबरकदम्बकम्, कुत्र च नीपपादपस्कन्धनिषण्णशुण्डादण्डं करिणीसहायं शुण्डाल-

मण्डलम्, कुत्रचित्स्तनन्धयशिशुसंरुद्धां हरिणीं भुग्नग्रीवमवलोकयन्तं धावमानहरिणम्, कुत्र-चन वदनान्तरस्थिततृणकवलच्छेदशब्दं नियम्य व्याजिह्माङ्गैः कुरङ्गैः श्रूयमाणगानकला-प्रवीणं किरातसैन्यम्, क्वचन गर्जनतर्जितस्तम्बेरमनिचयं मृगेन्द्रचयम्, कुत्रचिद्भूधरा-कारमजगरनिकरं पश्यन्, क्रमेणातिलङ्घितविपिनपथः, क्वचिदरण्ये समुद्गतधूमपरीता-भ्रङ्कषभूमिरुहतया सजलजलधरश्यामलं तमनिकरमिव कुर्वन्तं प्लोषचटचटात्कारेणाट्टहास-मिवातन्वानमतिवेगसमाक्रान्तकाननं दवदहनं ददर्श।' —पृ. ९६-९७

आकाश में छायी हुई घनघटा की सुषमा देखिए—

> तस्याकूतमवेत्य यक्षपतिना वेगेन सङ्कल्पिता
> जीमूता वियदङ्गणे परिणता धूमप्रकारा इव।
> उद्यद्गर्जितपाटिताखिलमहादिग्भित्तयस्तत्क्षणं
> वर्षं हर्षितजीवका विदधिरे कल्पान्तमेघायिताः ॥२२॥ —पृ. ९९

सूर्यास्तमन, तिमिरोद्गति, चन्द्रोदय, पानगोष्ठी आदि

धर्मशर्माभ्युदय के चतुर्दश सर्ग में सूर्यास्तमन, प्रदोष सम्बन्धी तिमिरोद्गति तथा चन्द्रोदय का वर्णन है और पंचदश सर्ग में पान-गोष्ठी और सुरत-प्रसंग का निरूपण है। कवि की कोमलकान्तपदावली और अर्थ की माधुरी ने प्रत्येक विषय को इतना सरस बनाया है कि सहृदय पाठक उस वर्णन को प्रारम्भ कर बीच में नहीं छोड़ना चाहता है। माघ ने भी शिशुपालवध के नवम और दशम सर्ग में यही विषय प्रस्तुत किये हैं।

अस्ताचल पर आरूढ़ अस्तोन्मुख सूर्य का वर्णन धर्मशर्माभ्युदय में देखिए कितना सुन्दर बन पड़ा है—

> अस्ताद्रिमारुह्य रविः पयोधौ कैवर्तवत्क्षिप्तकराग्रजालः।
> आकृष्य चिक्षेप नभस्तटेऽसौ क्रमात्कुलीरं मकरं च मीनम् ॥८॥

सूर्य एक धीवर की तरह अस्ताचल पर आरूढ़ हो समुद्र में अपना किरण-रूपी जाल डाले हुआ था, ज्यों ही कर्क—केंकड़ा, मकर और मीन (पक्ष में राशियाँ) उसके जाल में फँसे त्यों ही उसने खींचकर उन्हें क्रम-क्रम से आकाश में उछाल दिया।

अस्तोन्मुख लाल सूर्य का वर्णन देखिए—

> बिम्बेऽर्धमग्ने सवितुः पयोधौ प्रोद्वृत्तपोतभ्रममादधाने।
> लोलांशुकाष्ठाग्रविलम्बिताहः सांयात्रिकेणाम्बुनि मङ्क्तुमीषे ॥१०॥
> भूयो जगद्भूषणमेष कर्तुं तप्तं सुवर्णोज्ज्वलभानुगोलम्।
> कराग्रसंदंशधृतं पयोधेर्विक्षेप नीरे विधिहेमकारः ॥११॥

समुद्र में आधा डूबा हुआ सूर्यबिम्ब पतनोन्मुख जहाज का भ्रम उत्पन्न कर रहा था अतः चंचलकिरणरूप काष्ठ के अग्रभाग पर बैठा हुआ दिनरूपी जहाज का व्यापारी मानो पानी में डूबना चाहता था।

उस समय लाल-लाल सूर्य समुद्र के जल में विलीन होता हुआ ऐसा जान पड़ता था मानो विधातारूपी स्वर्णकार ने फिर से संसार का आभूषण बनाने के लिए उज्ज्वल सुवर्ण की तरह सूर्य का गोला तपाया हो और किरणाग्र (पक्ष में, हस्ताग्र) रूप सँडसी से पकड़कर उसे समुद्र के जल में डाल दिया हो।

आकाश ने सूर्य को नीचे क्यों गिरा दिया ? इसका उत्तर कवि की वाणी में देखिए—

तां पूर्वगोत्रस्थितिमप्यपास्य यद्वारुणीं नीचरत: सिषेवे ।
स्वसंनिधानादपसार्यते स्म महीयसा तेन विहायसार्क: ॥४॥

यत: सूर्य, पूर्वगोत्र—उदयाचल की स्थिति को (पक्ष में, अपने वंश की पूर्व परम्परा को) छोड़ नीचे स्थानों में आसक्त हो (पक्ष में, नीच मनुष्यों की संगति में पड़, वारुणी—पश्चिम दिशा (पक्ष में, मदिरा) का सेवन करने लगा था अत: महान् (पक्ष में, उच्चकुलीन) आकाश ने उसे अपने सम्पर्क से हटा दिया था।

सूर्य लाल क्यों हो गया इसका हेतु अब महाकवि माघ की वाणी में भी देखिए—

नवकुङ्कुमारुणपयोधरया स्वकरावसक्तरुचिराम्बरया ।
अतिसक्तिमेत्य वरुणस्य दिशा भृशमन्वरज्यदतुषारकर: ॥७॥

—शिशुपालवध, सर्ग ९

जिसके पयोधर—मेघ (पक्ष में, स्तन) नवीन केशर के लेप से लाल-लाल थे, तथा जो अपने करों—किरणों से सुन्दर अम्बर—आकाश को धारण कर रही थी (पक्ष में, अपने हाथ से वस्त्र को पकड़े हुए थी) ऐसी वरुण की दिशा—पश्चिम दिशारूपी स्त्री की अति निकटता को पाकर ही मानो सूर्य अत्यन्त अनुरक्त—राग से युक्त (पक्ष में, लाल) हो गया था।

यहाँ पयोधर, कर और अम्बर के श्लेष ने कवि की कल्पना को सजीव कर दिया है।

सूर्यास्त हो गया, अन्धकार फैल गया और आकाश में तारे चमकने लगे इस प्राकृतिक चित्र में कवि की तूलिका ने कैसा अद्भुत रंग भरा है ? यह देखिए—

अस्तं गते भास्वति जीवितेशे विकीर्णकेशेव तम:समूहै: ।
ताराश्रुबिन्दुप्रकरैर्वियोगदु:खादिव द्यौ रुदती रराज ॥२४॥

—धर्मशर्मा., सर्ग १४

उस समय ऐसा जान पड़ता था कि आकाशरूपी स्त्री, सूर्यरूप पति के नष्ट हो जाने पर अन्धकार-समूह के बहाने केश बिखेरकर तारारूप अश्रुबिन्दुओं के समूह से मानो रो ही रही हो।

उदय के सम्मुख चन्द्रमा का वर्णन कितनी कवित्वपूर्ण भाषा में हुआ है ? यह देखिए—

पूर्वाद्रिभित्यन्तरितोऽथ रागात्स्वज्ञापनायोपपतिः किलेन्दुः ।
पुरन्दराशाभिमुखं कराग्रैश्चिक्षेप ताम्बूलनिभां स्वकान्तिम् ॥३२॥

—धर्मशर्मा., सर्ग १४

तदनन्तर पूर्वाचल की दीवाल से छिपे हुए चन्द्रमा-रूपी उपपति ने अपना परिचय देने के लिए पूर्व दिशा के सम्मुख किरणों के अग्र भाग से (पक्ष में, हाथों के अग्रभाग से) पान के समान अपनी लाल-लाल कान्ति फेंकी ।

चन्द्रोदय होते ही रात्रि का अन्धकार नष्ट हो गया, इसका कल्पना-पूर्ण वर्णन कवि की काव्यमयी भाषा में देखिए—

मुखं निमीलन्नयनारविन्दं कलानिधौ चुम्बति रात्रि रागात् ।
गलत्तमोनीलदुकूलबन्धा द्रवामाद्रवच्चन्द्रमणिच्छलेन ॥३९॥

—धर्मशर्मा., सर्ग १४

ज्यों ही चन्द्रमारूपी चतुर (पक्ष में, कलाओं से युक्त) पति ने, जिसमें नेत्ररूपी नीलकमल निमीलित हैं ऐसे रात्रिरूपी युवती के मुख का राग-पूर्वक चुम्बन किया त्यों ही उसकी अन्धकाररूपी नीली साड़ी की गाँठ खुल गयी और वह स्वयं चन्द्रकान्त-मणि के छल से द्रवीभूत हो गयी ।

नील नभ के मध्य में चमकते हुए चन्द्रमा की लक्ष्मी का वर्णन देखिए कितना सुन्दर है—

तावत्सती स्त्री भुवमन्यपुंसो हस्ताग्रसंस्पर्शसहा न यावत् ।
स्पृष्टा कराग्रैः कमला तथाहि त्यक्तारविन्दाभिससार चन्द्रम् ॥५२॥

—धर्मशर्मा., सर्ग १४

ऐसा जान पड़ता है कि स्त्री तभी तक सती रहती है जबतक कि वह अन्य पुरुष के हाथ का स्पर्श नहीं करती । देखो न, ज्यों ही चन्द्रमा ने अपने कराग्र—किरणाग्र से (पक्ष में, हस्ताग्र से) लक्ष्मी का स्पर्श किया त्यों ही वह कमल को छोड़ उसके पास जा पहुँची ।

चन्द्रमा की रुपहली चाँदनी में स्त्रियों की वेषभूषा तथा पति-मिलन की समुत्कण्ठा का वर्णन कवि ने बहुत ही सरस भाषा में किया है । दोनों पक्ष की दूतियों ने प्रेमी और प्रेमिकाओं के पास जाकर उन्हें अनुकूल करने में अपनी अद्भुत कला दिखलायी है ।

कोई दूती, नायक के सामने विरहिणी नायिका का चन्द्रमा के प्रति आक्रोश प्रकट करती हुई कहती है—

अाः संचरन्नम्भसि वारिराशेः श्लिष्टः किमौर्वाग्निशिखाकलापैः ।
त्विच्चण्डचण्डद्युतिमण्डलाग्रप्रवेशसंक्रान्तकठोरतापः ॥७४॥

अथाङ्कदम्भेन सहोदरत्वात्सोत्साहमुत्सङ्गितकालकूटः ।
अङ्गानि यन्मुर्मुरवह्निपुञ्जभाञ्जीव मे शीतकरः करोति ॥७५॥

अरे ! क्या यह चन्द्रमा समुद्र के जल में विहार करते समय वड़वानल की ज्वालाओं के समूह से आलिंगित हो गया था, अथवा अत्यन्त उष्ण सूर्यमण्डल के अग्रभाग में प्रवेश करने से उसका कठोर सन्ताप इसमें आ मिला है? अथवा कलंक के बहाने सहोदर होने के कारण बड़े उत्साह के साथ कालकूट को अपनी गोद में धारण कर रहा है, जिससे कि मेरे अंगों को मुर्मुरानल के समूह से व्याप्त-सा बना रहा है।

चन्द्रमा के सन्तापक बनने में कवि ने जिन कारणों की कल्पना की है उनमें से दो कारणों की कल्पना दमयन्ती के विरह-वर्णन में श्रीहर्ष ने भी की है। यथा—

अयि विधुं परिपृच्छ गुरोः कुतः स्फुटमशिक्ष्यत दाहवदान्यता ।
ग्लपितशम्भुगलाद्गरलात्त्वया किमु दधौ जड वा वडवानलात् ॥४८॥

—नैषधीयचरित, सर्ग ४

हे सखि! चन्द्रमा से पूछ तो सही कि तूने दाह प्रदान करने की यह उदारता किस गुरु से सीखी है? क्या शंकरजी के गले को ग्लापित करनेवाले कालकूट विष से या समुद्र में रहनेवाले वडवानल से?

पन्द्रहवें सर्ग के प्रारम्भ में पानगोष्ठी का वर्णन कर उत्तरार्ध में सम्भोग शृंगार का वर्णन किया गया है जिसमें नायक-नायिकाओं के सात्त्विक और संचारी भावों का सुन्दर निरूपण हुआ है।[1]

प्रभात

संस्कृत-साहित्य में शिशुपालवध का प्रभात-वर्णन प्रसिद्ध है पर जब हम धर्मशर्माभ्युदय के प्रभात-वर्णन को देखते हैं तब एक विचित्र ही प्रकार के आनन्द की अनुभूति होती है। शिशुपालवध के प्रभात-वर्णन में हम जहाँ कहीं अश्लीलता का भी दर्शन करते हैं पर धर्मशर्माभ्युदय के प्रभात-वर्णन में अश्लीलता दृष्टिगोचर नहीं होती। धर्मशर्माभ्युदय यद्यपि शिशुपालवध से प्रभावित है तथापि उसकी नित्य-नूतन कल्पनाएँ सहृदय जनों के हृदय में एक विचित्र ही रसानुभूति कराती हैं। आकाशान्त में झुके हुए सकलंक चन्द्र को छोड़कर रात्रि क्यों जा रही है? इसमें कवि की कल्पना देखिए—

संभोगं प्रतिविदधता कुमुद्वतीभिश्चन्द्रेण द्विगुणित आत्मनः कलङ्कः ।
तन्नूनं गलितपरमम्बरान्तलग्नं यात्येनं समवगणय्य यामिनीयम् ॥१॥

—सर्ग १६

---

१. विपुलपरिनितम्बाभोगरुद्धे रमण्याः
शयितुमनधिगच्छञ्जीवितेशोऽङ्कभागम् ।
रतिपरिचयखिन्नश्लथनैश्चल्यनिद्रः कथंचिद्-
गमयति शयनीये शर्वरीं किं करोतु ॥६॥

यतः कुमुदिनियों के साथ सम्भोग करनेवाले चन्द्रमा ने अपने कलंक को दुगुना कर लिया है इसलिए मानो यह रात्रि नलि में तत्पर और अम्बरान्त—आकाशान्त (पक्ष में, वस्त्रान्त) में लग्न इस चन्द्रमा को अपमानित कर छोड़कर जा रही है।

प्रातःकाल के समीर से हिलते हुए दीपकों का वर्णन देखिए—

ते भावाः करणविवर्तनानि तानि प्रौढिः सा मृदुभणितेषु कामिनीनाम्।
एकैकं तदिव रतादभुतं स्मरन्तो धुन्वन्ति श्वसनहताः शिरांसि दीपाः ॥६॥

स्त्रियों के वे भाव, वे आसनों के परिवर्तन और रतिजनित कोमल शब्दों में वह अलौकिक चातुरी—इस प्रकार एक-एक आश्चर्यकारी रत का स्मरण करते हुए दीपक वायु से ताड़ित हो मानो सिर ही हिला रहे हैं।

इसी से मिलता हुआ भाव माघ ने भी प्रकट किया है—

अनिमिषमविरामा रागिणां सर्वरात्रं
नवनिधुवनलीलाः कौतुकेनातिवीक्ष्य।
इदमुदवसितानामस्फुटालोकसंप–
न्नयनमिव सनिद्रं घूर्णते दैपमर्चिः ॥१८॥

शिशुपालवध, सर्ग १८

बजनेवाली भेरी के प्रणाद का वर्णन देखिए कितना कल्पनापूर्ण है—

राजानं जगति निरस्य सूरसूतेनाक्रान्ते प्रसरति दुन्दुभेरिदानीम्।
यामिन्याः प्रियतमविप्रयोगदुःखैर्हृत्स्फुटत इवोद्भटः प्रणादः ॥८॥

जब राजा—चन्द्रमा (पक्ष में, नृपति) को नष्ट कर अरुण ने सारे संसार पर आक्रमण कर लिया तब बजनेवाली दुन्दुभियों का शब्द ऐसा फैल रहा था मानो पति-विरह से फटते हुए रात्रि के हृदय का शब्द ही है।

पद्मपराग को उड़ानेवाली प्रभात वायु का वर्णन देखिए—

संभोगश्रमसलिलैरिवाङ्गनानामङ्गेषु प्रशममितं मनोभवाग्निम्।
उन्मीलज्जलजरजःकणान्किरन्तः प्रत्यूषे पुनरनिलाः प्रदीपयन्ति ॥१२॥

सम्भोगजनित स्वेद जल से स्त्रियों के शरीर में जो कामाग्नि बुझ चुकी थी उसे प्रातःकाल के समय खिलते हुए कमलों की पराग के छोटे-छोटे कण बिखेरनेवाली वायु पुनः प्रज्वलित कर रही है।

इससे मिलता हुआ भाव शिशुपालवध में भी प्रकट किया गया है—

अविरतरतलीलायासजातश्रमाणा-
मुपशममुपयान्तं निःसहेऽङ्गेऽङ्गनानाम्।
पुनरुषसि विविक्तैर्मातरिश्वावचूर्ण्य
ज्वलयति मदनाग्निं मालतीनां रजोभिः ॥१७॥

—शिशुपाल, सर्ग ११

पश्चिम दिशा के क्षितिज में झुकते हुए चन्द्रमा और पक्षियों के कलकूजन में देखिए कवि ने अपनी प्रतिभा को कैसा साकार किया है ?

मूर्ध्नीवोद्गतपलितायमानरश्मौ चन्द्रेऽस्मिन्नमति विभावरीजरत्याः ।
अन्योऽन्यं विहगरवैरिवोल्लसन्त्यो दिग्वध्वो विदधति विप्लवाट्टहासम् ॥१५॥

जिस पर किरणरूपी सफेद बाल निकले हैं ऐसे मस्तक के समान चन्द्रमा, जब रात्रिरूपी वृद्धा स्त्री के आगे झुककर प्रणय-याचना करने लगा तब पक्षियों के शब्दों के बहाने परस्पर खिलखिलाती हुई दिशारूपी स्त्रियाँ मानो विप्लवसूचक अट्टहास ही करने लगीं ।

कमलों के विकास, सूर्य की लालिमा तथा सूर्योदय आदि के वर्णन में कवि ने एक से एक नूतन कल्पनाओं को प्रकट किया है । धर्मशर्माभ्युदय का यह प्रभात-वर्णन षोडश सर्ग के १-४१ श्लोकों में सम्पूर्ण हुआ है ।

□

चतुर्थ अध्याय

स्तम्भ १ : आमोद-निदर्शन

१. धर्मशर्माभ्युदय का पुष्पावचय और जलक्रीड़ा
२. जीवन्धरचम्पू का वसन्त-वैभव

स्तम्भ २ : प्रकीर्णक-निर्देश

३. जीवन्धरचम्पू में शिशु-वर्णन
४. जीवन्धरचम्पू का प्रबोध-गीत
५. धर्मशर्माभ्युदय का स्वयंवर-वर्णन
६. चन्द्रग्रहण और जरा का अद्भुत वर्णन
७. सज्जन-प्रशंसा और दुर्जन-निन्दा
८. पुत्राभाव-वेदना
९. स्वप्नदर्शन

स्तम्भ ३ : नीतिनिकुंज

१०. धर्मशर्माभ्युदय का सुभाषितनिचय
११. धर्मशर्माभ्युदय का नीत्युपदेश और राज्य-शासन
१२. जीवन्धरचम्पू का सुभाषितसंचय
१३. जीवन्धरस्वामी की भक्तिगंगा

स्तम्भ ४ : सामाजिक दशा और युद्धनिदर्शन

१४. जीवन्धरचम्पू से ध्वनित सामाजिक स्थिति
१५. धर्मशर्माभ्युदय का युद्ध-वर्णन और चित्रालंकार
१६. जीवन्धरचम्पू का युद्ध-निरूपण

स्तम्भ ५ : भौगोलिक निर्देश और उपसंहार

१७. धर्मशर्माभ्युदय का रत्नपुर
१८. जीवन्धर का हेमांगद देश और उनका भ्रमण-क्षेत्र
१९. टीकाएँ और टिप्पण
२०. धर्मशर्माभ्युदय के संस्कृत-टीकाकार
२१. उपसंहार
२२. अन्त्यनिवेदनम्

स्तम्भ : १ आमोद-निदर्शन (मनोरंजन)

धर्मशर्माभ्युदय में पुष्पावचय और जलक्रीड़ा

छहों ऋतुओं के पुष्पों से सुशोभित विन्ध्याचल की वनस्थली में पुष्पावचय के लिए स्त्रियाँ मदमाती चाल से जा रही हैं। उनकी गोल-गोल भुजाएँ स्थूल नितम्बों से टकराकर कंकणों का शब्द कर रही हैं। इस दृश्य का सुन्दर वर्णन कवि की काव्यभारती में देखिए—

गतागतेषु स्खलितं वितन्वता नितम्बभारेण समं जडात्मना।
भुजौ सुवृत्तावपि कङ्कणक्वणैः किलाङ्गनानां कलहं प्रचक्रतुः ॥५॥

—धर्मशर्माभ्युदय, सर्ग १२

स्त्रियों की भुजाएँ यद्यपि सुवृत्त थीं—गोल थीं (पक्ष में, सदाचारी थीं) फिर भी आने-जाने में रुकावट डालनेवाले जड़—स्थूल (पक्ष में, धूर्त) नितम्ब के साथ कंकणों की ध्वनि के बहाने मानो कलह कर रही थीं।

यही वर्णन महाकवि माघ की काव्यभारती में भी देखिए—

नखरुचिरचितेन्द्रचापलेखं ललितगतेषु गतागतं दधाना।
मुखरितवलयं पृथौ नितम्बे भुजलतिका मुहुरस्खलत्तरुण्याः ॥४॥

—शिशुपाल., सर्ग ७

नखों की कान्ति से जिसमें इन्द्रधनुष की रेखा निर्मित हो रही थी ऐसे गमनागमन को धारण करनेवाली किसी तरुणी की भुजलता कंकणों का शब्द करती हुई स्थूल नितम्ब में बार-बार टकराती थी। यहाँ वर्णनीय विषय दोनों स्थानों पर यद्यपि एक है तथापि महाकवि हरिचन्द्र ने भुजाओं को सुवृत्त और नितम्बमण्डल को जड़ विशेषण देकर विषय को अत्यधिक चमत्कारपूर्ण बना दिया है।

चलते समय स्त्री की मेखला शब्द क्यों कर रही थी ? इसका कल्पनापूर्ण वर्णन महाकवि हरिचन्द्र की वाणी में देखिए—

गुरुस्तनाभोगभरेण मध्यतः कृशोदरीयं झटिति त्रुटिष्यति।
इतीव काञ्ची-कलकिङ्किणीक्वणैर्मृगीदृशः पूत्कुरुते स्म वर्त्मनि ॥६॥

—धर्मशर्मा., सर्ग १२

मार्ग में चलते समय किसी मृगनयनी की मेखला किंकिणियों के मनोहर शब्दों से ऐसी जान पड़ती थी मानो वह, यह जानकर रो ही रही थी कि यह कृशोदरी स्थूल

स्तनमण्डल के भार के कारण मध्यभाग से जल्दी ही टूट जायेगी।

अब इसी मेखला का वर्णन महाकवि माघ की वाणी में देखिए—

अतिशयपरिणाहवान्वितेने बहुतरमर्पितरत्नकिङ्किणीकः।
अलघुनि जघनस्थले परस्या ध्वनिमधिकं कलमेखलाकलापः ॥५॥

—शिशुपाल., सर्ग ७

किसी अन्य स्त्री के स्थूल नितम्बमण्डल पर अनेक मणिमय किंकिणियों से युक्त अतिशय विशाल मनोहर मेखलाओं का समूह अधिक शब्द कर रहा था।

यहाँ शब्द क्यों कर रहा था? इसमें कवि ने कोई कल्पनापूर्ण हेतु नहीं दिया।

कोई स्त्री लता के अग्रभाग में लगे हुए फूल को तोड़ने के लिए अपनी भुजा ऊपर उठाये हुए है इसका वर्णन हरिचन्द्र की वाणी में देखिए—

काचिद्वराङ्गी कमितुः पुरस्तादुदस्तबाहोः कुसुमोच्चतस्य।
मूलं नखाङ्काञ्चितमंशुकेन तिरोदधे मङ्क्षु करान्तरेण ॥८॥

—जीवन्धरचम्पू, लम्भ ४

कोई एक स्त्री अपने पति के सामने फूल तोड़ने के लिए भुजा ऊपर की ओर उठाये हुए थी परन्तु उस भुजा के मूल में पति के द्वारा दिया हुआ नखक्षत का चिह्न था जिसे वह दूसरे हाथ से वस्त्र के द्वारा बड़ी सुन्दरता के साथ छिपा रही थी।

यही वर्णन माघ के शब्दों में देखिए—

प्रियमभि कुसुमोद्यतस्य बाहोर्नवनखमण्डनचारु मूलमन्या।
मुहुरितरकराहितेन पीनस्तनतटरोधि तिरोदधेंऽशुकेन ॥२२॥

—शिशुपाल., सर्ग ७

यद्यपि दोनों श्लोकों का भाव एक-सा है तथापि मङ्क्षु की अपेक्षा माघ का 'मुहुः' शब्द अधिक चमत्कार उत्पन्न करनेवाला है।

पतियों द्वारा स्त्रियों के प्रति जो प्रणयोक्तियाँ कही गयी हैं उसका कुछ नमूना देखिए। स्त्री के केशपाश का वर्णन करता हुआ पति उससे कहता है—

शिखण्डिनां ताण्डवमत्र वीक्षितुं तवास्ति चेच्चेतसि तन्वि कौतुकम्।
समाल्यमुद्दामनितम्बचुम्बिनं सुकेशि तत्संवृणु केशसञ्चयम् ॥२४॥

—धर्मशर्मा., सर्ग १२

हे तन्वि! यदि तेरे चित्त में यहाँ मयूरों का ताण्डव नृत्य देखने का कौतुक है तो हे सुकेशि! स्थूल नितम्बों का चुम्बन करनेवाले, मालाओं सहित इस केशसमूह को ढंक ले।

यही भाव माघ ने शिशुपालवध के पंचम सर्ग में प्रकट किया है—

दृष्ट्वैव निर्जितकलापभरामधस्ताद् व्याकीर्णमाल्यकबरां कबरीं तरुण्याः।
प्रादुद्रवत्सपदि चन्द्रकवान्द्रुमाग्रात्संघर्षिणा सह गुणाभ्यधिकैर्दुरासम् ॥१९॥

किसी वृक्ष पर मयूर बैठा था, ज्यों ही उसने वृक्ष के नीचे अपने पिच्छभार को जीतनेवाली तथा गुँथी हुई मालाओं से चित्र-विचित्र किसी युवती की चोटी देखी त्यों ही वह शीघ्र भाग गया सो ठीक ही है क्योंकि ईर्ष्यालु प्राणी अधिक गुणवानों के साथ एकत्र नहीं रह सकते।

स्त्री के वाणी-माधुर्य को प्रकट करने के लिए कोई पति कह रहा है—

भज क्षणं चण्डि वियोगिनीजने दयालुतामुद्गिर सुन्दरीं गिरम्।
अमी हताशाः प्रथयन्तु मूकतां कृतान्तदूता इव लज्जिताः पिकाः ॥२८॥

—धर्मशर्मा., सर्ग १२

हे चण्डि! क्षण-भर के लिए वियोगिनी स्त्रियों पर दयालु हो जा और अपनी सुन्दर वाणी प्रकट कर दे जिससे यमराज के दूतों के समान ये दुष्ट कोयल लज्जित हो चुप हो जायँ।

यहाँ 'तेरी वाणी कोयल की कूक से भी मधुर है' यह भाव कवि ने प्रकट किया है।

रुष्ट स्त्रियों तथा पुरुषों को अनुकूल करने के लिए सखियों की सान्त्वनापूर्ण उक्तियाँ भी (१२-१९), (३५-३९) दर्शनीय हैं। समस्त सर्ग में श्रृंगार रस की मधुर धारा को प्रवाहित करते हुए भी कवि ने शालीनता को सुरक्षित रखा है जबकि माघ उसे सुरक्षित नहीं रख सके हैं। माघ के सप्तम सर्ग के ४४–५१ श्लोक अधिक अशालीन जान पड़ते हैं। इसी प्रकार किरातार्जुनीय के अष्टम सर्ग का १९वाँ तथा इसी प्रकार के कुछ अन्य श्लोक भी शालीनता को सुरक्षित नहीं रख सके हैं।

जलक्रीड़ा

विन्ध्याचल के फलपुष्पविशोभित वन में पुष्पावचय करती हुई स्त्रियाँ जब श्रान्त हो गयीं तथा उनके अंग स्वेद-बिन्दुओं से व्याप्त हो गये तब जलक्रीड़ा के लिए नर्मदा के तट पर गयीं। थकी-माँदी स्त्रियों का वर्णन देखिए—

द्विगुणितमिव यात्रया वनानां स्तनजघनोद्वहनश्रमं वहन्त्यः।
जलविहरणवाञ्छया सकान्ता ययुरथ मेकलकन्यकां तरुण्यः ॥१॥

धर्म., सर्ग १३

तदनन्तर वनविहार से जो मानो दूना हो गया था ऐसा स्तन तथा जघन धारण करने का खेद वहन करनेवाली तरुण स्त्रियाँ जलक्रीड़ा की इच्छा से अपने-अपने पतियों के साथ नर्मदा की ओर चलीं।

कितनी ही स्त्रियाँ नदी-तट पर पहुँचकर भी भय के कारण पानी में प्रवेश नहीं कर रही हैं परन्तु उनके प्रतिबिम्ब पानी में प्रतिबिम्बित हो रहे हैं इसका वर्णन

कवि की वाणी में देखिए—

कथमपि तटिनीमगाहमानाश्चकितदृशः प्रतिमाच्छलेन तन्व्यः ।
इह पयसि भुजावलम्बनार्थं समभिसृता इव वारिदेवताभिः ॥१९॥

कितनी ही चंचल-लोचना स्त्रियाँ नदी के पास जाकर भी उसमें प्रवेश नहीं कर रही थीं परन्तु पानी में उनके प्रतिबिम्ब पड़ रहे थे जिससे ऐसी जान पड़ती थीं मानो उनकी भुजाएँ पकड़ने के लिए जलदेवियाँ ही उनके सम्मुख आयी हों ।

जलप्रवेश से डरनेवाली स्त्री का चित्रण माघ ने भी बड़ा कौतुकपूर्ण किया है देखिए—

आसीना तटभुवि सस्मितेन भर्त्रा रम्भोरूरवतरितुं सरस्यनिच्छुः ।
धुन्वाना करयुगमीक्षितुं विलासाञ्शीतालुः सलिलगतेन सिच्यते स्म ॥१९॥
—शिशुपालवध, सर्ग ८

कोई एक स्त्री ठण्ड का बहाना लेकर नदी तट पर बैठी हुई सरोवर में प्रवेश करने के लिए कतरा रही है। उसका पति पानी में प्रवेश कर चुका है। पति के कहने पर भी वह पानी में प्रवेश नहीं कर रही है मात्र दोनों हाथ हिलाकर मना कर रही है तब पति उसकी विलास-चेष्टाएँ देखने के लिए मुसकराता हुआ उसपर पानी उछाल रहा है ।

शिशुपालवध के अष्टम सर्ग में ७१ श्लोकों के द्वारा माघ ने और धर्मशर्माभ्युदय के त्रयोदश सर्ग में उतने ही श्लोकों द्वारा हरिचन्द्र ने जलक्रीड़ा का बड़ा प्राञ्जल वर्णन किया है। दोनों ही कवि, आख्यानात्मक अंश से उतने अनुरक्त नहीं जान पड़ते जितने कि वर्णनात्मक अंश से। वनक्रीड़ा, जलक्रीड़ा, चन्द्रोदय, प्रभात, सूर्योदय आदि के वर्णन में इन्होंने पूरे-पूरे सर्ग व्याप्त किये हैं।

स्त्रियों के जलप्रवेश करते ही कमलवन में बैठा हुआ हंस, अपनी चोंच में मृणालखण्ड को दबाये हुए भय से उड़ गया इसका सजीव वर्णन देखिए—

प्रसरति जललीलया जनेऽस्मिन्बिसवदनो दिवमुत्पपात हंसः ।
नवपरिभवलेखभृन्मृणालिन्या प्रहित इवांशुमते प्रियाय दूतः ॥२३॥
—धर्मशर्मा., सर्ग १२

जब लोग जलक्रीड़ा करते हुए इधर-उधर फैल गये तब हंस अपने मुँह में मृणाल का टुकड़ा दाबे हुए आकाश में उड़ गया जो ऐसा जान पड़ता था मानो कमलिनी ने नूतन पराभव के लेख से युक्त दूत ही अपने पति—सूर्य के पास भेजा हो ।

कोई एक पुरुष अपनी प्रियतमा के वक्षःस्थल पर बार-बार पानी उछाल रहा था। क्यों उछाल रहा था? इसका उत्तर महाकवि हरिचन्द्र की वाणी में देखिए—

[1]समसिञ्चत मुहुर्मुहुः कुचाग्रं करसलिलैर्दयितो विमुग्धवध्वाः ।
मृदुतरहृदयस्थलीप्ररूढस्मरनवकल्पतरोरिवाभिवृद्धयै ॥३१॥

—धर्मशर्मा., सर्ग १३

कोई एक पुरुष हाथों से पानी उछाल-उछालकर अपनी भोली-भाली नयी स्त्री के स्तनाग्र भाग को बार-बार सींच रहा था जो ऐसा जान पड़ता था मानो उसके कोमल हृदय क्षेत्र में जमे हुए कामरूपी नवीन कल्पवृक्ष को बढ़ाने के लिए ही सींच रहा हो।

स्थूल स्तनों से सुशोभित कोई स्त्री पानी में तैर रही थी उसका वर्णन देखिए कितना कल्पनापूर्ण है ?

हृदि निहितघटेव बद्धतुम्बीफलतुलिताङ्कलतेव कापि तन्वी ।
इह पयसि सविभ्रमं तरन्ती पृथुलकुचोच्चयशालिनी रराज ॥३३॥

—धर्मशर्मा. सर्ग १३

स्थूल स्तनमण्डल से सुशोभित कोई एक स्त्री पानी में बड़े विभ्रम के साथ तैर रही थी और उससे ऐसी जान पड़ती थी मानो उसने अपने हृदय के नीचे दो घट ही रख छोड़े हों अथवा शरीररूपी लता के नीचे तुम्बी के दो फल ही बाँध रखे हों।

किसी स्त्री के मुख पर एक भौंरा बार-बार झपट रहा है और स्त्री उससे भयभीत हो अपने दोनों हाथ हिला रही है। उस भ्रमर के प्रति कवि की उक्ति देखिए कितनी मनोरम है ?

अहमिह गुरुलज्जया हतोऽस्मि भ्रमर विवेकनिधिस्त्वमेक एव ।
मुखमनु सुमुखी करौ धुनाना यदुपजनं भवता मुहुश्चुचुम्बे ॥३९॥

—धर्मशर्मा. सर्ग १३

भाई भ्रमर ! मैं तो इस बड़ी लज्जा के द्वारा ही मारा गया पर विवेक के भाण्डार तुम्हीं एक हो जो सब लोगों के समक्ष ही मुख के पास हाथ हिलानेवाली इस सुमुखी का बार-बार चुम्बन कर रहे हो।

कवि की यह उक्ति अभिज्ञान शाकुन्तल में प्ररूपित कविकुलतिलक कालिदास की निम्नांकित उक्ति का स्मरण दिलाती है—

चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः ।
करं व्याधुन्वन्त्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं
वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती ॥

भाव स्पष्ट है।

---

१. सुदतीकुचकुङ्मलाग्रभारात्तरुणः कश्चिदसिञ्चदम्बुभिः ।
हृदयस्थलजातरागकल्पद्रुमवृद्धयै किमु कामुकः परम् ॥१८॥ —जीवन्धरचम्पू, लम्भ ४

जलक्रीड़ा के बाद नदी से बाहर निकली हुई किसी स्त्री के केशों से पानी की बूँदें टपक रही हैं। क्यों टपक रही हैं? इसका उत्तर कवि की कलम से सुनिए—

जलविहरणकेलिमुत्सृजन्त्याः कचनिचयः क्षरदम्बुरम्बुजाक्ष्याः।
परिविदितनितम्बसङ्गसौख्यः पुनरपि बन्धभियेव रोदिति स्म ॥५१॥

—धर्मशर्मा., सर्ग १३

जलविहार की क्रीड़ा छोड़नेवाली किसी कमलनयना के केशों से पानी झर रहा था जिससे वे ऐसे जान पड़ते थे कि अब तक तो हमने खुले रहने से नितम्ब के साथ समागम के सुख का अनुभव किया पर अब फिर बाँध दिये जायेंगे इस भय से मानो रो ही रहे थे।

किसी पुरुष ने स्त्री के स्थूल स्तनमण्डल पर पानी उछाल दिया इससे पास में खड़ी हुई सपत्नी को बड़ी वेदना हुई और उस वेदना के कारण वह स्वेद से तर हो गयी। देखिए, सपत्नीगत मात्सर्य का कितना सुन्दर वर्णन है—

सरभसमभिपेन सिच्यमाने पृथुलपयोधरमण्डले प्रियायाः।
श्रमसलिलमिषात्सखेदमश्रूण्यहह मुमोच कुचद्वयं सपत्न्याः ॥२७॥

—धर्मशर्मा., सर्ग १३

ज्यों ही पति ने अपनी प्रिया का स्थूल स्तनमण्डल सहसा पानी से सींचा त्यों ही सपत्नी के दोनों स्तन पसीना के छल से बड़े खेद के साथ आँसू छोड़ने लगे।

इसी से मिलता-जुलता भाव महाकवि माघ ने भी प्रकट किया है। देखिए—

उद्वीक्ष्य प्रियकरकुड्मलापविद्धै-
र्वक्षोजद्वयमभिषिक्तमन्यनार्याः।
अम्भोभिर्मुहुरसिचद्वधूरमर्षा-
दात्मीयं पृथुतरनेत्रयुग्ममुक्तैः ॥२७॥

पति के करकुड्मलों के द्वारा उछाले हुए जल से अन्य स्त्री के स्तनयुगल को अभिषिक्त देख कोई स्त्री क्रोध के कारण अपने स्तनयुगल को विशाल नेत्रयुगल से छोड़े हुए जल से—आँसुओं से बार-बार सींचने लगी।

इस तरह धर्मशर्माभ्युदय का समस्त त्रयोदश सर्ग जलक्रीड़ा के मनोहर दृश्यों से भरा हुआ है। इसके समक्ष भारवि का जलक्रीड़ा वर्णन (किरातार्जुनीय, सर्ग ८) निष्प्रभ जान पड़ता है, और माघ का वर्णन समकक्ष प्रतिभासित होता है।

जीवन्धरचम्पू का वसन्त-वैभव

पुष्पावचय

जन-जन के मानस को आन्दोलित कर देनेवाले वसन्त का शुभागमन हुआ है। वन की शोभा निराली हो गयी है। उसका वर्णन करने के लिए महाकवि हरिचन्द्र की पंक्तियाँ देखिए—

तदानीं जगज्जयोद्युक्तपञ्चबाणप्रयाणसूचकमाञ्जिष्ठदूष्यनिलयनिकाशपल्लविताशोकपेशलं सुवर्णशृङ्खलसंनद्धवनदेवताञ्चितपेटिकायमानरसालपल्लवसमासीनकोकिलकुलं तरुणजनहृदयविदारणदारुणकुसुमबाणनखरायमाणकिंशुककुसुमसङ्कुलं मदननरपालकनकदण्डायितकेसरकुसुमभासुरं विलीनशिलीमुखजराभीरुशरधिसरूपपाटलपटलं वियोगिजनस्वान्तनितान्तकृन्तनकुन्तायितकैतकदन्तुरितं वनमजायत ।—पृ. ७६-७९

भाव यह है—

उस समय वन की शोभा निराली हो रही थी। कहीं तो वह वन जगत् को जीतने के लिए उद्यत कामदेव के प्रस्थान को सूचित करनेवाले मंजीठ रंग के तम्बुओं के समान पल्लवों से युक्त अशोक वृक्षों से मनोहर दिखाई देता था। कहीं सोने की सांकलों से जकड़ी वनदेवता की उत्तम पेटी के समान दिखनेवाले आम के पल्लवों पर कोकिलाओं के समूह बैठे हुए थे। कहीं तरुण मनुष्यों के हृदय को विदारण करने में कठोर कामदेव के नाखूनों के समान सुशोभित पलाश वृक्ष के पुष्पों से व्याप्त था। कहीं कामदेवरूपी राजा के सुवर्णदण्ड के समान आचरण करनेवाले मौलश्री के फूलों से सुशोभित था। कहीं जिनपर शिलीमुख—भौंरें बैठे हुए हैं (पक्ष में, शिलीमुख—बाण रखे हुए हैं) ऐसे कामदेव के तरकस के समान गुलाब की झाड़ियों से सुशोभित था और कहीं वियोगी मनुष्यों के हृदय के काटने में भाले का काम करनेवाले केतकी के फूलों से व्याप्त था।

नागरिक पुष्पावचय करने के लिए उद्यत हैं। कोई पुरुष अपनी कान्ता को कोप से कलुषित-चित्त देख कहता है—

प्रसारय दृशां पुरः क्षणमिदं वनं विन्दतां
स्थलोत्पलकुलानि वै कलय तन्वि मन्दस्मितम्।
पतन्तु कुसुमोच्चया दिशि दिशि प्रहृष्टालयः
स्फुटीकुरु गिरं पिकः सपदि मौनमालोकताम् ॥५॥ —पृ. ७८

हे तन्वि! आगे दृष्टि तो फैलाओ जिससे यह वन, स्थल में विद्यमान नीलकमलों को प्राप्त कर सके। जरा मन्द मुसकान भी छोड़ो जिससे प्रत्येक दिशा में भ्रमरों को आनन्दित करनेवाले फूलों के समूह झड़ पड़ें और जरा अपनी वाणी भी प्रकट करो जिससे कोयल शीघ्र ही चुप हो जाये।

कोई एक पुरुष अपनी प्रणयिनी से कहता है—

सञ्चारिणी खलु लता त्वमनङ्गलक्ष्मी-
रम्लानपल्लवकरा प्रमदालिजुष्टा।
यस्या गुलुच्छयुगलं कठिनं विशाल-
शाखे शिरीषसुकुमारतमे मृगाक्षि ॥६॥
—पृ. ७८

हे मृगनयनि ! जिसमें हाथ के समान नूतन पल्लव लहलहा रहे हैं, जो मदोन्मत्त भ्रमरों से सेवित है, जिनके फूल के दो गुच्छे अत्यन्त कठोर हैं, और जिसकी दो बड़ी शाखाएँ शिरीष के फूल के समान अत्यन्त सुकुमार हैं ऐसी तुम ही चलती-फिरती लता हो और तुम ही काम की लक्ष्मी हो।

पुष्पावचय करनेवाली स्त्रियों का स्वाभाविक चित्रण देखिए कितना सजीव है—

चलत्कुचं सपदि भङ्गुरमध्यभागं स्विद्यत्कपोलमलकाकुलवक्त्रबिम्बम्।
व्यालोलकङ्कणक्वणत्कृति तत्र देव्यः पुष्पग्रहं करतलैः कुतुकादकार्षुः ॥१७॥

—पृ. २२२

वहाँ देवियों—रानियों ने कौतुकवश अपने हाथों से फूलों का चयन किया। चयन करते समय उन देवियों के स्तन हिल रहे थे, मध्यभाग झुक रहे थे, कपोल पसीना से तर हो रहे थे, मुख-मण्डल केशों से व्याकुल हो रहे थे और चंचल कंकण झनझन शब्द कर रहे थे।

जलक्रीड़ा

धर्मशर्माभ्युदय का कथावृत्त अल्प होने से उसमें वर्णनात्मक भाग का विस्तार किया गया है। यही कारण है कि उसमें वनक्रीड़ा और जलक्रीड़ा के लिए स्वतन्त्र सर्ग रखे गये हैं परन्तु जीवन्धरचम्पू का कथावृत्त अत्यन्त विस्तृत है साथ ही अनेक घटनाओं से भरा हुआ है अतः इसमें काव्यात्मक वर्णन सीमित है। यहाँ जलक्रीड़ा के प्रसंग के निम्न श्लोक द्रष्टव्य हैं—

कश्चिदम्भसि विकूणितेक्षणं हेमयन्त्रविगलज्जलैर्मुहुः।
कामिनीमुखमसिञ्चदञ्जसा चन्द्रबिम्बमिव द्रष्टुमागतम् ॥१७॥
सुदतीकुचकुड्मलाग्रमारात्तरुणः कश्चिदसिञ्चदम्बुभिः।
हृदयस्थलजातरागकल्पद्रुमवृद्ध्यै किमु कामुकः परम् ॥१८॥
अन्या काचिद्वल्लभं वञ्चयित्वा सख्या साकं वारिमग्ना मुहूर्तम्।
तस्या गात्रामोदलोभाद् भ्रमद्भिर्भृङ्गैर्लीला तामुनालिङ्गिता च ॥१९॥
सरोजिनीमध्यविराजमाना काचिन्मृगाक्षी कमनीयरूपा।
वक्षोजकोशा मृदुबाहुनाला नालक्षि वक्त्रायतफुल्लपद्मा ॥२०॥
च्युतैः प्रसूनैर्घनकेशबन्धान्मृगीदृशां तारकिते जलेऽस्मिन्।
निरीक्ष्यमाणं तरुणैश्चकोरैः कस्याश्चिदास्यं शशभृद्बभूव ॥२१॥

—पृ. ८३

भाव यह है—

उस समय पानी पर जिसकी कुंचित दृष्टि पड़ रही थी और जो देखने के लिए आये हुए चन्द्रबिम्ब के समान जान पड़ता था ऐसे अपनी प्रिया के मुख को सोने की पिचकारी से निकलते हुए जल से कोई बार-बार सींच रहा था।

कोई एक युवा पास आकर अपनी स्त्री के स्तनरूप कुड्मल के अग्रभाग को पानी से सींच रहा था जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो वह उसके हृदयस्थल में उत्पन्न हुए रागरूपी कल्पवृक्ष की वृद्धि ही चाहता था।

कोई एक स्त्री अपने पति को धोखा देकर सखी के साथ मुहूर्त-भर के लिए पानी में डूबा साथ गयी परन्तु उसके शरीर की सुगन्धि के लोभ से मँडराते हुए भ्रमरों से उसका पता चल गया और पति ने उसका आलिंगन किया।

जिसके स्तन कमल की बौंडियों के समान थे, कोमल भुजाएँ मृणाल के समान थीं और मुख फूले हुए कमल के समान था ऐसी सुन्दर रूप को धारण करनेवाली कोई स्त्री जब कमलिनियों के बीच पहुँची तब अलग से पहचानने में नहीं आयी।

नदी का पानी स्त्रियों के सघन केशबन्धन से गिरे हुए फूलों के द्वारा तारकित—ताराओं से युक्त जैसा हो रहा था और उसके बीच में तरुणजनरूपी चकोरों के द्वारा देखा गया किसी स्त्री का मुख चन्द्रमा हो रहा था—चन्द्रमा के समान जान पड़ता था।

इस प्रकार पुष्पावचय और जलक्रीड़ा के संक्षिप्त स्पर्श से जीवन्धरचम्पू का वसन्त-वैभव काव्यकला का एक उत्तम आदर्श है।

□

स्तम्भ २ : प्रकीर्णक निर्देश

जीवन्धरचम्पू में शिशु-वर्णन

महाकवि हरिचन्द्र ने शिशु अवस्था का वर्णन धर्मशर्माभ्युदय के नवम सर्ग में विस्तार से किया है पर जीवन्धरचम्पू के प्रथम लम्भ में भी जो जीवन्धर कुमार की शिशु अवस्था का वर्णन हुआ है वह संक्षिप्त होने पर भी सुन्दर है, देखिए—

यथा यथा जीवकयामिनीशो विवृद्धिमागाद्विलसत्कलापः ।
तथा तथावर्धत मोदवार्धिरुद्वेलमुरुव्यनिकामभर्तुः ॥९९॥
उत्तानशयने बिभ्रन्मुष्टिं तुष्टिकरः सुतः ।
उद्यत्कुड्मलयुग्मश्रीपद्माकरतुलां दधौ ॥१००॥
मुग्धस्मितं मुखसरोजगलन्मरन्द-
धारानुकारि मुखचन्द्रचन्द्रिकाभम् ।
पित्रोः प्रमोदकरमेव बभार सूनुः
कीर्तेर्विकासमिव हासमिवास्यलक्ष्म्याः ॥१०१॥
पयोधरं धयन् सूनुः पयो गण्डूषितं मुहुः ।
उद्गिरन्कीर्तिकल्लोलं किरन्निव विदिद्युते ॥१०२॥
संचरन् स हि जानुभ्याममले मणिकुट्टिमे ।
प्रतिबिम्बं परापत्यबुद्ध्या संताडयन्बभौ ॥१०३॥
क्रमेण सोऽयं मणिकुट्टिमाङ्गणे नखस्फुरत्कान्तिलहरीभिरञ्चिते ।
स्खलत्पदं कोमलपादपङ्कजक्रमं ततान प्रसवास्तुते यथा ॥१०४॥

—पृ. ३६-३७

भाव यह है—

शोभायमान कलाओं से सम्पन्न जीवन्धररूपी चन्द्रमा जैसा-जैसा बढ़ता जाता था वैसा-वैसा ही गन्धोत्कट का हर्षरूपी सागर बढ़ता जाता था।

बालक जीवन्धर जब मुट्ठियाँ बाँधकर चित्त सोता था तब उस तालाब की शोभा धारण करता था जिसमें कमल की दो बोंड़ियाँ उठ रही थीं।

वह बालक माता-पिता के आनन्द को बढ़ानेवाली जिस सुन्दर मुसकान को धारण करता था वह ऐसी जान पड़ती थी मानो मुखरूपी कमल से मकरन्द की धारा

ही गिर रही हो, अथवा मुखरूपी चन्द्रमा की चाँदनी ही हो, अथवा कीर्ति का विकास ही हो, अथवा मुख की लक्ष्मी का हास्य ही हो।

वह बालक माता का स्तन पीकर बार-बार दूध के कुरले उगल देता था जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो कीर्ति की तरंग ही बिखेर रहा हो।

कुछ ही दिनों में वह बालक मणियों के निर्मल फर्श पर घुटनों के बल चलने लगा था और अपनी ही परछाईं को दूसरा बालक समझ ताड़न करता हुआ अत्यन्त सुशोभित हो रहा था।

क्रम-क्रम से वह बालक नखों की फैलती हुई कान्तिरूपी तरलों से सुशोभित अतएव फूलों से आच्छादित के समान दिखने वाले मणियों के आँगन में लड़खड़ाते पैरों से कोमल चरण-कमलों की डग फैलाने लगा।

बाल-लीला का कौतुकावह वर्णन हम सोमदेव के यशस्तिलक-चम्पू में देखते हैं। बाण ने कादम्बरी में चन्द्रापीड के शैशव का वर्णन मात्र एक पंक्ति में समाप्त कर दिया है—

'क्रमेण कृतचूडाकरणादिक्रियाकलापस्य शैशवमतिचक्राम चन्द्रापीडस्य'

महाकवि कालिदास ने भी रघुवंश के तृतीय सर्ग में रघु के बाल्यकाल का वर्णन मात्र एक श्लोक में पूर्ण किया है—

उवाच धात्र्या प्रथमोदितं वचो ययौ तदीयामवलम्ब्य चाङ्गुलिम्।
अभूच्च नम्रः प्रणिपातशिक्षया पितुर्मुदं तेन ततान सोऽर्भकः ॥२५॥
— सर्ग ३

अलंकार की दृष्टि से अर्हद्दास के पुरुदेवचम्पू में बाल्यभाव का अच्छा वर्णन हुआ है।

इसी सन्दर्भ में धर्मशर्माभ्युदय का भी शिशु-वर्णन द्रष्टव्य है। भगवान् धर्मनाथ माता की गोद से उन्मुक्त हो पृथ्वी पर चलने का अभ्यास कर रहे हैं इसका वर्णन देखिए, कितना स्वाभाविक है—

प्राच्या इवोत्थाय स मातुरङ्कतः कृतावलम्बो गुरुणा महीभृता।
भूम्यस्तपादः सवितेव बालकश्चचाल वाचालितकिङ्किणीद्विजः ॥७॥
रिङ्खन्पदाक्रान्तमहीतले बभौ स्फुरन्नखांशुप्रकरेण स प्रभुः।
तोषस्य धाराविधुरेऽस्य धावता कुटुम्बकेनेव निषेवितक्रमः ॥८॥
बभ्राम पूर्वं सुविलम्ब्यमन्थरप्रवेपमानाग्रपदं स बालकः।
विश्वम्भरायां पदभारधारणप्रगल्भतामाकलयन्निव प्रभुः ॥९॥ —सर्ग ९

भाव स्पष्ट है।

जीवन्धरचम्पू का प्रबोध-गीत

कविकुलगुरु कालिदास ने रघुवंश के पंचम सर्ग में श्लोक ६६ से ७५ तक मागधों द्वारा युवराज अज को जगाने के लिए जिस प्रबोध-गीत का मंगल गान कराया है उसका प्रभाव हम जीवन्धरचम्पू पर भी देखते हैं। यहाँ विजया देवी को जगाने के लिए प्राबोधिक—जगाने के कार्य में नियुक्त मागधजनों ने जो हृदयहारी गीत गाया है वह संक्षिप्त होने पर भी एक विशिष्ट प्रकार के आनन्द की उद्भूति करता है। इस कार्य के लिए रघुवंश और जीवन्धरचम्पू दोनों में एक ही वसन्ततिलका छन्द का चयन किया गया है—

देवि प्रभातसमयोऽयमिहाञ्जलिं ते
पद्मैः करैर्विरचयन्दरफुल्लरूपैः ।
भृङ्गालिमञ्जुलरवैस्तनुते प्रबोध-
गीतिं नृपालमणिमानसहंसकान्ते ॥४३॥
देवि त्वदीयमुखपङ्कजनिर्जितश्री-
श्चन्द्रो विलोचनजितं दधदेणमङ्के ।
अस्ताद्रिदुर्गसरणिः किल मन्दतेजा
द्राग्वारुणीभजनतश्च पतिष्यतीव ॥४४॥
बलरिपुहरिदेषा रक्तसंध्याम्बरश्री-
रविमयमणिदीपं रम्यदूर्वासमेतम् ।
गगनमहितपात्रे कुर्वती भाग्यशाल्ये
प्रगुणयति निकामं देवि ते मङ्गलानि ॥४५॥
देवि त्वदीयकचडम्बरचौर्यसुङ्गा
भृङ्गावली सपदि पङ्कजबन्धनेषु ।
राज्ञा निशासु रचिताद्य विसृष्टहृष्टा
त्वां स्तौति मञ्जुलरवैरुररीकुरुष्व ॥४६॥—पृ. १९-२०

इनका भाव यह है—

हे देवि! हे राजा के मनरूपी मानसरोवर की हंसी! यहाँ यह प्रातःकाल कुछ-कुछ खिले हुए कमलरूपी हाथों के द्वारा तुम्हें अंजलि बाँध रहा है और भृंगावली के मधुर शब्दों के द्वारा प्रबोध-गीत गा रहा है।

हे देवि! तुम्हारे मुख-कमल के द्वारा जिसकी श्री जीत ली गयी है ऐसा यह चन्द्रमा, तुम्हारे नेत्रों से पराजित हरिण को अपनी गोद में रखे हुए अस्ताचलरूपी दुर्ग की शरण में गया था, परन्तु वह अभागा वहाँ वारुणी—पश्चिम दिशा (पक्ष में, मदिरा) का सेवन कर बैठा, इसलिए अब मन्द-तेज होकर शीघ्र ही नीचे गिर जायेगा ऐसा जान पड़ता है।

हे देवि ! इधर यह पूर्वदिशारूपी स्त्री सन्ध्यारूपी लाल साड़ी पहनकर नक्षत्र-रूपी अक्षतों से सहित आकाशरूपी उत्तम पात्र में सूर्यरूपी मणिमय दीपक और सूर्य के घोड़ेरूपी हरी-हरी दूर्वा को सँजोकर तेरा बहुत भारी मंगलाचार कर रही है—आरती उतार रही है।

हे देवि ! यह भ्रमरों की पंक्ति तुम्हारे केशपाश का सौन्दर्य चुराने में बहुत चतुर थी, इसलिए रात्रि के समय राजा ने (पक्ष में, चन्द्रमा ने) इसे शीघ्र ही कमलों के बन्धन में क़ैद कर दिया था, अब प्रातःकाल होने पर इसे छोड़ा है इसलिए हर्षित होकर मनोहर शब्दों के द्वारा तुम्हारी स्तुति कर रही है सो स्वीकृत करो।

जीवन्धरचम्पू के इस प्रबोध-गीत का अनुसरण पुरुदेवचम्पू में भी किया गया है। उसके कर्ता अर्हद्दासजी ने महादेवी मरुदेवी के प्रबोध-गीत में लिखा है—

अरुणाम्बरं दधाना सन्ध्यारमणी विनिद्रपद्ममुखी।
देवि ! तव पादसेवां कर्तुमिवायाति कमललोलाक्षी ॥२३॥

लक्ष्म्याः समस्तवसुवृद्धिपुषो निवासो-
ऽप्यब्जं तथा वसुमतो वसुभिः परीतम्।
देवि ! त्वदीयमुखराजविरोधहेतो-
र्नीलालके नवसुमत्वमहो दधाति ॥२४॥

तवाननाम्भोजविरोधिनौ द्वा-
वब्जस्तथाब्जं च पुमांस्तु तत्र।
त्वया जितोऽस्ताचल-दुर्गमाप
त्यक्तं पुनः क्लीबमुपैति मोदम् ॥२५॥—चतुर्थ स्तवक

इनका भाव यह है—

हे देवि ! जो लाल अम्बर—आकाश (पक्ष में, वस्त्र) धारण कर रही है, खिले हुए कमल ही जिसका मुख है तथा कमल ही जिसके चंचल नेत्र हैं ऐसी सन्ध्यारूपी स्त्री तुम्हारे चरणों की सेवा करने के लिए ही मानो आ रही है।

हे देवि ! जो अब्ज—कमल, समस्त लोगों के धन की वृद्धि को पुष्ट करनेवाली लक्ष्मी का यद्यपि निवास है, और वसुमान्—धनवान् मनुष्यों के वसु—धन से यद्यपि परिव्याप्त है (पक्ष में, सूर्य की किरणों से व्याप्त है) तथापि तुम्हारे मुखरूपी राजा (पक्ष में, चन्द्रमा) से विरोध होने के कारण श्यामल अलकों में वसुमत्त्व—धनवत्ता को धारण नहीं करता यह आश्चर्य है (पक्ष में, नवसुमत्वं—नूतन पुष्पपने को धारण करता है)।

हे देवि ! तुम्हारे मुखकमल के विरोधी अब्ज (चन्द्रमा) और अब्ज (कमल) दो हैं इनमें जो पुरुष है (पुंलिंग है) ऐसा अब्ज—चन्द्रमा तो पराजित होकर अस्ताचल के वन को चला गया पर जिसे नपुंसक समझकर छोड़ दिया था ऐसा अब्ज (कमल) प्रमोद को प्राप्त हो रहा है।

यहाँ प्रथम श्लोक में रूपक और शेष दो श्लोकों में श्लेष ने चार चाँद लगा दिये हैं।

स्वयंवर-वर्णन

भारतीय सामाजिक व्यवस्था में विवाह को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। स्त्री और पुरुष का सम्बन्ध प्रकृतिसमर्थित है क्योंकि उसके बिना सन्तान की उत्पत्ति असम्भव है। मनुष्य ने वैवाहिक बन्धन के द्वारा उस सम्बन्ध को नियन्त्रित किया है। यह नियन्त्रण पशुयोनि में नहीं है। स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध अनियन्त्रित होने के कारण ही पशुयोनि में कौटुम्बिक व्यवस्था नहीं है। इसके विपरीत मनुष्य-योनि में स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध नियन्त्रित है इसलिए उसमें कौटुम्बिक व्यवस्था है।

भारतीय साहित्य में विवाह के अनेक भेद मिलते हैं पर उनमें चार प्रमुख हैं— १. आर्ष विवाह, २. स्वयंवर विवाह, ३. असुर विवाह और ४. गन्धर्व विवाह। आर्ष विवाह माता-पिता आदि संरक्षक जनों तथा समाज की सम्मति-पूर्वक होता है। स्वयंवर विवाह में कन्या स्वयं ही वर को पसन्द करती है उसकी सम्मति-पूर्वक ही यह विवाह होता है। असुर विवाह माता-पिता आदि की असहमति होने के कारण अपहरण पूर्वक होता है और गन्धर्व विवाह वर-कन्या के अनुराग पूर्वक स्वतः होता है। इन चार प्रकार के विवाहों में निरापद विवाह आर्ष विवाह ही है क्योंकि स्वयंवर विवाह की व्यवस्था प्रथम तो सर्वसाधारण के द्वारा शक्य नहीं है और किसी तरह शक्य होती भी है तो वह स्वयंवर के अनन्तर संघर्ष का कारण होता देखा गया है। असुर विवाह एक प्रकार की आक्रान्ति है जिसकी स्वीकृति मनुष्य को विवशता की स्थिति में ही करनी पड़ती है, स्वेच्छा से नहीं। गन्धर्व विवाह में यद्यपि वर-कन्या की स्वीकृति होती है परन्तु उसके परिणाम भयंकर भी हो सकते हैं। अभिज्ञान-शाकुन्तल में यद्यपि कालिदास ने दुष्यन्त तथा शकुन्तला के गन्धर्व विवाह का वर्णन किया है तथापि उसका भयंकर परिणाम भी उसी में प्रकट कर दिया है। दुर्वासा के शाप का सन्दर्भ लाकर यद्यपि उसकी भयंकरता को कवि ने कम करने का प्रयास किया है तथापि जनमानस उस ओर से निःशंक नहीं होता। आज भी गन्धर्व विवाह के ऐसे अनेकों दृष्टान्त देखे जाते हैं जिनमें वर का प्रेम स्थायी न रहकर मात्र क्षणस्थायी ही रहता है। कन्याओं को अपनी भूल का प्रायश्चित्त जीवन-भर भोगना पड़ता है और वर अपनी विषय-पिपासा को शान्त कर अलग हो जाता है।

स्वयंवर विवाह का भी इतिहास है। भारतवर्ष में सर्वप्रथम स्वयंवर का आयोजन वाराणसी के राजा अकम्पन ने अपनी पुत्री सुलोचना के लिए किया था। इस स्वयंवर का सुन्दर वर्णन दाक्षिणात्य कवि हस्तिमल्ल ने अपने 'विक्रान्त-कौरव'[1] नाटक में किया

---

१. चौखम्भा संस्कृत सीरिज वाराणसी से, पन्नालाल साहित्याचार्य द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित।

है। उसमें सुलोचना ने वरमाला, हस्तिनापुर (मेरठ) के राजा सोमप्रभ के पुत्र जयकुमार के गले में डाली थी। स्वयंवर के अनन्तर उपस्थित राजाओं में संघर्ष हुआ। प्रतिपक्षी राजाओं में प्रमुख भरत चक्रवर्ती का पुत्र अर्ककीर्ति था। युद्ध में विजय जयकुमार ने प्राप्त की। यह घटना जैनधर्म के प्रथम तीर्थंकर भगवान् वृषभदेव के समय की है जिसे आज जैन-काल-गणना के अनुसार असंख्य वर्ष हो चुके हैं। यह स्वयंवर किसी प्रमुख बात को लेकर अथवा उसके बिना ही सम्पन्न हुआ करते थे। जैसे धर्मनाथ का यह स्वयंवर किसी प्रमुख उद्देश्य के बिना सम्पन्न हुआ है और जीवन्धरचम्पू में गन्धर्वदत्ता का स्वयंवर वीणावादन तथा लक्ष्मणा का स्वयंवर चक्रवेध को लक्ष्य कर हुआ है। हस्तिमल्ल ने स्वयंवर-पद्धति की उपयोगिता बतलाने के लिए प्रतीहार के मुख से निम्नांकित भाव प्रकट करवाया है—

पिता वा माता वा भवतु स वरस्तात्कुमेधा
कुमारी तच्छन्दं निभृतमवगच्छेदिति तु यत्।
तदप्येषा वृत्तिर्लघयति यदस्या रमयितु-
र्गुणं वा दोषं वा स्वरुचिमनुचक्षुर्विमृशति ॥३६॥

—विक्रान्तकौरव, अंक ३, पृ. १०२-१०३

तात्पर्य यह है कि स्वयंवर की विधि कन्यादान की अन्य सब विधियों को तिरस्कृत कर देती है क्योंकि इसमें वर और वधू के नेत्र अपनी रुचि के अनुसार एक दूसरे के गुण और दोष का विचार स्वयं कर लेते हैं।

स्वयंवर के अनन्तर होनेवाले युद्ध के प्रारम्भ में भी हस्तिमल्ल ने प्रतीहार के मुख से स्वयंवर-विधि का प्रयोजन तथा राजाओं के संघर्ष की निष्प्रयोजनता का इस प्रकार वर्णन किया है—

भूयांसः क्षितिपात्मजा वरयितुं वाञ्छन्ति वत्सामिमां
सर्वस्याभिमतः स्वयंवरविधिस्तद्वाढमत्रोचितः।
इत्यस्मत्प्रभुणा प्रवर्तितमभूद् यत्कर्म निर्मत्सरं
जातं प्रत्युत वैरकारणमिदं तेषां मुधा द्वेषिणाम् ॥१॥

—विक्रान्तकौरव, चतुर्थ अंक

इस बच्ची को बहुत राजकुमार वरना चाहते हैं इसलिए इस स्थिति में स्वयंवर-विधि सबके लिए इष्ट तथा उचित होगी यह विचारकर हमारे स्वामी ने ईर्ष्यारहित जो कार्य प्रारम्भ किया था वह हर्ष का कारण तो दूर रहा किन्तु व्यर्थ ही द्वेष करनेवाले उन सबके वैर का कारण हो गया।

धर्मनाथ, जैनधर्म के पन्द्रहवें तीर्थंकर थे। कविवर हरिचन्द्र ने उनका विवाह भी स्वयंवर-विधि से ही सम्पन्न कराया है। कन्या शृंगारवती विदर्भ देश के राजा की पुत्री थी। पिता की आज्ञापूर्वक युवराज धर्मनाथ उस स्वयंवर में सम्मिलित होने के लिए गये थे। जान पड़ता है कवि ने अपनी काव्य-प्रतिभा को साकार रूप देने के लिए ही

धर्मनाथ की इस स्वयंवर-यात्रा का अवतरण किया है। जिस प्रकार माघ ने, युधिष्ठिर महाराज के यज्ञ में भेजने के लिए श्रीकृष्ण की यात्रा का प्रसंग उपस्थित किया है और उस बीच में अपनी काव्य-प्रतिभा को साकार किया है उसी प्रकार हरिचन्द्र ने भी यह प्रसंग प्रस्तुत किया है और उस प्रसंग में क्रम से वसन्तादिक ऋतुओं का सरस वर्णन किया है। युवराज धर्मनाथ की इस स्वयंवर-यात्रा का वर्णन धर्मशर्माभ्युदय के नवम सर्ग से शुरू होकर षोडश सर्ग तक गया है। सप्तदश सर्ग में स्वयंवर का वर्णन है।

ऐसा लगता है कि स्वयंवर-वर्णन की यह प्रेरणा कवि को कालिदास के इन्दुमती स्वयंवर वर्णन से प्राप्त हुई है। इसकी सम्पुष्टि के लिए 'आदान-प्रदान' शीर्षक स्तम्भ में कुछ रघुवंश और धर्मशर्माभ्युदय के तुलनात्मक अवतरण दिये गये हैं।

समलंकृत स्वयंवर-मण्डप में युवराज धर्मनाथ के प्रवेश करते ही अन्य राजाओं के मुख श्याम पड़ गये। उनकी सुन्दरता का वर्णन करते हुए कवि ने कहा है—

> अयं स कामो नियतं भ्रमेण कमप्यधाक्षीद् गिरिशस्तदानीम्।
> इत्यद्भुतं रूपमवेक्ष्य जैनं जनाधिनाथाः प्रतिपेदिरे ते ॥६॥ सर्ग १७

उस समय जिनेन्द्र-धर्मनाथ का अद्भुत रूप देखकर उन राजाओं ने समझा था कि सचमुच का कामदेव तो यही है उस समय महादेव ने भ्रम से किसी दूसरे को जलाया था।

[1]वाद्यों की मधुर ध्वनि के बीच हस्तिनी पर सवार होकर शृंगारवती ने स्वयंवर मण्डप में ऐसा प्रवेश किया जैसा कि श्यामल घन-घटा पर कौंदती हुई बिजली आकाश में प्रवेश करती है।

प्रवेश करते ही राजकुमारी शृंगारवती ने राजाओं के मन में स्थान प्राप्त कर लिया इसका वर्णन कवि की सालंकार वाणी में देखिए—

> पयोधरश्रीसमये प्रसर्पद्धारावलीशालिनि संप्रवृत्ते।
> सा राजहंसीव विशुद्धपक्षा महीभृतां मानसमाविवेश ॥१६॥

हिलते हुए हारों के समूह से सुशोभित (पक्ष में, चलती हुई धाराओं से सुशोभित) स्तनों की शोभा का समय—तारुण्य काल (पक्ष में, वर्षा ऋतु) प्रवृत्त होने पर विशुद्ध पक्षवाली (पक्ष में, श्वेत पंखोंवाली वह राजहंसी-श्रेष्ठ राजकुमारी (पक्ष में, हंसी) राजाओं के मनरूपी मानस सरोवर में प्रविष्ट हो गयी थी।

इस सन्दर्भ में राजाओं की विविध चेष्टाओं का वर्णन करते हुए कवि ने अपनी प्रतिभा का अच्छा परिचय दिया है। कोई एक राजा लीलापूर्वक अपना हार घुमा रहा था, इसका वर्णन देखिए—

> कश्चित्करारभ्यां नखरागरक्तं सलीलमावर्तयति स्म हारम्।
> स्मरास्त्रभिन्ने हृदयेऽस्त्रधाराभ्रमं जनानां जनयन्नमुच्चैः ॥२०॥

---

1. धर्मशर्माभ्युदय, सर्ग १७, श्लोक ११।

कोई राजा अपने हाथों के द्वारा, नखों की लालिमा से रक्तवर्ण, अतएव कामदेव के शस्त्रों से भिन्न हृदय में लोगों को रुधिरधारा का भारी भ्रम उत्पन्न करनेवाले हार को लीला पूर्वक घुमा रहा था।

प्रतीहारी पद पर नियुक्त सुभद्रा, शृंगारवती को मंचों पर समासीन मालव, मगध, अंग, बंग, कलिंग तथा दाक्षिणात्य देशों में कर्णाट, लाट, द्रविड़ और आन्ध्र आदि देशों के राजाओं के समीप ले गयी। अपनी जानकारी के अनुसार उसने उन राजाओं की गुणावली का वर्णन किया परन्तु शृंगारवती का मन किसी पर अनुरक्त नहीं हुआ। अन्त में जिस प्रकार कोई महानदी अनेक देशों को छोड़ती हुई रत्नाकर के समीप पहुँचती है उसी प्रकार वह अनेक राजाओं को छोड़ती हुई धर्मनाथ के पास पहुँची। सुभद्रा प्रतिहारी ने उनकी स्थिर लक्ष्मी और भ्रमण-शील कीर्ति का वर्णन करते हुए कहा—

वक्षःस्थलात्प्राज्यगुणानुरक्ता मुक्तं न लोलापि चचाल लक्ष्मीः।
बद्धा प्रबन्धैरपि कीर्तिरस्य बभ्राम यद्भूमितयेऽद्भुतं तत् ॥७५॥

लक्ष्मी यद्यपि चंचल है तथापि प्रकृष्ट गुणों में अनुरक्त होने के कारण इनके वक्षःस्थल से विचलित नहीं हुई यह उचित ही है परन्तु कीर्ति बड़े-बड़े प्रबन्धों के द्वारा बद्ध होने पर भी तीनों लोकों में घूम रही है यह आश्चर्य की बात है।

शृंगारवती के चित्त को धर्मनाथ में अनुरक्त देख, सहेली जब हँसती हुई, हस्तिनी को आगे बढ़वाने लगी तब उसने सखी का अंचल खींच दिया। सात्त्विक भाव के कारण काँपते हुए हाथों से उसने धर्मनाथ के गले में वरमाला डाल दी।

स्वयंवर-विधि के समाप्त होने पर ही बृहत् समारोह के साथ धर्मनाथ ने विदर्भ-राज के घर की ओर प्रस्थान किया। इस संदर्भ में कवि ने दर्शनोत्सुक नारियों के कुतूहल का जो वर्णन किया है उसने पूर्ववर्ती कवियों के इस वर्णन को निष्प्रभ कर दिया है।

निर्निमेष खड़ी एक गौरांगी का चित्र देखिए कितना सुन्दर खींचा गया है—
उच्चद्भुजालम्बितनासिकाया स्थिता गवाक्षे विगलन्निमेषा।
गौरी क्षणं दर्शितनाभिचक्रा चक्रे भ्रमं काचन पुत्रिकायाः ॥१७।९८॥

जिसने उठायी हुई भुजा से ऊपर का काठ छू रखा है, जो झरोखे में खड़ी है, जिसके पलकों का गिरना दूर हो गया है तथा जिसका नाभिमण्डल दिख रहा है ऐसी कोई गौरांगी स्त्री क्षणभर के लिए पुतली का भ्रम उत्पन्न कर रही थी।

स्त्रियों के बीच शृंगारवती के सौभाग्य और धर्मनाथ के सौन्दर्य की चर्चा देखिए, कितना प्रांजल है?

शृङ्गारवत्याश्चिरसंचितानां रेखामतिक्रामति का शुभानाम्।
लब्धो यया नूनमसावगम्यो मनोरथानामपि जीवितेशः ॥१७।१०१॥

उस शृंगारवती के चिरसंचित पुण्य कर्म की रेखा को कौन स्त्री लाँघ सकती है ? जिसने कि निश्चित ही यह मनोरथों का अगम्य प्राणपति प्राप्त किया है ।

किमेणकेतुः किमसावनङ्गः कृष्णोऽथवा किं किमसौ कुबेरः ।

लोकेऽथवामी विकलाङ्गशोभाः कोऽप्यन्य एवैष विशेषितश्रीः ।।१७।१०२।।

क्या यह चन्द्रमा है ? क्या यह कामदेव है ? क्या यह कृष्ण है ? और क्या यह कुबेर है ? अथवा संसार में ये सभी शरीर की शोभा से विकल हैं—चन्द्रमा कलंकी है, काम अशरीर है, कृष्ण कृष्ण-वर्ण है और कुबेर लम्बोदर है अतः विशिष्ट शोभा को धारण करने वाला यह कोई अन्य ही विलक्षण पुरुष है ।

श्वसुर के भवनांगण में विवाह-दीक्षा महोत्सव के अनन्तर वे शृंगारवती के साथ सुवर्ण-सिंहासन को अलंकृत कर रहे थे उसी समय रत्नपुर से पिता के द्वारा भेजा हुआ एक दूत इस आशय का पत्र लेकर आया कि आपको पिता ने अविलम्ब बुलाया है । पिता की आज्ञा को शिरोधार्य करके कुबेरनिर्मित व्योमयान से शृंगारवती के साथ आरूढ़ हो रत्नपुर जा पहुँचे । पिता ने नवविवाहित पुत्र और पुत्रवधू का समभिनन्दन किया ।

यहाँ ऐसा जान पड़ता है कि कवि ने तीर्थंकर धर्मनाथ को युद्ध के प्रसंग से अछूता रखने के लिए ही सीधा रत्नपुर भेजा है और युद्ध का दायित्व सुषेण सेनापति पर निर्भर किया है ।

धर्मशर्माभ्युदय में चन्द्रग्रहण और जरा का अद्भुत वर्णन

जैन और बौद्ध-ग्रन्थों में कथा-नायक के पूर्वभवों का वर्णन भी विस्तार से मिलता है । धर्मशर्माभ्युदय में कथानायक भगवान् धर्मनाथ के पूर्वभवों का वर्णन करते हुए महाकवि हरिचन्द्र ने अवधिज्ञानी—भूतभविष्यत् के ज्ञाता प्रचेतस् मुनि के मुख से प्रकट किया है कि धर्मनाथ, वर्तमान भव से पूर्व तीसरे भव में विदेह क्षेत्र के अन्तर्गत वत्सदेश की सुसीमा नगरी में राजा दशरथ थे । एक बार राजा दशरथ पूर्णिमा की रात्रि में रुपहली चाँदनी से सुशोभित सुसीमा नगरी की शोभा देखने के लिए राजभवन की छत पर बैठे हुए थे । चाँदनी में डूबी हुई सुसीमा नगरी को देखकर उनका मन अत्यन्त प्रसन्न हो रहा था ।

थोड़ी देर बाद उन्होंने देखा कि चन्द्रग्रहण हो रहा है । चन्द्रग्रहण को देख उनका मन संसार के समस्त पदार्थों से विरक्त हो गया है । विरक्त होकर उन्होंने विमलवाहन नामक गुरु के पास दीक्षित हो घोर तपश्चरण किया और उसके फलस्वरूप सर्वार्थसिद्धि नामक विमान में अहमिन्द्र हुए । वहाँ से आकर राजा महासेन की सुव्रता रानी के गर्भ में अवतीर्ण हुए ।

इस पूर्वभव-वर्णन के प्रसंग में कवि ने चन्द्रग्रहण का वर्णन, देखिए, कितनी उत्प्रेक्षाओं से समलंकृत किया—

अथैकदा व्योम्नि निरभ्रगर्भे क्षणं क्षपायां क्षणदाधिनाथम् ।
अनाथनारीव्यथनैनसेव स राहुणा प्रैक्षत गृह्यमाणम् ॥४१॥
किं सीधुना स्फाटिकपानपात्रमिदं रजन्याः परिपूर्यमाणम् ।
चलद्द्विरेफोच्चयचुम्ब्यमानमाकाशगङ्गास्फुटकैरवं वा ॥४२॥
ऐरावणस्याथ करात्कथंचित्च्युतः सपङ्को बिसकन्द एषः ।
किं व्योम्नि नीलोपमदर्पणाभे सश्मश्रु वक्त्रं प्रतिबिम्बितं मे ॥४३॥
क्षणं वितर्क्येति स निश्चिकाय चन्द्रोपरागोऽयमिति क्षितीशः ।
दृङ्मीलनाविष्कृतचित्तखेदमचिन्तयच्चैवमुदारचेताः ॥४४॥—(सर्ग ४)

तदनन्तर उसने एक दिन पूर्णिमा की रात्रि को जबकि आकाश मेघरहित होने से बिलकुल साफ़ था, पतिहीन स्त्रियों को कष्ट पहुँचाने के पाप से ही मानो राहु के द्वारा ग्रसे जानेवाले चन्द्रमा को देखा ।

उसे देखकर राजा के मन में निम्न प्रकार वितर्क हुए—क्या यह मदिरा से भरा जानेवाला रात्रि का स्फटिकमणिनिर्मित कटोरा है ? या चंचल भौंरों के समूह से चुम्बित आकाशगंगा का खिला हुआ सफ़ेद कमल है ? या ऐरावत हाथी के हाथ से किसी तरह छूटकर गिरा हुआ पंकयुक्त मृणाल का कन्द है ? या नीलमणिमय दर्पण की आभा से युक्त आकाश में मूँछ सहित मेरा मुख ही प्रतिबिम्बित हो रहा है ? इस प्रकार क्षण भर विचार कर उदार-हृदय उन्होंने निश्चय कर लिया कि यह चन्द्रग्रहण है और निश्चय के बाद ही नेत्र बन्द कर मन का खेद प्रकट करता हुआ वह इस प्रकार विचार करने लगा ।

इसी विचार की सन्तति में उन्होंने निश्चय किया कि जब तक यमराज की दूती के समान वृद्धावस्था नहीं आ पहुँचती है तब तक मुझे आत्मकल्याण कर लेना चाहिए ।

कवि ने वृद्धावस्था के वर्णन में कितनी विभुता दिखलायी है यह देखिए—

अन्याङ्गनासङ्गमलालसानां जरा कृतेर्ष्येव कुतोऽप्युपेत्य ।
आकृष्य केशेषु करिष्यते नः पदप्रहारैरिव दन्तभङ्गम् ॥५५॥
कान्ते तवाङ्गे वलिभिः समन्तादवस्थत्यनङ्गः किमसाविलीव ।
वृद्धस्य कर्णान्तिकगता जरेयं हसत्युदञ्चत्पलितच्छलेन ॥५६॥
रसाढ्यमप्याशु विकासिकाशसंकाशकेशप्रसरं तरुण्यः ।
उदस्थिमातङ्गजनोदपानपानीयवन्नाम नरं त्यजन्ति ॥५७॥
आकर्णपूर्णं कुटिलालकोर्मि रराज लावण्यसरो यदङ्गे ।
वलिच्छलात्सारणिधोरणीभिः प्रवाह्यते तज्जरसा नरस्य ॥५८॥
असंभृतं मण्डनमङ्गयष्टेर्नष्टं क्व मे यौवनरत्नमेतत् ।
इतीव वृद्धो नतपूर्वकायः पश्यन्नधोऽधो भुवि बम्भ्रमीति ॥५९॥
इत्थं पुरः प्रेक्ष्य जरामभूष्यां दूतीमिवापत्प्रसरोग्रदंष्ट्रः ।
यावन्न कालो ग्रसते बलान्मां तावद्विधेये परमार्थसिद्धयै ॥६०॥—सर्ग ४

वह ईर्ष्यालु जरा कहीं से आकर अन्य स्त्रियों के साथ समागम की लालसा रखनेवाले हम लोगों के बाल खींच कुछ ही समय बाद पैर की ऐसी ठोकर देगी कि जिससे सब दाँत झड़ जायेंगे। अरे, तुम्हारा शरीर तो बड़े-बड़े बलवानों से (पक्ष में, बुढ़ापा के कारण पड़ी हुई त्वचा की झुर्रियों से) घिरा हुआ था फिर यह अकस्मात् क्यों नष्ट हो गया—कैसे भाग गया ? इस प्रकार यह जरा—वृद्धमानवों के कानों के पास जाकर उठती हुई सफ़ेदी के बहाने मानो उनकी हँसी ही करती है। भले ही वह मनुष्य शृंगारादि रसों से परिपूर्ण हो (पक्ष में, जल से भरा हो) पर जिसके बालों का समूह खिले हुए काश के फूलों के समान सफ़ेद हो चुका है उसे युवती—स्त्रियाँ हड्डियों से भरे हुए चाण्डाल के कुएँ के पानी की तरह दूर से ही छोड़ देती है। मनुष्य के शरीर में कुटिल केशरूपी लहरों से युक्त जो यह सौन्दर्यरूपी सरोवर लबालब भरा होता है उसे बुढ़ापा झुर्रियों के बहाने मानो नहरें खोलकर ही बहा देता है। जो बिना पहने ही शरीर को अलंकृत करने वाला आभूषण था वह मेरा यौवनरूपी रत्न कहाँ गिर गया ? मानो उसे खोजने के लिए ही वृद्ध मनुष्य अपना पूर्वभाग झुकाकर नीचे-नीचे देखता हुआ पृथ्वी पर इधर-उधर चलता है। इस प्रकार जरारूपी चतुर दूती को आगे भेजकर आपदाओं के समूहरूप पैनी-पैनी डाढ़ों को धारण करनेवाला यमराज जबतक हठात् मुझे नहीं ग्रसता है तबतक मैं परमार्थ की सिद्धि के लिए प्रयत्न करता हूँ।

सज्जन-प्रशंसा और दुर्जन-निन्दा

'क्वचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुणकीर्तनम्' इस उक्ति के अनुसार महाकाव्य के प्रारम्भ में कहीं दुर्जनों की निन्दा और सज्जनों की प्रशंसा की जाती है। बाणभट्ट ने कादम्बरी की पीठिका में ५, ६ और ७वें श्लोक के द्वारा तथा वादीभसिंह ने गद्य-चिन्तामणि में ७ और ८वें श्लोक के द्वारा खल-निन्दा और साधु-प्रशंसा की है। धर्म-शर्माभ्युदय का यह प्रकरण अन्य काव्यों की अपेक्षा विस्तृत और भावपूर्ण भाषा में लिखा गया है। यहाँ यह वर्णन प्रथम सर्ग के १८ से ३१ तक तेरह श्लोकों में पूर्ण हुआ है। यथा—

परस्य तुच्छेऽपि परोऽनुरागो महत्यपि स्वस्य गुणे न तोषः।
एवंविधो यस्य मनोविवेकः किं प्रार्थ्यते सोऽत्र हिताय साधुः ॥१८॥

दूसरे के छोटे से छोटे गुण में भी बड़ा अनुराग और अपने बड़े से बड़े गुण में भी असन्तोष, जिसके मन का ऐसा विवेक है उस साधु से हित के लिए क्या प्रार्थना की जाये ? वह तो प्रार्थना के बिना ही हित में प्रवृत्त है।

साधोर्विनिर्माणविधौ विधातुश्च्युताः कथंचित्परमाणवो ये।
मन्ये कृतास्तैरुपकारिणोऽन्ये पाथोदचन्द्रद्रुमचन्दनाद्याः ॥१९॥

सज्जन पुरुषों की रचना करते समय ब्रह्माजी के हाथ से किसी प्रकार जो

परमाणु नीचे गिर गये थे, मैं मानता हूँ कि मेघ, चन्द्रमा, वृक्ष तथा चन्दन आदि अन्य उपकारी पदार्थों की रचना उन्हीं परमाणुओं से हुई थी।

निसर्गशुद्धस्य सतो न कश्चिच्चेतोविकाराय भवत्युपाधिः।
त्यक्तस्वभावोऽपि विवर्णयोगात् कथं तदस्य स्फटिकोऽस्तु तुल्यः ॥२१॥

सज्जन पुरुष स्वभाव से ही निर्मल होता है अतः कोई भी बाह्य पदार्थ उसके चित्त में विकार उत्पन्न करने के लिए समर्थ नहीं है। परन्तु स्फटिक विभिन्न वर्णवाले पदार्थों के संसर्ग से अपने स्वभाव को छोड़कर अन्य-रूप हो जाता है अतः वह सज्जन के तुल्य कैसे हो सकता है।

दोषानुरक्तस्य खलस्य कस्याप्युलूकपोतस्य च को विशेषः।
अह्नीव सत्कान्तिमति प्रबन्धे मलीमसं केवलमीक्षते यः ॥२३॥

दोषों में अनुरक्त दुर्जन और दोषा—रात्रि में अनुरक्त किसी उल्लू के बच्चे में क्या विशेषता है? क्योंकि जिस प्रकार उल्लू का बच्चा उत्तम कान्ति से युक्त दिन में केवल काला-काला अन्धकार देखता है उसी प्रकार दुर्जन, उत्तम कान्ति आदि गुणों से युक्त काव्य में भी केवल दोष ही देखता है।

अहो खलस्यापि महोपयोगः स्नेहद्रुहो यत्परिशीलनेन।
आकर्णमापूरितपात्रमेताः क्षीरं क्षरन्त्यक्षत एव गावः ॥२६॥

बड़े आश्चर्य की बात है कि स्नेहहीन खल—दुर्जन का भी बड़ा उपयोग होता है क्योंकि उसके संसर्ग से यह रचनाएँ बिना किसी तोड़ के पूर्ण आनन्द प्रदान करती हैं (अप्रकृत अर्थ) कैसा आश्चर्य है कि तैल रहित खली का भी बड़ा उपयोग होता है क्योंकि उसके सेवन से यह गायें बिना किसी आघात के बरतन भर-भरकर दूध देती हैं।

आः कोमलालापपरेऽपि मा गाः प्रमादमन्तःकठिने खलेऽस्मिन्।
सेवालशालिन्युपले छलेन पातो भवेत्केवलदुःखहेतुः ॥२७॥

अरे! मैं क्या कह गया? दुर्जन भले ही मधुर भाषण करता हो पर उसका अन्तरंग कठिन ही रहता है, अतः उसके विषय में प्रमाद नहीं करना चाहिए, क्योंकि सेवाल से सुशोभित पत्थर के ऊपर धोखे से गिर जाना केवल दुख का ही कारण होता है।

सज्जन और दुर्जन के संगम की उपयोगिता बताते हुए देखिए, कितनी मनोरम उक्ति है?

वृत्तिर्मरुद्वीपवतीव साधोः खलस्य वैवस्वतसोदरीव।
तयोः प्रयोगे कृतमज्जनो वः प्रबन्धबन्धुर्लभतां विशुद्धिम् ॥३१॥

यतश्च सज्जन मनुष्य का व्यवहार गंगा नदी के समान धवल है और दुर्जन का यमुना के समान काला, अतः उन दोनों के संगमरूप—प्रयाग क्षेत्र में अवगाहन करनेवाला हमारा काव्यरूपी बन्धु विशुद्धि को प्राप्त हो (जिस प्रकार प्रयाग में गंगा और यमुना

के संगम में गोता लगाकर मनुष्य शुद्ध हो जाता है उसी प्रकार सज्जन और दुर्जन की प्रशंसा तथा निन्दा के बीच पड़कर हमारा काव्य विशुद्ध—निर्दोष हो जाये ।)

दुर्जन के अनेक नामों में एक 'कृष्णमुख' भी नाम प्रचलित है । उसका कृष्णमुख नाम क्यों पड़ा, इसमें कवि की सुन्दर युक्ति देखिए—

आदाय शब्दार्थमलीमसानि यद्दुर्जनोऽसौ वदने दधाति ।
तेनैव तस्याननमेव कृष्णं सतां प्रबन्धः पुनरुज्ज्वलोऽभूत् ॥२८॥

यतश्च दुर्जन मनुष्य शब्द और अर्थ के दोषों को ले-लेकर अपने मुख में रखता जाता है—मुख द्वारा उच्चारण करता है अतः उसका मुख काला होता है और दोष निकल जाने से सज्जनों की रचना उज्ज्वल—निर्दोष हो जाती है ।

इसी सन्दर्भ में चन्द्रप्रभचरित का यह श्लोक भी बड़ा सुन्दर प्रतीत होता है—

गुणानगृह्णन् सुजनो न निर्वृतिं प्रयाति दोषानवदन्न दुर्जनः ।
चिरन्तनाभ्यासनिबन्धनेरिता गुणेषु दोषेषु च जायते मतिः ॥७॥

गुणों को ग्रहण किये बिना सज्जन और दोषों को कहे बिना दुर्जन सन्तोष को प्राप्त नहीं होता क्योंकि बुद्धि, चिरन्तन अभ्यासरूपी कारण से प्रेरित होकर ही गुणों और दोषों में प्रवृत्त होती है ।

महाकवि अर्हद्दास के मुनिसुव्रत काव्य का निम्न श्लोक भी द्रष्टव्य है—

सन्तःस्वभावाद् गुणरत्नमन्वे गृह्णन्ति दोषोपलमात्मकीयम् ।
यथा पयोऽस्रं शिशवो जलौका जनो वृथा रज्यति कुप्यतीह ॥८॥—सर्ग १

गद्यचिन्तामणि में वादीभसिंह का भी एक श्लोक देखिए—

दयस्तानुवर्तनतिरस्करणी प्रजानां श्रेयः परं च कुरुतोऽमृतकालकूटौ ।
तद्वत्सदन्यमनुजावपि हि प्रकृत्या तस्मादपेक्ष्य किमुपेक्ष्य किमन्यथेति ॥८१॥

कादम्बरी में बाणभट्ट का भी एक पद्य देखिए—

कटु क्वणन्तो मलदायकाः खलास्तुदन्त्यलं बन्धनशृङ्खला इव ।
मनस्तु साधुध्वनिभिः पदे पदे हरन्ति सन्तो मणिनूपुरा इव ॥६॥

कटु शब्द बोलते हुए, दोष देनेवाले दुर्जन बन्धन की साँकल के समान अत्यन्त दुःख देते हैं जबकि सज्जन पुरुष मणिमय नूपुरों के समान उत्तम शब्दों के द्वारा पद-पद पर मन को हरण करते हैं ।

कालिदास, भारवि, माघ तथा श्रीहर्ष आदि कवियों ने अपने काव्यों में इस सन्दर्भ की चर्चा नहीं की है इसलिए क्वचित् शब्द के द्वारा इसकी प्रायोवादता प्रदर्शित की गयी है ।

पुत्राभाव-वेदना

गृहस्थ दम्पति के हृदय में पुत्र की स्वाभाविक स्पृहा रहा करती है । क्योंकि उसके बिना उसका गार्हस्थ्य अपूर्ण रहता है । रघुवंश में कालिदास ने राजा दिलीप के

पुत्राभाव-सम्बन्धी दुख का वर्णन किया है। बाणभट्ट ने कादम्बरी में इसका विस्तृत और मार्मिक उल्लेख किया है। श्रीचन्द्रप्रभ चरित में महाकवि वीरनन्दी ने भी इसकी चर्चा की है पर धर्मशर्माभ्युदय के द्वितीय सर्ग के अन्त में (६८-७४) महाकवि हरिचन्द्र ने सुव्रता रानी के पुत्र न होने के कारण राजा महासेन के मुख से जो दुख प्रकट किया है वह पढ़ते ही हृदय पर गहरी चोट करता है। उदाहरण के लिए कुछ श्लोक देखिए—

सहस्रशः सत्यपि गोत्रजे जने सुतं विना कस्य मनः प्रसीदति।
अपीद्धताराग्रहगर्भितं भवेदृते विधोर्ध्याममलमेव दिङ्मुखम् ॥७०॥

हजारों कुटुम्बियों के रहते हुए भी पुत्र के बिना किसका मन प्रसन्न होता है। भले ही आकाश देदीप्यमान ताराओं और ग्रहों से युक्त हो पर चन्द्रमा के बिना मलिन ही रहता है।

न चन्दनेन्दीवरहाररयष्टयो न चन्द्ररोचींषि न चामृतच्छटाः।
सुताङ्गसंस्पर्शसुखस्य निस्तुलां कलामयन्ते खलु षोडशीमपि ॥२।७१॥

पुत्र के शरीर के स्पर्श से जो सुख होता है वह सर्वथा निरुपम है, पूर्ण की बात जाने दो उसके सोलहवें भाग को भी न चन्द्रमा पा सकता है, न इन्दीवर पा सकते हैं, न मणियों का हार पा सकता है, न चन्द्रमा की किरणें पा सकती हैं, और न अमृत की छटा ही पा सकती है।

नभो दिनेशेन नयेन विक्रमो वनं मृगेन्द्रेण निशीथमिन्दुना।
प्रतापलक्ष्मीबलकान्तिशालिना विना न पुत्रेण च भाति नः कुलम् ॥२।७३॥

जिस प्रकार सूर्य के बिना आकाश, नय के बिना पराक्रम, सिंह के बिना वन और चन्द्रमा के बिना रात्रि की शोभा नहीं उसी प्रकार प्रताप, लक्ष्मी, बल और कान्ति से शोभायमान पुत्र के बिना हमारा कुल सुशोभित नहीं होता।

क्व यामि तत्किं नु करोमि दुष्करं सुरेश्वरं वा कमुपैमि कामदम्।
इतीष्टचिन्ताचयचक्रचालितं क्वचिन्न चेतोऽस्य बभूव निश्चलम् ॥२।७४॥

कहाँ जाऊँ? कौन-सा कठिन कार्य करूँ? अथवा मनोरथ को पूर्ण करनेवाले किस देवेन्द्र की शरण गहूँ?....इस प्रकार इष्टपदार्थविषयक चिन्ता समूहरूपी चक्र से चलाया हुआ राजा का मन किसी भी जगह निश्चल नहीं हो रहा था।

इस प्रकार धर्मशर्माभ्युदय का पुत्राभाव वर्णन यद्यपि संक्षिप्त है तथापि मार्मिक है। एक बात अवश्य है, मनोविज्ञान की दृष्टि से पुत्र के अभाव में माता का हृदय जितना तड़पता है उतना पिता का नहीं इसलिए यह वेदना माता के मुख से प्रकट की जाने पर अधिक मार्मिक दिखती है जैसा कि चन्द्रप्रभचरित में उसके कर्ता वीरनन्दी ने श्रीकान्ता रानी के मुख से इस पीड़ा का वर्णन किया है। उस प्रसंग के एक-दो श्लोक देखिए—

चन्द्रोज्झिता रविरलंकुरुते घनानां
वीथीं सरोजनिकरः सरसीमहंसाम्।

पुत्रं विहाय निजसन्ततिबीजमन्यो

न त्वस्ति मण्डनविधिः कुलपुत्रिकाणाम् ॥३।३३॥

तेनोज्झितां निजकुलैकविभूषणेन

सौभाग्य-सौख्य-विभवस्थिरकारणेन।

मां शक्नुवन्ति परितर्पयितुं विपुण्यां

न ज्ञातयो न सुहृदो न पतिप्रसादाः ॥३।३४॥

चन्द्रमा के द्वारा छोड़ी हुई घनवीथी—आकाश को सूर्य अलंकृत करने लगता है और हंस से रहित सरसी को कमलसमूह सुशोभित करने लगता है परन्तु निजसन्तति के बीजरूप पुत्र को छोड़कर कुलांगनाओं का दूसरा आभूषण नहीं है।

निज कुल के एक—अद्वितीय आभूषण, तथा सौभाग्य सुख और विभव के स्थिरकारणस्वरूप पुत्र से रहित मुझ अभागिनी को सन्तुष्ट करने के लिए न जाति के लोग, न मित्रगण और न पति के प्रसाद ही समर्थ हैं।

कादम्बरी में इस दुःख का विस्तार यद्यपि राजा के मुख से हुआ है तथापि उसका प्रारम्भ रानी के द्वारा ही किया गया है। रघुवंश तथा धर्मशर्माभ्युदय में पुरुष-मुख से इसका वर्णन किया गया है।

स्वप्नदर्शन

तीर्थंकर की माता, तीर्थंकर पुत्र के गर्भावतार के पूर्व निम्नलिखित १६ स्वप्न देखती है—

१. ऐरावत हाथी, २. बैल, ३. सिंह, ४. लक्ष्मी का अभिषेक, ५. मालायुगल, ६. चन्द्रमण्डल, ७. सूर्यबिम्ब ८. मीनयुगल ९. कुम्भयुग, १०. सरोवर, ११. समुद्र, १२. सिंहासन, १३. विमान, १४. नागेन्द्रभवन, १५. रत्नराशि और १६. निर्धूम अग्नि।

स्वप्न-विज्ञान में संक्षेपतः स्वप्न तीन प्रकार के बतलाये हैं—संस्कारज, दोषज और अदृष्टज। दिन-भर के संस्कारों से जो स्वप्न आते हैं उन्हें संस्कारज कहते हैं। वात, पित्त और कफ में दोष उत्पन्न होने से जो स्वप्न आते हैं उन्हें दोषज स्वप्न कहते हैं और शुभ-अशुभ फल को सूचित करनेवाले जो स्वप्न आते हैं उन्हें अदृष्टज स्वप्न कहते हैं। संस्कारज और दोषज स्वप्नों का कोई फल नहीं होता और उनके दिखने का कोई समय भी निश्चित नहीं है परन्तु अदृष्टज स्वप्न शुभ-अशुभ फल की सूचना देते हैं और ये स्वप्न रात्रि के पिछले भाग में आते हैं।

तीर्थंकर धर्मनाथ की माता सुव्रता ने भी रात्रि के पिछले प्रहर में उपर्युक्त सोलह स्वप्न देखे हैं। इन स्वप्नों का वर्णन धर्मशर्माभ्युदय के पंचम सर्ग में अलंकारपूर्ण भाषा के द्वारा किया गया है। स्वप्नदर्शन के पश्चात् सुव्रता रानी प्रभातकाल में आभूषणादि से सुसज्जित हो पति—राजा महासेन के समीप जाकर समस्त स्वप्न सुनाती है। स्वप्न-विज्ञान के विद्वान् राजा महासेन उसे स्वप्नों का फल बतलाते हुए कहते हैं—

हे देवि[1], एक तुम्हीं धन्य हो, जिसने कि ऐसा स्वप्नों का समूह देखा। हे पुण्यकन्दलि! मैं क्रम से उसका फल कहता हूँ, सुनो। तुम इस स्वप्न-समूह के द्वारा गजेन्द्र के समान दानी, वृषभ के समान धर्म का भार धारण करनेवाला, सिंह के समान पराक्रमी, लक्ष्मी के स्वरूप के समान सबके द्वारा सेवित, मालाओं के समान प्रसिद्ध कीर्तिरूप सुगन्धि का धारक, चन्द्रमा के समान नयनाह्लादकारी कान्ति से युक्त, सूर्य की तरह संसार के जगाने में निपुण, मीनयुगल के समान अत्यन्त आनन्द का धारक, कलशयुगल के समान मंगल का पात्र, निर्मल सरोवर की तरह सन्ताप को नष्ट करनेवाला, समुद्र की तरह मर्यादा का पालक, सिंहासन के समान उन्नति को दिखानेवाला, विमान की तरह देवों का आगमन करनेवाला, नागेन्द्र के भवन के समान प्रशंसनीय तीर्थ से युक्त, रत्नों की राशि के समान उत्तम गुणों से सहित और अग्नि की तरह कर्मरूप वन को जलानेवाला, त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर पुत्र प्राप्त करोगी सो ठीक ही है क्योंकि व्रत-विशेष शोभायमान जीवों का स्वप्नसमूह कहीं भी निष्फल नहीं होता।

यद्यपि यह स्वप्नदर्शन का प्रकरण तीर्थंकर-चरित्र का वर्णन करनेवाले अन्य महाकाव्यों में भी आया है तथापि धर्मशर्माभ्युदय का यह प्रकरण सबसे विलक्षण है। तीर्थंकर के गर्भकल्याणक का वर्णन करने के लिए कवि ने पूरा एक सर्ग घेरा है। स्वप्न-वर्णन में कवि ने जो अलंकारों की सरस छटा छोड़ी है वह अन्यत्र दुर्लभ है।

□

१. धर्मशर्माभ्युदय, सर्ग ५, श्लोक ८१–८६।

स्तम्भ ३ : नीति-निकुंज

धर्मशर्माभ्युदय का सुभाषितनिचय

धर्मशर्माभ्युदय अनेक सुभाषितों का भण्डार है। सुभाषित उस प्रकाश-स्तम्भ के समान माने जाते हैं जो पथभ्रान्त पथिकों को मार्ग से विचलित नहीं होने देते और विचलित हुओं को मार्गदर्शन में तत्पर रखते हैं। अर्थान्तरन्यास या अप्रस्तुत-प्रशंसा के रूप में आये हुए अनेक सुभाषित इस महाकाव्य की शोभा बढ़ा रहे हैं। उदाहरण के लिए इस स्तम्भ में कुछ सुभाषितों का संकलन किया जा रहा है। अर्थ स्पष्ट है अतः मूल का संकलन किया गया है—

उच्चासनस्थोऽपि सतां न किंचिन्नीचः स चित्तेषु चमत्करोति।
स्वर्णाद्रिशृङ्गाग्रमधिष्ठितोऽपि काको वराकः खलु काक एव ॥१।३०॥

न चन्दनेन्दीवरहारयष्टयो न चन्द्ररोचींषि न चामृतच्छटाः।
सुताङ्गसंस्पर्शसुखस्य निस्तुलां कलामयन्ते खलु षोडशीमपि ॥२।७१॥

'न परं विनयः श्रीणामाश्रयः श्रेयसामपि' ॥३।४६॥

'नेत्राम्बुजं क्वचित्तेजस्तमसा नाभिभूयते' ॥३।६२॥

'न ह्युद्यास्य माहात्म्यं लङ्घयन्तीतरे स्वराः' ॥३।६५॥

'कथा कथंचित्कथिता श्रुता वा जैनी यतश्चिन्तितकामधेनुः' ॥४।२॥

'यद्वा किमुल्लङ्घयितुं कथंचित्केनापि शक्यो नियतेर्नियोगः ॥४।४५॥

'मृगः सतृष्णो मृगतृष्णिकासु प्रतार्यते तोयधिया न धीमान्' ॥४।५४॥

'किं वा विमोहाय विवेकिनां स्यात्' ॥४।६१॥

'को वा स्तनाग्राण्यवधूय धेनोर्दुग्धं विदग्धो ननु दोग्धि शृङ्गम्' ॥४।६६॥

'मणेरनर्घस्य कुतोऽपि लग्नं को वा न पङ्कं परिमार्ष्टि तोयैः' ॥४।७५॥

'को वा स्थितिं सम्यगवैति राज्ञाम्' ॥४।७८॥

'जायते व्रतविशेषशालिना स्वप्नवृन्दमफलं हि न क्वचित्' ॥४।८६॥

'अहो मदान्धस्य कुतो विवेकः' ॥७।५३॥

'स्वजीवितेभ्योऽपि महोन्नतानामहो गरीयानभिमान एव' ॥७।५४॥

'कुतोऽथवा स्यान्महोदयः स्त्रीव्यसनालसानाम्' ॥७।५८॥

'अवसरमुखरत्वं प्रीतये कस्य न स्यात्' ॥८।१५॥

'न खलु मतिविकासावर्शदृष्टाखिलार्थाः
कथमपि विततार्थो वाचमाचक्षते तं' ॥८।४८॥
'प्रतिशिखरि वनानि ग्रीष्ममध्येऽपि कुर्यात्
किमु न जलदकालः प्रोल्लसत्पल्लवानि' ॥८।४९॥
'यः स्वप्नविज्ञानगतेरगोचरश्चरन्ति नो यत्र गिरः कवेरपि।
यं नानुबध्नन्ति मनःप्रवृत्तयः स हेलयार्थो विधिनैव साध्यते' ॥९।३७॥
'इह विकृतिमुपैति पण्डितोऽपि प्रणयवतीषु न किं जडस्वभावः' ॥१३।२०॥
'अविगतहृदया मनस्विनीनां किमु विलसन्मकरध्वजा न कुर्युः' ॥१३।३२॥
अहो दुरन्तो बलवद्विरोधः' ॥१४।१२॥
'कः स्त्रीणां गहनमवैति तच्चरित्रम्' ॥१६।३३॥
'को वा चरित्रं महतामवैति' ॥१७।४५॥
'द्रष्टुं दृढोपायमनङ्ग एव चक्षुस्तृतीयं सुदृशामुपैति' ॥१७।९५॥
'अपत्यमिच्छन्ति तदेव साधवो न येन जातेन पतन्ति पूर्वजाः' ॥१८।१२॥
'प्रिया पिशाच्येव नृपत्वचत्वरे परिस्खलन्कस्छलितो न भूपतिः' ॥१८।१६॥
'इहार्थकामाभिनिवेशलालसः स्वधर्ममर्माणि भिनत्ति यो नृपः।
फलाभिलाषेण समीहते तरुं समूलमुन्मूलयितुं स दुर्मतिः' ॥१८।२२॥
'यत्संसक्तं प्राणिनां क्षीरनीरन्यायेनोच्चैरङ्गमप्यन्तरङ्गम्।
आयुश्छेदे याति चेत्तत्तदास्था का बाह्येषु स्त्रीतनूजादिकेषु' ॥२०।१३॥

सूचना—अष्टादश सर्ग के १२ से लेकर ४३ तक के श्लोक सुभाषित रूप ही हैं।

नीत्युपदेश और राज्यशासन

बाणभट्ट ने कादम्बरी में शुकनासोपदेश का सन्दर्भ देकर नीत्युपदेश की जो परम्परा प्रचलित की थी वह उत्तरवर्ती लेखकों को बहुत रुचिकर हुई। किसी न किसी रूप में उन्होंने अपने ग्रन्थों में उसे स्थान दिया है। भारवि ने किरातार्जुनीय में युधिष्ठिरोपदेश के द्वारा, माघ ने शिशुपालवध में उद्धवोपदेश के द्वारा, और वीरनन्दी ने चन्द्रप्रभचरित में श्रीषेणोपदेश के द्वारा उसे अपनाया है। धर्मशर्माभ्युदय के अष्टादश सर्ग में दीक्षा लेते समय राजा महासेन ने अपने प्रिय पुत्र धर्मनाथ के लिए जो देशना दी है वह भी उसी परम्परा की सम्पुष्टि है। महाकवि हरिचन्द्र ने यह प्रकरण १४ से लेकर ४४ तक ३० श्लोकों में पूर्ण किया है। इनके उपदेश की विशेषता यह है कि उसमें यत्र-तत्र साहित्यिक छटा बिखरी हुई है। उदाहरण के लिए, दो चार श्लोक देखिए—

गुणार्जन की प्रेरणा करते हुए राजा महासेन कहते हैं—
भृशं गुणानर्जय सद्गुणो जनैः क्रियासु कोदण्ड इव प्रशस्यते।
गुणच्युतो बाण इवातिभीषणः प्रयाति वैलक्ष्यमिह क्षणादपि ॥१५॥

गुणों का अत्यधिक अर्जन करो क्योंकि उत्तम गुणों से युक्त (पक्ष में, उत्तम डोरी से युक्त) मनुष्य ही कार्यों में धनुष के समान प्रशंसनीय होता है, गुणों से रहित (पक्ष में, डोरी से रहित) मनुष्य बाण के समान अत्यन्त भयंकर होने पर भी क्षण-भर में वैलक्ष्य—लज्जा (पक्ष में, लक्ष्यभ्रष्टता) को प्राप्त हो जाता है।

मनुष्य को पराश्रयी नहीं होना चाहिए—इसका वर्णन देखिए—

स्थितेऽपि कोषे नृपतिः पराश्रयो प्रपद्यते लाघवमेव केवलम्।
अशेषविश्वम्भरकुक्षिरच्युतो बलिं भजन् किं न बभूव वामनः ॥२२॥

निज का खजाना रहने पर भी जो पर का आश्रय लेता है वह केवल तुच्छता को प्राप्त होता है। जिसका उदर अपने आपमें समस्त संसार को भरनेवाला है ऐसा विष्णु, बलि राजा की आराधना करता हुआ क्या वामन नहीं हो गया था ?

त्रिवर्गसाधना का उपदेश देते हुए कहते हैं—

सुखं फलं राज्यपदस्य जन्यते तदत्र कामेन स चार्थसाधनः।
विमुच्य तौ चेदिह धर्ममीहसे वृथैव राज्यं वनमेव सेव्यताम् ॥३१॥
इहार्थकामाभिनिवेशलालसः स्वधर्ममर्माणि भिनत्ति यो नृपः।
फलाभिलाषेण समीहते तरुं समूलमुन्मूलयितुं स दुर्मतिः ॥३२॥

राज्य पद का फल सुख है, वह सुख काम से उत्पन्न होता है और काम अर्थ से। यदि तुम दोनों को छोड़कर केवल धर्म की इच्छा करते हो तो राज्य व्यर्थ है ; उससे अच्छा तो यही है कि वन की सेवा की जाये।

जो राजा अर्थ और काम-प्राप्ति की लालसा रख अपने धर्म के मर्मों का भेदन करता है वह दुर्मति फल की इच्छा से समूल वृक्ष को उखाड़ता है।

राजपद की सार्थकता बतलाते हुए कहते हैं—

चिनोति मित्राणि न पाति न प्रजा बिभर्ति भृत्यानपि नार्थसंपदा।
न यः स्वतुल्यान् विदधाति बान्धवान् स राजशब्दप्रतिपत्तिभाक् कथम् ॥४०॥

जो न मित्रों को सन्तुष्ट करता है, न प्रजा की रक्षा करता है, न भृत्यों का भरण-पोषण करता है, और न अर्थरूप सम्पत्ति के द्वारा भाई-बन्धुओं को अपने समान ही बनाता है वह राजा कैसे कहलाता है ?

नीत्युपदेश के अनन्तर राजा महासेन ने युवराज धर्मनाथ का राज्याभिषेक किया और उन्हें समस्त सम्पत्ति सौंपकर जिनदीक्षा धारण कर ली। धर्मनाथ राज्य-सिंहासन पर आरूढ़ हुए। उनकी राज्य-व्यवस्था का वर्णन करते हुए कवि हरिचन्द्र ने कहा है—

न चापमृत्युर्न च रोगसंचयो बभूव दुर्भिक्षभयं न च क्वचित्।
महोदये शासति तत्र मेदिनीं ननन्दुरानन्दजुषश्चिरं प्रजाः ॥५९॥
ववौ समीरः सुखहेतुरङ्गिनां हिमादिदोष्णावपि नाभवद् भयम्।
प्रभोः प्रभावात्सकलेऽपि भूतले स कामवर्षी जलदोऽप्यजायत ॥६०॥

अजस्रमासीद् घनसंपदागमो न वारिसंपत्तिरदृश्यत क्वचित् ।
महौजसि त्रातरि सर्वतः सतां सदा पराभूतिरभूद्विमाद्भुतम् ॥६२॥
न नीरसत्वं सलिलाशयादृते दधावधः पङ्कजमेव सद्गुणान् ।
अभूदधर्मद्विषि तत्र राजनि त्रिलोचने सत्यजिनानुरागिता ॥६३॥
प्रसह्य रक्षत्यपि नीतिमक्षतामभूदनीतिः सुखभाग्जनः ।
भयापहारिण्यपि तत्र सर्वतः क्व नाम नासीत्प्रभयान्वितः क्षितौ ॥६४॥

—सर्ग १८

महान् वैभव के धारक भगवान् धर्मनाथ जब पृथिवी का शासन कर रहे थे तब न अकालमरण था, न रोगों का समूह था, और न कहीं दुर्भिक्ष का भय ही था। आनन्द को प्राप्त हुई प्रजा चिरकाल तक समृद्धि को प्राप्त होती रही।

उस समय भगवान् के प्रभाव से समस्त पृथिवी-तल पर प्राणियों को सुख का कारण वायु बह रहा था, सर्दी और गर्मी से भी किसी को भय नहीं था और मेघ भी इच्छानुसार वर्षा करनेवाला हो गया था।

अतिशय तेजस्वी भगवान् धर्मनाथ के सब ओर सज्जनों की रक्षा करने पर घनसम्पदागम—मेघरूपी सम्पत्ति का आगम (पक्ष में, अधिक सम्पत्ति का आगमन) निरन्तर रहता था किन्तु वारिसम्पत्ति—जलरूप सम्पदा (पक्ष में, शत्रुओं की सम्पदा) कहीं नहीं दिखाई देती थी और सदा पराभूति—अत्यधिक सहन अथवा अपमान (पक्ष में, उत्कृष्ट वैभव) ही दिखता था—यह भारी आश्चर्य की बात थी।[1]

अधर्म के साथ द्वेष करनेवाले भगवान् धर्मनाथ के राजा रहने पर नीरसत्व—जल का सद्भाव जलाशय के सिवाय किसी अन्य स्थान में नहीं था; (पक्ष में, नीरसता किसी अन्य मनुष्य में नहीं थी) सद्गुणों—मृणाल तन्तुओं को कमल ही नीचे धारण करता था, अन्य कोई सद्गुणों—उत्तम गुणवान् मनुष्यों का तिरस्कार नहीं करता था और अजिनानुरागिता—चर्म से प्रीति महादेवजी में ही थी, अन्य किसी में अजिनानुरागिता—जिनेन्द्र-विषयक अनुराग का अभाव नहीं था।[2]

यद्यपि भगवान् धर्मनाथ अखण्डितनीति की रक्षा करते थे फिर भी लोग अनीति—नीतिरहित (पक्ष में, अतिवृष्टि आदि ईतिरहित) होकर सुख के पात्र थे और वे यद्यपि पृथिवी में सब ओर भय का अपहरण करते थे फिर भी प्रभयान्वित—अधिक भय से सहित (पक्ष में, प्रभा से सहित) कहाँ नहीं था ? सर्वत्र था।[3]

उपर्युक्त श्लोकों में से ६२ और ६४वें श्लोक ने मिलकर अर्हद्दास कवि के पुरुदेवचम्पू में निम्न प्रकार प्रवेश किया है—

---

१. विरोधाभास।
२. परिसंख्या।
३. विरोधाभास।

तदा देवे पृथ्वीमवति घनसंपत्तिरभवत्
न वारिप्रान्तुर्य तदपि भुवनेषु क्वचिदभूत् ।
भयेभ्यः सर्व त्रातर्यपि महितनीतिश्चतुरो
ऽप्यनीतिः पौरोऽयं समजनि भयाभावश्च वत हा ॥२१॥ सर्ग—स्तवक ७
—श्लोक का भाव उपरितन श्लोकों के अनुवाद से स्पष्ट है।

जीवन्धरचम्पू का सुभाषित-संचय

महाकवि हरिचन्द्र ने जीवन्धरचम्पू में भी जहाँ-तहाँ अनेक सुभाषित रूप प्रकाश-स्तम्भ खड़े किये हैं—जिनमें कुछ का यहाँ दिग्दर्शन कराया जाता है। विस्तार-भय से हिन्दी अर्थ नहीं दिया जा रहा है—

धर्मार्थयुग्मं किल काममूलमिति प्रसिद्धं नृप नीतिशास्त्रे ।
मूले गते कामकथा कथं स्यात्लोकायितं वा शिखिनि प्रणष्टे ॥३३॥
उर्वश्यामनुरागतः कमलभूरासावकीर्णा क्षणात्
पार्वत्याः प्रणयेन चन्द्रमकुटोऽप्यर्धाङ्गनोऽजायत ।
विष्णुः स्त्रीषु विलोलमानसतया निन्दास्पदं सोऽप्यभूद्
बुद्धोऽप्येवमिति प्रतीतमखिलं देवस्य पृथ्वीपते ॥३४॥
—पृ. १५–१६

प्राणा नृपालाः सकलप्रजानां यत्तेषु सत्स्वेव न जीवनानि ।
भूपेषु या द्रोहविधानचिन्ता सर्वप्रजास्वेव कृता भवित्री ॥७०॥
समस्तपातकानां हि सामानाधिकरण्यभूः ।
राजध्रुगेव भविता सर्वद्रोहित्वसंभवात् ॥७१
राज्ञो विरोधो वंशस्य विनाशाय भविष्यति ।
ध्वान्तं राजविरोधेन सर्वत्र हि निरस्यते ॥७२॥
हर्षाय लोकस्य धराधिनाथः क्लिश्नाति नित्यं परिपालनेन ।
छायाश्रितानां परिपालनाय तरुर्यथाप्नोति रविप्रतापम् ॥७३॥ —पृ. २७
शम्पानिभा संपदियं शरीरं चलं प्रभुत्वं जलबुद्बुदाभम् ।
तारुण्यमारण्यसरित्सकाशं क्षयिष्णुनाशो हि न शोचनीयः ॥७८॥
संयुक्तयोर्वियोगो हि संध्याचन्द्रमसोरिव ।
रक्तयोरपि दंपत्योर्भविता नियतेर्वशात् ॥७९॥
बन्धुत्वं[2] शत्रुभूयं च कल्पनाशिल्पिनिर्मितम् ।
अनादौ सति संसारे तद्द्वयं कस्य केन न ॥८०॥ —पृ. २९

---

१. चन्द्रविरोधेन 'राजा प्रभौ नृपे चन्द्रे यक्षे क्षत्रियशक्रयोः' इति कोषः ।
२. शत्रुत्वम् ।

विद्यावल्ली पात्रसुक्षेत्रदत्ता प्रज्ञासिक्ता सूक्तिभिः पुष्पिता च ।
आशायोषित्कर्णभूषायमाणां कीर्तिप्रोद्यन्मञ्जरीमादधाति ॥१६॥

विद्याकल्पतरुः समुन्नतिमितः प्राप्तोऽपि गम्यो नतैः
पुष्पाण्यत्र समेत्य मञ्जुलमहोऽमुत्र प्रसूते फलम् ।
किं चायं खलु मूलमाश्रितवतां संतापमन्तस्तनो-
त्यूर्ध्वं संचरतां नृणां पुनरसौ तापं धुनीतेतमाम् ॥१७॥

—पृ. ४४

न कार्यः क्रोधोऽयं श्रुतजलधिमग्नैकहृदयै-
र्न चेद्बुधर्षा शास्त्रे परिचयकलाचारविधुरा ।
निजे पाणौ दीपे लसति भुवि कूपे निपततां
फलं किं तेन स्यादिति गुरुरबोधोऽशिक्षयदमुम् ॥१९॥—पृ. ४६

सौलभ्यं हि महत्ताया भूषणाय प्रकल्पते ।
प्रभुत्वस्येव गाम्भीर्यमौदार्यस्येव सौम्यता ॥४॥
महत्त्व[illegible] कनकाचलेऽपि [illegible] सौलभ्यमिह गरीयः ।
एतद्द्वयं कुत्रचिदप्रतीतं कुरुप्रवीरे समवसत्प्रकामम् ॥५॥ —पृ. १२२

अशरण्यशरण्यत्वं परोपकृतिशीलता ।
दयापरत्वं दाक्षिण्यं श्रीमतः सहजा गुणाः ॥२१॥ —पृ. १२८॥
धैर्यौदार्यविवर्जितः क्षितिपतिः प्रज्ञाविहीनो गुरुः
कृत्याकृत्यविचारशून्यसचिवः संग्रामभीरुर्भटः ।
सर्वज्ञस्त्ववहीनकल्पनकविर्वाग्मित्वहीनो बुधः
स्त्रीवैराग्यकथाभिज्ञपुरुषः सर्वे हि साधारणाः ॥२६॥
वज्रात्कठोरतरमेणदृशां हि चित्तं
पुष्पादतीव मृदुलो वचनप्रचारः ।
कृत्यं निशालककुलादपि वक्रकल्पं
तस्माद्बुधाः सुनयनां न हि विश्वसन्ति ॥२७॥

वक्त्रं श्लेष्मनिकेतनं मलमयं नेत्रद्वयं तत्कुचौ
मांसाकारघनौ नितम्बफलकं रक्तास्थिपुञ्जाततम् ।
शीतांशुर्विकचोत्पलं करिपतेः कुम्भौ महत्सैकतं
भातीत्येवमुशन्ति मुग्धकवयस्तद्रागविस्फूर्जितम् ॥२८॥—पृ. १२९

या राज्यलक्ष्मीर्बहुदुःखसाध्या दुःखेन पाल्या चपला दुरन्ता ।
नष्टापि दुःखानि चिराय सूते तस्यां कथा वा सुखलेशलेशाः ॥२३॥
कल्लोलिनीनां निकरैरिवाब्धिः कृपीटयोनिर्बहुलेन्धनैर्वा ।
कामं न संतृप्यति कामभोगैः कन्दर्पवश्यः पुरुषः कदाचित् ॥२४॥

राथ्यां स्नेहविहीनदीपकलिकाकल्पं चलं जीवितं
शम्पाकल्पमभङ्गुरा तनुरियं लोलाभतुल्यं वयः ।
तस्मात्संसृतिसन्तती न हि सुखं तत्रापि मूढः पुमा-
न्यावत्ते स्वहितं करोति च पुनर्मोहाय कार्यं वृथा ॥२५॥
विलोभ्यमानो विषयैर्वराको भङ्गुरैर्भृशम् ।
नारम्भदोषान्मनुते मोहेन बहुदुःखदान् ॥२६॥
ये मोक्षलक्ष्मीमनपायरूपां विहाय विन्दन्ति नृपाललक्ष्मीम् ।
निदाघकाले शिशिराम्बुधारां हित्वा भजन्ते मृगतृष्णिकां ते ॥२८॥

—पृ. २२४-२२५

जीवन्धर स्वामी की भक्ति-गंगा

कथा-नायक जीवन्धर स्वामी भक्तहृदय महापुरुष थे, इसलिए उन्होंने एक वर्ष का लम्बा समय तीर्थयात्रा में व्यतीत किया था। चन्द्रोदय पर्वत से उतरकर उन्होंने दक्षिण भारत की बीहड़ अटवियों में एकाकी भ्रमण कर अनेक जिन-मन्दिरों के दर्शन किये थे। दर्शन करते समय उनके मुखकमल से जो भक्ति-गंगा यत्र-तत्र प्रवाहित हुई है उसका कुछ नमूना संकलित किया जाता है।

दक्षिण देश के क्षेमपुर नगर के बाह्योद्यान में स्थित जिनमन्दिर के दर्शन कर जीवन्धर स्वामी इस प्रकार जिनेन्द्र की स्तुति करते हैं—

भवभरभयदूरं भावितानन्दसारं
धृतविमलशरीरं दिव्यवाणीविचारम् ।
मदनमदविकारं मञ्जुकारुण्यपूरं
भयत जिनपधीरं शान्तिनाथं गभीरम् ॥१७॥
यस्याशोकतरुर्विभाति शिशिरच्छायः श्रितानां शुचं
धुन्वन्सार्थकनामधेयगरिमा माहात्म्यसंवादकः ।
यं देवाः परितो ववर्षुरमितैः फुल्लैः प्रसूनोच्चयैः
कल्याणाचलमन्ततः कुसुमिता मन्दारवृक्षा यथा ॥१८॥
सकलवचनभेदाकारिणी दिव्यभाषा
शमयति भवतापं प्राणिनां मङ्क्षु यस्य ।
अमरकरविधूतश्चामराणां समूहो
विलसति खलु मुक्तिश्रीकटाक्षानुकारी ॥१९॥
कनकशिखरिशृङ्गं स्पर्धते यस्य सिंहा-
सनमिदमखिलेशां द्वेष्टि वैमाविसीव ।
वलयमपि च भासां पद्मबन्धुं विरुन्द्धे
मम पतिरिति सोऽयं ख्यातिमापेति रोषात् ॥२०॥

त्रिभुवनगतिभावं घोषयन्यस्य तारो

मुखरयति दशाशा दुन्दुभिध्वानपूरः ।

शमयितुमिह रागद्वेषमोहान्धकार-

त्रितयमिव विधूनां भाति छत्रत्रयं तत् ॥२१॥

अक्षयाय नमस्तस्मै यक्षाधीशनताङ्घ्रये ।

दक्षाय शान्तिनाथाय सद्भावानुदितश्रिये ॥२२॥ —पृ. १११-११२

उपर्युक्त श्लोकों में [1]अष्टप्रातिहार्यों के द्वारा शान्तिनाथ जिनेन्द्र का स्तवन किया गया है।

अष्टप्रातिहार्यरूप स्तुति का एक रूप हम एकादश लम्भ के ४५वें श्लोक से लेकर ५२वें श्लोक तक पाते हैं। इन श्लोकों के बीच में गद्यपंक्तियाँ भी हैं।

□

1. दिव्यतरुः सुरपुष्पवृष्टिर्दुन्दुभिरासनयोजनघोषौ ।
आतपवारणचामरयुग्मे यस्य विभाति च मण्डलतेजः ॥
अशोक वृक्ष, देवकृत पुष्पवृष्टि, दुन्दुभिवादन, सिंहासन, दिव्यध्वनि, छत्रत्रय, चामर और भामण्डल ये आठ प्रातिहार्य कहलाते हैं।

स्तम्भ ४ : सामाजिक दशा और युद्ध-निदर्शन

जीवन्धरचम्पू से ध्वनित सामाजिक स्थिति

जीवन्धरचम्पू के अध्ययन से निम्नांकित सामाजिक स्थितियाँ प्रतिफलित होती हैं—

वैवाहिक

१. एक पुरुष के अनेक विवाह होते थे।[1]

२. क्षत्रिय और वैश्य-वर्ण के बीच विवाह होते थे।[2]

३. शूद्रवर्ण के साथ उच्च-वर्णवालों का विवाह नहीं होता था।[3]

४. अपरिपक्व अवस्था में भी विवाह होते थे।[4]

५. पिता के द्वारा कन्या का दिया जाना तथा स्वयंवर प्रथा के द्वारा वर का चुनाव होना—ये विवाह की रीतियाँ थीं। कदाचित् गन्धर्व विवाह भी होता था। स्वयंवर की प्रथा राजा-महाराजा तथा बड़े लोगों तक ही सीमित थी।[5]

६. वर के अन्वेषण में लोग प्रायः निमित्त-ज्ञानियों की भविष्यवाणी को ही महत्त्व देते थे।

७. विवाह अग्नि की साक्षी-पूर्वक होता था। लकड़ी के खाम की आवश्यकता नहीं रहती थी। पिता के द्वारा संकल्प के लिए वर के हस्ततल पर जलधारा दी जाती थी तदनन्तर वर कन्या का पाणिग्रहण करता था। भाँवर की प्रथा नहीं थी।

८. मामा की लड़की के साथ भी विवाह होता था। इस तरह विवाह में केवल एक साँक बचायी जाती थी।[6]

---

१. जीवन्धर के स्वयं आठ विवाह हुए।

२. जीवन्धर ने क्षत्रियवर्ण होकर गुणमाला, क्षेमश्री, विमला और सुरमंजरी इन चार वैश्य कन्याओं के साथ विवाह किया।

३. जीवन्धर ने नन्दघोष की कन्या गोदावरी के साथ स्वयं विवाह न कर पद्मास्य के साथ उसका विवाह कराया। क्षत्रचूडामणि में वादीभसिंह ने 'न ह्ययोग्ये सतां स्पृहा' इस सूक्ति से उनकी इस क्रिया का समर्थन किया है।

४. जीवन्धरकुमार का १६ वर्ष की अवस्था में माता के साथ मिलान हुआ था पर उससे पूर्व उनके ६ विवाह हो चुके थे।

५. जीवन्धर ने गन्धर्वदत्ता और लक्ष्मणा को स्वयंवर विधि से प्राप्त किया था और शेष को पिता या अग्रज के दिये जाने पर।

६. लक्ष्मणा, जीवन्धर के मामा की लड़की थी।

परिधान

वस्त्र अल्प संख्या में उपयुक्त होते थे। पुरुष अधोवस्त्र और उत्तरच्छद रखते थे। राजा-महाराजा आदि मुकुट का भी प्रयोग करते थे। स्त्रियाँ अधोवस्त्र और उत्तरच्छद के अतिरिक्त स्तनवस्त्र भी पहनती थीं। दक्षिण के कवियों ने स्त्रियों के अवगुण्ठन—घूँघट का वर्णन नहीं किया है और न पाद-कटक का, हाथ में मणियों के वलय और कमर में सुवर्ण अथवा मणिखचित मेखला पहनती थीं। गले में अधिकांश मोतियों की माला पहनी जाती थी। स्त्रियों के हाथों में काँच की चूड़ियों का कोई वर्णन नहीं मिलता है। पैरों में नूपुर पहनने की प्रथा थी और खासकर रुनझुन शब्द करनेवाले नूपुर पहनने की।

राजनयिक

राजा अपनी आवश्यकतानुसार ४–६ मन्त्री रखता था, उनमें एक प्रधान मन्त्री रहता था, धार्मिक कार्य के लिए एक पुरोहित या राजपण्डित भी रहता था। राज्यसभा में रानी का भी स्थान रहता था। राजा अपना उत्तराधिकारी युवराज के रूप में निश्चित करता था। प्रमुख अपराधों का न्याय राजा स्वयं करता था।

युद्ध और वाहन

आवश्यकता पड़ने पर युद्ध होता था और अधिकतर धनुष-बाण से शस्त्र का काम लिया जाता था। खास अवस्था में तलवार का भी उपयोग होता था। युद्ध में रथ, घोड़े और हाथियों की सवारी का उल्लेख मिलता है। अन्य समय शिविका—पालकी का भी उपयोग होता था। इसका उपयोग अधिकांश स्त्रियाँ करती थीं। उस समय सबसे सुखद वाहन मह्ययान—मियाना माना जाता था जो कि शिविका का परिष्कृत रूप है।

शैक्षणिक

बालक-बालिकाएँ दोनों ही शिक्षा ग्रहण करती थीं। शिक्षा गुरु-कृपा पर निर्भर रहती थी। विद्यार्थी गुरुभक्त रहते थे और गुरु सांसारिक माया-ममता से दूर। राजा-महाराजा तथा प्रमुख सम्पन्न लोग शिक्षालयों की भी स्थापना करते थे पर उनमें अधिकांश उन्हीं के बालक-बालिकाएँ शिक्षा ग्रहण करती थीं।

यातायात

यातायात के साधन अत्यन्त सीमित थे। मार्ग में भीलों आदि के उपद्रव का डर रहता था अतः लोग सार्थ—झुण्ड बनाकर चलते थे। यातायात में रथ तथा शकट आदि वाहनों का उपयोग होता था। जीवन्धर के पिता राजा सत्यन्धर ने अपनी गर्भवती रानी विजया का दोहला पूर्ण करने के लिए एक ऐसे मयूररत्न का निर्माण

कराया था जो पुरुष द्वारा आकाश में घुमाया जाता था। यह यन्त्र आकाश से शनैः-शनैः स्वयं ही पृथिवी पर उतर आता था। काष्ठांगार के द्वारा राजभवन का प्रतिरोध किये जाने पर राजा सत्यन्धर ने इसी मयूरयन्त्र में बैठाकर विजया को आकाश में भेज दिया था। वह यन्त्र सन्ध्याकाल में श्मशान में स्वयं उतरा था।

धार्मिक

वैदिक धर्म और श्रमण धर्म—दोनों ही प्रचलित थे। अपनी-अपनी मान्यता के अनुसार लोग धर्म-धारण करने में स्वतन्त्र थे। सब धर्मवालों में अधिकांश सौमनस्य चलता था। अपने वनविहार-काल में जीवन्धर वैदिक धर्मानुयायियों के तपोवन में ठहरे थे तथा उन्हें हिंसामय तप से निवृत्त होने का उपदेश भी उन्होंने दिया था।

धर्मशर्माभ्युदय का युद्ध-वर्णन और चित्रालंकार

विवाह के बाद धर्मनाथ तो कुबेर-निर्मित वायुयान के द्वारा शृंगारवती के साथ रत्नपुर नगर वापस चले गये पर ईर्ष्यालु राजाओं ने सुषेण सेनापति का अवरोध किया। असफल राजाओं ने अपनी एक गुट बनाकर सुषेण पर आक्रमण की तैयारी की। युद्ध के पूर्व दूत भेजने की प्रथा प्राचीन काल से चली आयी है अतः उन्होंने सर्व प्रथम सुषेण के पास दूत भेजा। वह दूत द्व्यर्थक भाषा में बोलता है—एक अर्थ से धर्मनाथ की निन्दा और दूसरे अर्थ से उनकी प्रशंसा करता है।

शिशुपालवध के पन्द्रहवें सर्ग में शिशुपाल की ओर से श्रीकृष्ण के प्रति जो दूत भेजा गया था, माघ ने भी उस दूत से द्व्यर्थक भाषा में निवेदन कराया है। वहाँ ऐसे ३४ श्लोक हैं जिन्हें मल्लिनाथ ने प्रक्षिप्त समझकर छोड़ दिया है—उनकी व्याख्या नहीं की है परन्तु शिशुपालवध के अन्य टीकाकार वल्लभदेव ने उन श्लोकों की व्याख्या की है तथा उसमें निन्दा और स्तुति—इस प्रकार दो पक्ष स्पष्ट किये हैं। धर्मशर्माभ्युदय के कर्ता हरिचन्द्र ने भी माघ की इस शैली का अनुकरण कर १९वें सर्ग में १२ से लेकर ३२ तक बीस श्लोकों द्वारा निन्दा और स्तुति दोनों पक्ष रखे हैं। कवि को श्लेष रचना का अच्छा प्रसंग मिला है। यद्यपि इसका कुछ उल्लेख पिछले स्तम्भों में किया जा चुका है तथापि प्रसंगोपात्त कुछ चर्चा पुनः प्रस्तुत की जा रही है। यहाँ श्लेष के साथ यमक को भी आश्रय दिया गया है। यह माघ की अपेक्षा विशेषता है। उदाहरण के लिए कुछ श्लोक देखिए—

> परमस्नेहनिष्ठास्ते परदानकृतोद्यमाः।
> समुन्नतिं तवेच्छन्ति प्रधनेन महापदाम् ॥१८॥
> राजानस्ते जगत्ख्याता बहुशोभनवाजिनः।
> वने कस्तत्क्रुधा नासीद् बहुशोभनवाजिनः ॥१९॥

सङ्कपाणां स्थितिं बिभ्रत्स्वधामनिधनं सन ।
दाता वा राजसंदोह्रो द्राक्कान्तारसमाश्रयम् ॥२०॥

दूत के उत्तर में सुषेण सेनापति ने जो फटकार दी है वह उसकी वीरता को सूचित करनेवाली है। सुषेण ने कहा—

गुणदोषानविज्ञाय भर्तुर्भक्ताधिका जनाः ।
स्तुतिमुच्चावचामुच्चैः कां न कां रचयन्त्यमी ॥३८॥

ये भक्ताधिक—भोजन से परिपूर्ण अथवा श्राद्धों में अधिक दिखनेवाले—पिण्डी-शूर लोग गुण और दोषों को जाने बिना ही अपने स्वामी की ऊँची-नीची क्या-क्या स्तुति नहीं करते हैं? अर्थात् खाने के लोभी सभी लोग अपने स्वामियों की मिथ्या प्रशंसा में लगे हुए हैं।

मम चापलतां वीक्ष्य नवचापलतां दधत् ।
अयमाजिरसाद्गन्तुं किं यमाजिरमिच्छति ॥४१॥

मेरे धनुषरूपी लता को देखकर नवीन चंचलता को धारण करनेवाला यह राजाओं का समूह युद्ध के अनुराग से क्या यमराज के आँगन में जाने की इच्छा करता है अर्थात् मरना चाहता है?

दूत के वापस होते ही दोनों ओर से युद्ध शुरू हो गया। मारू बाजों का शब्द सुनकर हाथी गर्जना करने लगे तथा घोड़े शीघ्र ही आगे बढ़ने के लिए हींसने लगे। शूरवीरों के शरीर हर्ष से फूल गये और पताकाओं से सहित रथ दौड़ने लगे। आकाश में देव-देवियों की भीड़ लग गयी। अंग, बंग, कलिंग तथा मालव आदि देशों के नरेशों ने सुषेण से युद्ध किया परन्तु सबको पीछे हटना पड़ा। सुषेण की तलवार शत्रुओं का रुधिर पीकर दूध के समान सफ़ेद यश को उगल रही थी, मानो वह एक इन्द्रजाल का खेल ही प्रकट कर रही थी।[1]

सुषेण की विजय का यह समाचार एक दूत ने आगे जाकर राजा महासेन और धर्मनाथ को सुनाया था।

इस सर्ग में कवि ने एकाक्षर (८२), द्व्यक्षर (५४), चतुरक्षर (३३), प्रतिलोमानुलोमपाद (११), समुद्गक (५६), गूढचतुर्थपाद (२६), निरोष्ठ्य (५८), गोमूत्रिक (७८), अर्धभ्रम (८४), सर्वतोभद्र (८६), मुरजबन्ध (९०), और चक्रबन्ध (१०१–१०२) आदि चित्रालंकार की रचना कर अपना काव्यकौशल प्रकट किया है। वस्तुतः अर्थालंकार की अपेक्षा शब्दालंकार की रचना करने में कवि को प्रतिभा का आलम्बन अधिक लेना पड़ता है।

---

१. पीत्वारिशोणितं सद्यः क्षीरगौरं यशो वमत् ।
इन्द्रजालं तदीयासिः काममाविश्चकार सः ॥६९॥

युद्ध का वर्णन करने के लिए वीरनन्दी ने चन्द्रप्रभचरित (१५वाँ सर्ग) में, भारवि ने किरातार्जुनीय (१५वाँ सर्ग) में और माघ ने शिशुपालवध (१९वाँ सर्ग) में भी उसी अनुष्टुप् छन्द को अपनाया है तथा साथ में चित्रालंकार का चमत्कार दिखलाया है। पूर्व-परम्परा की रक्षा करते हुए हरिचन्द्र ने भी धर्मशर्माभ्युदय (१९वाँ सर्ग) में उसी अनुष्टुप् छन्द और चित्रालंकार को समाश्रय दिया है। यद्यपि इस छन्द और इस अलंकार में वीररस का प्रवाह जिस उद्दाम गति से प्रवाहित होना चाहिए उस गति से नहीं हो पाता परन्तु चित्रालंकार की सुगमता इसी छन्द में रहती है इसलिए विवश होकर कवि को यह छन्द स्वीकृत करना पड़ा है। जहाँ साथ में चित्रालंकार का चक्र नहीं रहता है वहाँ वीररसोपयोगी भिन्न छन्दों के द्वारा युद्ध का वर्णन किया जाता है जैसा कि जीवन्धरचम्पू के दशम लम्भ में हुआ है। जीवन्धरचम्पू का युद्ध-वर्णन आगे दिया जायेगा।

जीवन्धरचम्पू में युद्ध-वर्णन

शृंगारादि नौ रसों में वीररस अपना प्रमुख स्थान रखता है इसीलिए उसे महाकाव्यों में अंगी रस बनने का अवसर प्राप्त है।[1] जीवन्धरचम्पू का अंगी रस शान्तरस है फिर भी अंगी रस के रूप में वीररस का यत्र-तत्र अच्छा निरूपण हुआ है। द्वितीय लम्भ के अन्त में शबर-सेना के साथ क्षत्रचूडामणि जीवन्धरकुमार का अल्प युद्ध हुआ है। उस युद्ध के लिए उद्यत जीवन्धरकुमार का वर्णन देखिए, कितना स्फूर्तिदायक है ?

नखांशुमयमञ्जरीसुरभितां धनुर्वल्लरीं
समागतशिलीमुखां दधदयं हि जीवन्धरः।
अनोकह इवाबभौ भुजविशालशाखाञ्चितो
निरन्तर-जयेन्दिराविहरणैकसंवासभूः ॥२८॥

कुण्डलीकृतशरासनान्तरे जीवकाननममर्षपाटलम्।
स्पर्धते परिधिमध्यसंस्थितं चन्द्रबिम्बमिह संध्ययारुणम् ॥२९॥

जीवन्धरेण निर्मुक्ताः शरा दीप्ता विरेजिरे।
विलीनान् समिति व्याधान् द्रष्टुं दीपा इवागताः ॥३०॥

तदनु जिष्णुचापचुम्बिजीवन्धराम्बुधर-निरवग्रह-निर्मुक्त-शरधाराभिः कालकूटबल-प्रतापानले शान्ततां नीते निशितशस्त्रनिकृत्तकुञ्जरपदकच्छपाः मल्लाविलूनहृष्मल्लाननपयोजपरिष्कृताः, मदवारणकर्णभ्रष्टचामरहंसावतंसिताः, कीलालवाहिन्यः समीकधरायां परःसहस्रमजायन्त। –पृ. ५१-५२

1. शृङ्गारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते।
अङ्गानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटकसन्धयः ॥३१७॥—साहित्यदर्पण, अध्याय ६।

भाव यह है—

जो नख-किरणरूपी मंजरी से सुगन्धित थी तथा जिसपर शिलीमुख—बाण (पक्ष में, भ्रमर) आकर विद्यमान थे, ऐसी धनुषलता को धारण करनेवाले जीवन्धर, वृक्ष के समान सुशोभित हो रहे थे, क्योंकि जिस प्रकार वृक्ष विशाल शाखाओं से सुशोभित होता है उसी प्रकार जीवन्धर भी भुजारूपी विशाल शाखाओं से सुशोभित थे। इसके सिवाय जीवन्धर, निरन्तर ही, विजयलक्ष्मी के विहार की मुख्य भूमिस्वरूप थे।

कुण्डलाकार धनुष के मध्य में स्थित, क्रोध से लाल-लाल दिखनेवाला जीवन्धर कुमार का मुख, परिधि के मध्य में स्थित तथा सन्ध्या के कारण लाल-लाल दिखनेवाले चन्द्रमण्डल के साथ स्पर्धा करता था।

जीवन्धरकुमार के द्वारा छोड़े हुए बाण ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो युद्ध में छिपे भीलों को देखने के लिए दीपक ही आये हों।

तदनन्तर विजयी धनुषरूपी इन्द्रधनुष को धारण करनेवाले जीवन्धर-रूपी मेघ के द्वारा लगातार छोड़ी हुई बाणधारारूपी जलधारा से जब कालकूट नामक भीलों के राजा की सेना सम्बन्धी प्रतापाग्नि शान्त हो गयी तब युद्धभूमि में हजार से भी अधिक खून की नदियाँ बह निकलीं। वे खून की नदियाँ तीक्ष्ण शस्त्रों के द्वारा कटे हुए हाथियों के पैर-रूपी कछुओं से सहित थीं, भालों के द्वारा कटे हुए घुड़सवारों के मुखरूपी कमलों से सुशोभित थीं और मदोन्मत्त हाथियों के कानों से गिरे हुए चामररूपी हंसों से अलंकृत थीं।

यहाँ वीररस के विभाव और अनुभाव का कितना विशद वर्णन है?

पंचम लम्भ में जीवन्धर और काष्ठांगार के प्रमुख सुभट—प्रमथ के युद्ध का दृश्य देखिए—

गजा जगर्जुः पटहाः प्रणेदुर्जिह्रेषुरश्वाश्च तदा रणाग्रे।
कुमारबाहा-सुखसुप्तिकायाःप्रबोधमायेव जयेन्दिरायाः ॥४॥

कराञ्चित-शरासनादविरलं गलद्भिः शरै-
र्लुलाव कुरुकुञ्जरो रिपुशिरांसि चापैस्समा।
बिभेद गजयूथपान् सुभट-धैर्यवृत्त्या समं
ववर्ष शरसंन्तति समभिभोद्गतैमौंक्तिकैः ॥५॥

भाव यह है—

उस समय रण के अग्रभाग में कुमार की बाहु पर सुख से सोयी हुई विजयलक्ष्मी को जगाने के लिए मानो हाथी गरज रहे थे, नगाड़े बज रहे थे और घोड़े हींस रहे थे।

कुरुकुंजर जीवन्धरकुमार ने हाथ में सुशोभित धनुष से लगातार निकलनेवाले बाणों के द्वारा धनुषों के साथ-साथ रिपुओं के सिर छेद डाले थे, सुभटों के धैर्य के

साथ-साथ बड़े-बड़े हाथियों को भेद डाला था और हाथियों से निकले हुए मोतियों के साथ-साथ बाणों के समूह की वर्षा की थी।

यहाँ युद्ध के भयावह काल में भी उत्प्रेक्षा और सहोक्ति अलंकार का ध्यान रखते हुए कवि ने अपने कवित्व को भुलाया नहीं है।

अष्टम लम्भ में पद्मास्य आदि कृत्रिम गोधन-अपहारकों के साथ होनेवाले युद्ध में सैनिकों की गर्वोक्तियाँ देखिए—

अस्माकं त्रिजगत्प्रसिद्धयशसामेषा कृपाणीलता
शत्रुस्त्रीनयनान्तकज्जलजलैः श्यामा निपीतैः पुरा।
संप्रत्याहवसीम्नि युष्मदसृजां पानेन शोणीकृता
वीरश्रीस्मितपाण्डुराचरितरां चित्रा भविष्यत्यहो ॥२८॥

पशून्वा प्राणान्वा जहत झटिति क्षीवपुरुषाः
स्वमूर्ध्नश्चापान्वा नमयत नरेन्द्रस्य पुरतः।
मुखे वा हस्ते वा कुरुत शरवृन्दं नरपतिं
कृतान्तागारं वा शरणमथवा दुर्गं अधिभटाः ॥२९॥

किं वाचां विसरेण मुग्धपुरुषाः किं वा वृथाडम्बरै-
रात्मश्लाघनयानया किमु भटाः सैषा हि नीचोचिता।
संक्रीडद्रथचक्रकृष्टधरणौ भिन्नेभमुक्ताफलै-
श्चापाभ्राच्छरवर्षतो विजयिनः शुभ्रं यशोऽङ्कुरति ॥३१॥

भाव यह है—

जिनका यश तीनों जगत् में प्रसिद्ध है ऐसे हम लोगों की इस तलवाररूपी लता ने पहले शत्रु-स्त्रियों के नयनान्त भाग से निकलनेवाले कज्जल मिश्रित जल का पान किया था, इसलिए काली हो गयी थी। इस समय युद्ध की सीमा में आप लोगों का रक्त पीने से लाल हो रही है और अब वीर लक्ष्मी की मन्द मुसकान से सफ़ेद हो जायेगी। इस प्रकार आश्चर्य है कि वह अनेक रंगों से चित्र-विचित्र होगी।

अरे पागल पुरुषो! या तो तुम लोग शीघ्र ही पशुओं को छोड़ो या प्राणों को छोड़ो, राजा के सामने या तो अपना मस्तक झुकाओ या धनुष झुकाओ। या तो मुख में शरवृन्द—तृणों का समूह धारण करो या हाथ में शरवृन्द—बाणों का समूह धारण करो। या तो राजा की शरण लो या यमराज के घर को अपना शरण—घर बनाओ।

अरे मूर्ख पुरुषो! इन वचनों के समूह से क्या होनेवाला है? इन व्यर्थ के आडम्बरों से क्या प्रयोजन सिद्ध होगा? और अपनी इस प्रशंसा से क्या सिद्धि होने-वाली है? वास्तव में यह आत्म-प्रशंसा नीच मनुष्यों के ही योग्य है। जो इधर-उधर दौड़नेवाले रथों के पहियों से खुदी हुई पृथ्वी पर धनुषरूपी मेघ से शर-वर्षा—बाण-वर्षा (पक्ष में, जल-वर्षा) करता है, उसी विजयी मनुष्य का यश, विदीर्ण हाथियों के मुक्ताफलों के बहाने अंकुरित होता है।

अपनी द्वितीय रचना धर्मशर्माभ्युदय कथा में धर्मनाथ नामक तीर्थंकर को हिंसामय युद्ध से अछूता रखने के लिए महाकवि ने वीर रस को गौण रखा है। स्वयंवर के बाद यद्यपि अन्य राजाओं की प्रतिद्वन्द्विता में युद्ध का अवसर उपस्थित किया गया है तथापि वह युद्ध धर्मनाथ तीर्थंकर के द्वारा न कराकर सुषेण सेनापति के द्वारा कराया गया है। अनुष्टुप् छन्द और चित्रालंकार के चक्र ने वीर रस का विकास जैसा होना चाहिए वैसा नहीं होने दिया है, परन्तु जीवन्धरचम्पू में वीर रस के परिपाक को पूर्णता देनेवाले युद्ध का सांगोपांग वर्णन किया गया है। दो-चार लघु युद्धों के उपर्युक्त प्रसंगों के अतिरिक्त दशम लम्भ में काष्ठांगार के साथ हुए महायुद्ध का सविस्तार वर्णन किया गया है। मन्त्रणा से लेकर शत्रु-समाप्ति तक का वर्णन ओजपूर्ण भाषा में दिया गया है। युद्ध का इतना सविस्तार वर्णन अन्य काव्यों में अप्राप्त है।

काष्ठांगार, राजा गोविन्द को इसलिए आमन्त्रित करता है कि इधर मेरे ऊपर राजा सत्यन्धर के मारने का अपवाद चला आ रहा है उसे आप आकर दूर कर दें। राजा गोविन्द, विजया रानी के भाई और सत्यन्धर राजा के साले थे अतः उनके द्वारा किया हुआ समाधान काष्ठांगार ने उपयोगी समझा था। इस आमन्त्रण से लाभ उठाते हुए गोविन्द राजा अपनी पुत्री लक्ष्मणा के स्वयंवर और काष्ठांगार से युद्ध की तैयारी कर राजपुरी आये। लक्ष्मणा के स्वयंवर का आयोजन, उन्होंने युद्ध का प्रसंग उपस्थित करने के लिए किया था। लक्ष्मणा का स्वयंवर हुआ, अनेक देशों के राजा आये, जीवन्धर ने स्वयंवर में विजय प्राप्त की इसलिए काष्ठांगार कुपित हो गया। उसी समय गोविन्द राजा ने, उपस्थित राजाओं को जीवन्धर का परिचय देते हुए कहा कि यह राजा सत्यन्धर का पुत्र और मेरा भानजा है। काष्ठांगार ने राजा सत्यन्धर का घात किया था। राजा गोविन्द के इस स्पष्टीकरण से उपस्थित राजा जीवन्धर के पक्ष में हो गये। अनाशंसित युद्ध की घोषणा किये जाने पर तात्कालिक राजा काष्ठांगार, मन्त्रणा के लिए मन्त्रशाला में बैठता है। मन्त्री लोग राजा काष्ठांगार को युद्ध न करने की सम्मति देते हैं पर काष्ठांगार उन मन्त्रियों को देखिए, किन शब्दों में फटकारता है—

> एवं मन्त्रिगिरं निशम्य सभयं तूष्णीं स्थितः सोऽवदत्
> कर्णे लग्नमुखेन तत्र मथनेनादीपितक्रोधमः।
> रे रे केन ससाध्वसं बहुतरं पृष्टोऽसि वक्तुं पुरो
> भीरुस्त्वं यदि तिष्ठ वेश्मनि मुधा क्लीबोऽसि किं भाषितैः ॥३२॥
> माद्यद्दन्तिघटापदस्फुटनटद्घोटप्रक्षुभ्यद्भटा-
> टोपाच्छादितदिक्तटे रणतले खड्गोल्लसद्धारया।
> आहूत्य श्रियमाहवोद्यतरिपु-क्षोणीभृतामुज्ज्वलां
> कीर्त्यां कोमलया दिशो धवलयाम्युत्फुल्लकुन्दश्रिया ॥३३॥

धर्मदत्त मन्त्री के उक्त शब्द सुनकर काष्ठांगार पहले तो कुछ देर तक चुप बैठा रहा। तदनन्तर कान में मुख लगाकर जब मथन ने उसके क्रोध को उत्तेजित किया तब

कहने लगा कि अरे नीच ! इस प्रकार भय मिश्रित वचन कहने के लिए तुमसे पूछा ही किसने था ? यदि तू डरपोक है तो घर में बैठ, तू नपुंसक है, व्यर्थ के बोलने से क्या लाभ है ?

मदोन्मत्त हाथियों की घटाओं, स्पष्ट नाचते हुए घोड़ों और हर्षित होते हुए योद्धाओं के विस्तार से जिसमें दिशाओं के तट आच्छादित हैं ऐसी रणभूमि में तलवार की चमकती हुई धारा से मैं युद्ध के लिए उद्यत राजाओं की लक्ष्मी का हरण कर कुन्द के फूल के समान उज्ज्वल अपनी कीर्ति के द्वारा समस्त दिशाओं को अभी-अभी सफ़ेद करता हूँ।

'तदनु विकटकटविगलद्दानधाराप्रवाहानुभयतः सुजद्भिः सनिर्झरैरिव नीलाचलैः ....क्रमेणाजिराङ्गणमगाहन्त' ।—पृ. १८४-१८५

इस गद्य द्वारा चतुरंग सेना का तथा—

'तदनु विनिर्मित-विशाल-विशिखा-सहस्रविराजमानं........तदङ्गस्थलमशोभत' ।

इस गद्य द्वारा रंगभूमि का जो स्फूर्तिदायक वर्णन किया गया है वह हृदय में जोश उत्पन्न करनेवाला है।

दोनों सेनाओं के कल-कल शब्द का वर्णन देखिए—

युद्धप्रारम्भकेलीपिशुन-जयमहावाद्यघोषैरघोषैः-
हेषारावैर्हयानां मदमुदित-गजोद्बृंहितैर्जृम्भमाणैः ।
रथ्याध्वानैः पदातिप्रचुर-तरमिलत्सिंहनादैरमन्दैः
शब्दैकाम्भोधिमग्नं जगदिदमभवत्कम्पमानं समन्तात् ॥४०॥
—पृ. १८६

उस समय युद्धक्रीड़ा के प्रारम्भ को सूचित करनेवाले जय-जय के नारों से, बड़े-बड़े वादित्रों के शब्द से, घोड़ों की हिनहिनाहट से, मदोन्मत्त हाथियों की गर्जना से, रथों की चीत्कार से, और पैदल सैनिकों की बार-बार प्रकट होनेवाली सिंह-ध्वनि से यह समस्त संसार एक शब्दरूपी सागर में निमग्न होकर सभी ओर से काँप उठा था।

मुठभेड़ का दृश्य देखिए—

पदाति पदातिस्तुरङ्गं तुरङ्गो मदेभं मदेभो रथस्थं रथस्थः ।
इयाय क्षणेन स्फुरद्युद्धरङ्गे ध्वनज्जैत्रवाद्ये स्वनच्छिञ्जिनीके ॥४४॥

जहाँ जीत के बाजे बज रहे थे और धनुष की डोरी के शब्द हो रहे थे ऐसे उस युद्ध के मैदान में क्षण-भर में ही पैदल चलनेवाला पैदल चलनेवाले से, घुड़सवार घुड़सवार से, मदोन्मत्त हाथी का सवार मदोन्मत्त हाथी के सवार से और रथ पर बैठा योद्धा रथ पर बैठे योद्धा से मिल गया—भिड़न्त करने लगा।

हाथियों की सूँडों से निकले हुए जलकण और उठती हुई धूलि का वर्णन साहित्यिक भाषा में देखिए, कितना सुन्दर बन पड़ा है—

दृप्यद्दन्तिकरोच्चला जलकणा व्योम्नि स्फुरत्तारका-
[illegible] देवसुदृशां [illegible] निशानायकः ।
धूलीभिः पिहिते च चण्डकिरणे संग्रामलीला बभौ
निर्दोषापि विभावरीव सततं कोकव्याकुलापि च ॥४५॥

उस समय मदोन्मत्त हाथियों की सूँड़ों से उछटे हुए जल के कण आकाश में चमकते हुए ताराओं के समान जान पड़ते थे, देवांगना का मुख चन्द्रमा बन गया था और धूलि से सूर्य आच्छादित हो गया था, इसलिए वह संग्राम की क्रीड़ा निर्दोषा—दोषरहित (पक्ष में, रात्रि-रहित) होने पर भी रात्रि के समान सुशोभित हो रही थी। परन्तु विशेषता यह थी कि रात्रि में भी रथांग—पहिये (पक्ष में, चकवा) निरन्तर क्रीड़ा करते रहते थे—घूमते रहते थे।

क्रम से हाथियों, घोड़ों, रथों, पदातियों और सामन्तों के युद्ध का वर्णन करने के बाद काष्ठांगार और जीवन्धर के युद्ध का प्रांजल वर्णन किया गया है। गद्य और पद्य दोनों में ही गौड़ी रीति का आलम्बन लिया गया है जो कि वीर रस के सर्वथा अनुकूल है। अन्त में जीवन्धर द्वारा काष्ठांगार की मृत्यु का वर्णन देखिए—

कोपेनाथ कुरूद्वहः प्रतिदिशं ज्वालाकलापोमिलं
चक्रं शत्रुगले निपात्य तरसा चिच्छेद तन्मस्तकम् ।
देवाः पुष्पमवाकिरन्नविकलं श्लाघासहस्रैः समं
लोकान्दोलनतत्परः कुरुबले कोलाहलः कोऽप्यभूत् ॥१२२॥

फिर क्या था, जीवन्धर स्वामी ने क्रोध में आकर, प्रत्येक दिशा में जिसकी ज्वालाएँ निकल रहीं थीं, ऐसा चक्र शत्रु के गले पर गिराकर शीघ्र ही उसका मस्तक काट डाला, देवों ने अत्यधिक पुष्प बरसाये, और कुरुओं की सेना में हजारों प्रशंसाओं के साथ-साथ लोक में हलचल मचा देनेवाला कोई आश्चर्यजनक कोलाहल हुआ।

काष्ठांगार के मरते ही शत्रु-सेना में भगदड़ मच गयी। चारों ओर आतंक छा गया और काष्ठांगार के बन्धुजन भय से विह्वल हो गये। जीवन्धर स्वामी ने अभय घोषणा कर सबको शान्त किया। उस समय की निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

तदानीं संत्रासपलायमानं क्षात्रबलमालोक्य, कुरुवीरः करुणाकरः अभयघोषणां विधाय तद्बन्धुतां दीनामाहूय, तत्कालोचित-संभाषणादिभिः परिसान्त्वयामास।

विजयी जीवन्धर ने वैभव के साथ राज-मन्दिर में प्रवेश किया तथा कुररी की तरह विलाप करती हुई काष्ठांगार की स्त्री और उसके पुत्रों को सान्त्वना दी। बारह वर्ष के लिए पृथ्वी को करमुक्त किया।

इस प्रकार जीवन्धरचम्पू के १० पृष्ठों में युद्ध का वर्णन पूर्ण हुआ है।

□

स्तम्भ ५ : भौगोलिक निर्देश और उपसंहार

धर्मशर्माभ्युदय का रत्नपुर

लाखों वर्ष पूर्व हुए धर्मनाथ का जन्मनगर रत्नपुर था पर आज वह कहाँ है, उसका वर्तमान नाम क्या है ? इसका कुछ निर्णय नहीं है। फिर भी उनके जीवन-वृत्त से यह अनुमान लगाया जा सकता है—रत्नपुरनगर पाटलिपुत्र पटना के समीपवर्ती होगा। क्योंकि तीर्थंकर धर्मनाथ ने उल्कापात देख संसार से विरक्त हो माघ शुक्ला त्रयोदशी के दिन दैगम्बरी दीक्षा ग्रहण की थी। दीक्षा धारण करते समय उन्होंने षष्ठोपवास अर्थात् दो दिन का उपवास लिया था उसके बाद उनका पाटलिपुत्र (पटना) के राजा धन्यसेन के घर प्रथम आहार हुआ था। इससे प्रतीत होता है कि उनके दीक्षा-स्थान और पाटलिपुत्र के बीच विशेष अन्तर नहीं था।

इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह है कि युवराज अवस्था में उन्होंने शृंगारवती के स्वयंवर में जाने के लिए जब विदर्भ देश के लिए प्रयाण किया तो उन्हें मार्ग में गंगा नदी मिली। कवि ने नवम सर्ग के ६८ से ७६ तक के श्लोकों में गंगा का मनोहर वर्णन किया है। गंगा को काष्ठ की नौका से पार कर वे विन्ध्याटवी में प्रविष्ट हुए तथा विन्ध्याचल पर उन्होंने निवास किया। साधु होने पर छद्मस्थ[1] अवस्था में उन्होंने एक वर्ष तक विहार करने के बाद पुनः दीक्षावन में प्रवेश किया और सप्तपर्ण वृक्ष के नीचे ध्यानारूढ़ होकर केवल-ज्ञान प्राप्त किया। उनका यह दीक्षावन पाटलिपुत्र के समीप ही था। क्योंकि दीक्षावन, निवासस्थान के समीप ही रहता है दूर नहीं।

जीवन्धर का हेमांगद देश और उनका भ्रमण-क्षेत्र

इस स्तम्भ में हम हेमांगद देश, राजपुरी नगरी, चन्द्रोदय पर्वत तथा दक्षिण के उन देशों का आधुनिक नामों के साथ परिचय देना चाहते थे जिनमें जीवन्धर कुमार ने भ्रमण किया था परन्तु सहायक सामग्री के अभाव में पूर्ण निर्णय नहीं हो सकने से असमर्थता है। फिर भी इस दिशा में विद्वानों ने जो अब तक प्रयत्न किया है उसकी संक्षिप्त जानकारी देना उचित समझते हैं।

सर्वप्रथम कनिंघम साहब ने 'एंशिएंट जागरफी ऑफ इण्डिया' में हेमांगद देश पर प्रकाश डालते हुए उसे मैसूर या उसका निकटवर्ती भूभाग ही हेमांगद देश बतलाया

---

१. तीर्थंकर को दीक्षा लेने के बाद जबतक केवल-ज्ञान—पूर्णज्ञान नहीं हो जाता तबतक का उनका काल छद्मस्थकाल कहलाता है।

है। कनिंघम साहब के कथन में हेमांगद के पास सुवर्ण की खानें, मलय पर्वत तथा समुद्र आदि का होना कारण बतलाया गया है, परन्तु पं. के. भुजबली शास्त्री मूडबिद्री ने इस पर आपत्ति करते हुए अपना मन्तव्य प्रसिद्ध किया है कि हेमांगद देश दक्षिण में न होकर विन्ध्याचल का उत्तरवर्ती कोई प्रदेश होना चाहिए।[1] यहाँ मेरा तुच्छ विचार है यदि क्षत्रचूडामणि के—

> इहास्ति भारते खण्डे जम्बूद्वीपस्य मण्डने।
> मण्डलं हेमकोशाभं हेमाङ्गदसमाह्वयम् ॥४॥
>
> —प्रथम लम्भ

श्लोक के 'हेमकोशाभं' इस विशेषण पर जोर दिया जाये और इसका समास जैसा कि स्व. विद्वान् गोविन्दरायजी काव्यतीर्थ किया करते थे, 'हेमकोशानां सुवर्णनिधानानामाभा यस्मिंस्तत्'—'जहाँ सुवर्ण के खजानें—खानों की आभा है' किया जाये तो कनिंघम की युक्ति का समर्थन प्राप्त होता है। साथ ही राजपुरी के सेठ श्रीदत्त[2] की समुद्र-यात्रा का वर्णन क्षत्रचूडामणि, जीवन्धरचम्पू, गद्यचिन्तामणि और उत्तरपुराण में समान रूप से पाया जाता है। इससे सिद्ध होता है कि राजपुरी समुद्र के निकटस्थ होना चाहिए। विन्ध्योत्तर प्रदेश में न सुवर्ण की खानें हैं और न समुद्र की निकटता। मैसूर से दण्डक वन भी न अति दूर न अति समीप है। दण्डक वन में विजयारानी का अपने भाई के देश में अपना परिचय दिये बिना छिपकर रहना राजनीति का विषय है। क्योंकि उत्तरपुराण के अनुसार रुद्रदत्त पुरोहित ने काष्ठांगारिक को बतलाया था कि राजा सत्यन्धर की विजयारानी से जो पुत्र होनेवाला है वह तुम्हारा प्राणघातक होगा। इसी प्रेरणा से काष्ठांगारिक ने सत्यन्धर का घात किया था और उनकी रानी विजया तथा उसके पुत्र का घात करना चाहता था। विजया अपने भाई के घर नहीं गयी इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि काष्ठांगारिक उसे वहाँ अनायास खोज सकता था।

गद्यचिन्तामणि में हेमांगद का वर्णन करते समय सुपारी[3] के बाग तथा उपजाऊ जमीन की अधिकता के कारण सदा उत्पन्न होनेवाले नाना प्रकार के धानों से परिपूर्ण गाँवों के उपशल्यों—निकटवर्ती प्रदेशों का भी वर्णन किया गया है। श्रेष्ठ सुपारी के वृक्ष दक्षिण में ही हैं विन्ध्योत्तर प्रदेश में नहीं, और जल की अधिकता से दक्षिण में ही सदा धान के खेत हरे-भरे दिखाई देते हैं विन्ध्योत्तर प्रदेश में नहीं।

यदि जीवन्धर उत्तर भारत के होते तो समकालीन राजा श्रेणिक उनसे अपरिचित

---

१. देखो, जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग २, किरण ३—'महाराज जीवन्धर का हेमांगद देश और क्षेमपुरी' शीर्षक लेख।

२. उत्तरपुराण की अपेक्षा जिनदत्त।

३. 'क्वचिदविवादप्रथकारित-परिसराभिः मरकतपरिघपरिभावुकरम्भापरिरम्भरमणीयाभिः पूग-वाटिकाभिः प्रकटीक्रियमाणकाण्डभावुकारम्भेण सर्वकालमुर्वरात्राधरया पच्यमान-बहुविध-सस्यसारेण ग्रामोपशल्येन निःशल्यकुटुम्बिवर्गः'। —गद्यचिन्तामणि, प्रथम लम्भ, पैराग्राफ़ १

न रहते और न मुनि अवस्था में देख सकते देव की शंका कर सुधर्माचार्य से प्रश्न करते ।'

'यह वर्णन मात्र कवि-सम्प्रदाय के अनुसार नहीं है किन्तु यथार्थ रूप में है। क्योंकि कवि-सम्प्रदाय के अनुसार तो किसी भी वृक्ष का वर्णन हो सकता था पर अन्य वृक्षों का वर्णन न कर प्रमुख रूप से सुपारी के ही वृक्षों का वर्णन किया है। मिथिला के राजा गोविन्द महाराज की बहन विजया का विवाह दूरवर्ती राजा सत्यन्धर के साथ होना असम्भव बात नहीं है, क्योंकि जब विद्याधरों के साथ भी सम्बन्ध हो सकते हैं तब उत्तर और दक्षिण भारत की कोई बड़ी दूरी नहीं है। यही बात दक्षिण से जीवन्धर की विपुलाचल तक पहुँचने की है। जो कुछ भी हो विद्वद्गण विचार करें। दुख इस बात का है कि हम मात्र २५०० वर्ष पूर्ववर्ती देश और नगर का पता लगाने में भी समर्थ नहीं हो सक रहे हैं।

सुदर्शन यक्ष जीवन्धरकुमार को अपने निवास-स्थान चन्द्रोदय पर्वत पर ले गया है और वहाँ से उतरकर उन्होंने पल्लव आदि देशों में परिभ्रमण किया है, इससे पता चलता है कि चन्द्रोदय पर्वत दूर नहीं है। क्या यह सम्भव नहीं है कि दक्षिण का चन्द्रगिरि ही चन्द्रोदय हो, सुदर्शन यक्ष व्यन्तरदेव है, व्यन्तरों का निवास जहाँ कहीं भी होता है और उनकी इच्छानुसार मनुष्यों की दृष्टि के अगोचर भी रह सकता है।

जीवन्धर कुमार के विहारस्थलों में से क्षेमपुरी के विषय में भी पं. के. भुजबली शास्त्री ने अपने एक लेख में प्रकट किया है कि यह वर्तमान बम्बई (महाराष्ट्र) प्रान्तान्तर्गत उत्तर कनड़ जिला का गेरसोप्पे ही प्राचीन क्षेमपुरी या क्षेमपुर था। गेरसोप्पे का दूसरा नाम भल्लातकीपुर है। यह होन्नावर से पूर्व अठारह मील दूर पर अवस्थित है। जो भी हो, शास्त्रीजी दक्षिण प्रान्त के हैं और वहाँ के स्थानों से अत्यन्त परिचित हैं।

टीकाएँ और टिप्पण

धर्मशर्माभ्युदय और जीवन्धरचम्पू के इस अनुशीलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट है कि महाकवि हरिचन्द्र एक उच्चकोटि के कवि हैं। उनके उपर्युक्त दोनों ग्रन्थ संस्कृत-साहित्य के गौरव को बढ़ानेवाले हैं। इन ग्रन्थों में अलंकार, रस, ध्वनि, गुण और रीति के जैसे निदर्शन उपलब्ध हैं वैसे अन्यत्र कम मिलते हैं। दोनों ग्रन्थों के नायक धीरोदात्त हैं। इनका चरित्र-चित्रण कवि ने इतनी सावधानी से किया है कि उनके जीवन की पवित्रता पद-पद पर प्रकट होती है।

इनमें धर्मशर्माभ्युदय का प्रचार अत्यधिक रहा है। यही कारण है कि इसकी हस्तलिखित प्रतियाँ उत्तर और दक्षिण के अनेक शास्त्र-भाण्डारों में संगृहीत हैं जबकि

---

१. नानाभोगपयोधिमग्नमनसो वैराग्यदूरोज्झिता
येषां न प्रभवन्ति दुःसहतरां वोढुं मुनीनां धुरम् ।
इत्याहुः परमागमस्य परमां काष्ठामधिष्ठाय ते-
त्वद्दृष्टौ मुनिवेषमेव कलयेत् दृश्येत कस्मादपि ।—गद्यचिन्तामणि

जीवन्धरचम्पू की प्रतियाँ शास्त्र-भाण्डारों में दुर्लभ हैं। सम्पादन के लिए मात्र बम्बई के भाण्डार में एक प्रति प्राप्त हुई थी। धर्मशर्माभ्युदय पर दो संस्कृत टीकाएँ उपलब्ध हैं परन्तु जीवन्धरचम्पू पर आज तक किसी टीका या टिप्पण का परिज्ञान नहीं हुआ है। जीवन्धरचम्पू का गद्यभाग अत्यन्त दुरूह है अतः टीका के बिना उसके अध्ययन-अध्यापन में कठिनाई का अनुभव होता था। फलतः मैंने इस पर एक विस्तृत संस्कृत टीका स्वयं लिख दी है और परिशिष्ट में हिन्दी अनुवाद भी कर दिया है। प्रसन्नता की बात है कि भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसी से प्रकाशित जीवन्धरचम्पू का यह संस्करण विद्वानों को रुचिकर हुआ है और उसकी प्रथमावृत्ति शीघ्र ही समाप्त हो गयी है।

धर्मशर्माभ्युदय के संस्कृत टीकाकार यशस्कीर्ति के विषय में जितना कुछ ज्ञात हो सका है उसे आगे दिया जा रहा है।

धर्मशर्माभ्युदय के संस्कृत टीकाकार यशस्कीर्ति

धर्मशर्माभ्युदय पर दो संस्कृत टीकाएँ हैं। एक सन्देहध्वान्तदीपिका जो मण्डलाचार्य ललितकीर्ति के शिष्य पं. यशस्कीर्ति के द्वारा रचित है और दूसरी देवर-कविनिर्मित है जिसकी प्रतियाँ मूडबिद्री के जैनमठ में विद्यमान हैं। 'सन्देहध्वान्त-दीपिका टीका' मेरे द्वारा सम्पादित होकर भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसी से प्रकाशित हो चुकी है। संस्कृत काव्यों की टीका में मल्लिनाथ की पद्धति का विशेष समादर है क्योंकि उसमें अध्येताओं के बुद्धि-विकास पर दृष्टि रखते हुए उन्होंने कोष, विग्रह, समास, व्याकरण आदि सभी उपयोगी विषयों का समावेश किया है, परन्तु 'सन्देहध्वान्त-दीपिका' में मात्र ग्रन्थ का भाव प्रदर्शित करने का अभिप्राय रखा गया है। इस पद्धति में संक्षेप होता है पर अध्येता की आवश्यकता पूर्ण नहीं होती। धर्मशर्माभ्युदय जिस उच्चकोटि का काव्य है उसकी संस्कृत टीका भी उसी कोटि की होती तो अच्छा रहता।

संस्कृत टीकाकार यशस्कीर्ति कब हुए इसका मैं कुछ निर्णय नहीं कर सका परन्तु पुष्पिका-वाक्यों में इन्होंने अपने आपको मण्डलाचार्य ललितकीर्ति का शिष्य घोषित किया है। एक भट्टारक ललितकीर्ति वह हैं जिन्होंने जिनसेन के आदिपुराण और गुणभद्र के उत्तरपुराण पर संस्कृत टीका लिखी है। वे काष्ठासंघ स्थित माथुरगच्छ और पुष्करगण के विद्वान् तथा जगत्कीर्ति के शिष्य थे। इन्होंने आदिपुराण की टीका संवत् १८७४ के मार्गशीर्ष शुक्ला प्रतिपदा रविवार के दिन समाप्त की है तथा उत्तर-पुराण की टीका संवत् १८८८ में पूर्ण की है। संस्कृत टीकाकार पं. यशस्कीर्ति यदि इन्हीं ललितकीर्ति के शिष्य हैं तो उनका समय भी यही ठहरता है, परन्तु सम्पादन के लिए प्राप्त हस्तलिखित प्रतियों में श्री ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन बम्बई से जो संस्कृत टीका-सहित प्रति प्राप्त हुई थी उसका लेखन काल १६५२ संवत् लिखा हुआ है। इससे सिद्ध होता है कि धर्मशर्माभ्युदय के संस्कृत टीकाकार, आदिपुराण के टीकाकार

ललितकीर्ति के शिष्य न होकर किसी अन्य ललितकीर्ति के शिष्य हैं तथा १६५२ संवत् से तो पूर्ववर्ती हैं ही।

धर्मशर्माभ्युदय काव्य का प्रथम विवरण पीटर्सन ने अपनी एक संस्कृत-ग्रन्थों की खोज सम्बन्धी रिपोर्ट में दिया था और बम्बई की काव्यमाला सीरीज के अष्टम ग्रन्थ के रूप में इसका प्रथम बार प्रकाशन सन् १८८८ में हुआ था। उसी संस्करण की और भी दो-तीन आवृत्तियाँ हो चुकीं। ये आवृत्तियाँ मूल और संक्षिप्त पाद-टिप्पण के साथ प्रकाशित हुई थीं। अब यशस्कीर्ति की संस्कृत टीका और मेरे हिन्दी अनुवाद के साथ भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसी से प्रकाशित हुआ है। इसका सम्पादन ८ हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर किया गया है।

उपसंहार

इस प्रबन्ध में धर्मशर्माभ्युदय और जीवन्धरचम्पू का अनुशीलन तो है ही साथ में शिशुपालवध, चन्द्रप्रभचरित, किरातार्जुनीय, नैषधीयचरित, गद्यचिन्तामणि, क्षत्र-चूडामणि, दशकुमारचरित, वर्द्धमानचरित, विक्रान्तकौरव और उत्तररामचरित आदि की भी तत्तत् प्रकरणों में समीक्षा की गयी है। अतः इस एक प्रबन्ध के अध्ययन से अध्येता अनेक ग्रन्थों की जानकारी प्राप्त कर सकता है। संस्कृत-साहित्य अत्यन्त विस्तृत है। विभिन्न कवियों ने अपनी-अपनी शैली से उसमें पदार्थ का निरूपण किया है। साहित्य, तत्तत्कालीन स्थिति को प्रकाशित करने के लिए आदित्य का काम देता है। अतः उसका संरक्षण और संवर्द्धन करना प्रत्येक विद्वान् का कर्तव्य है। यह तुलनात्मक अध्ययन का युग है। इस युग का अध्येता यह जानना चाहता है कि अमुक वस्तु का वर्णन अमुक लेखक ने किस प्रकार से किया है। आज का लेखक भी अध्येता की अभिरुचि का ध्यान रखता हुआ अपने ग्रन्थ में इस प्रकार की अनुशीलनात्मक सामग्री प्रस्तुत करता है। जहाँ पहले ग्रन्थ के प्रारम्भ में प्रस्तावना के नाम पर कुछ भी नहीं रहता था वहाँ आज अल्पकाय ग्रन्थों के ऊपर भी विस्तृत प्रस्तावनाएँ लिखी जाती हैं। सच पूछा जाये तो यह प्रबन्ध, धर्मशर्माभ्युदय और जीवन्धरचम्पू की विस्तृत प्रस्तावना ही है। इस प्रस्ता-वना के साथ यदि उक्त ग्रन्थों का अध्ययन किया जाये तो उनके कितने ही गूढ़स्थल अनायास स्पष्ट हो जायेंगे।

अन्त में प्रबन्धगत त्रुटियों के लिए क्षमा-याचना करता हुआ प्रबन्ध का उपसंहार करता हूँ।

अन्त्यनिवेदनम्

मन्दाक्रान्ता

१

भो विद्वांसो निखिलनिगमाम्भोधिनिष्णातचित्ताः
पीत्वा पीत्वा सुजनकृपया काव्यपीयूषलेशम् ।
किंचित् किंचित् विरचितमिदं काव्यकेलीयमानं
मानं देव्याः सकलसुखदायाः शिवं शारदायाः ॥

२

काव्याकाशे रविरिव कविर्यो बभासे हरीन्दु-
र्ध्यायं ध्यायं तमधिहृदयं तस्य काव्यद्वयेऽहम् ।
बुद्ध्यायामं शिशुजनमनोध्वान्तविध्वंसकाम-
श्चक्रे यूयं स्खलितनिचयं मे क्षमध्वं क्षमध्वम् ॥

अनुष्टुप्

३

हरिचन्द्रकृतं धर्मशर्माभ्युदयसंज्ञितम् ।
चम्पूजीवन्धरं चापि रम्यं कविजनप्रियम् ।

४

शारदाकण्ठहाराभं ललितं ललितोपमम् ।
काव्ययुग्मं मनस्तुष्ट्यै भूयात्कोविदसंहतेः ॥

५

हरिचन्द्रकृतं काव्यं काव्यपीयूषपायिनाम् ।
मोदाय सततं भूयात् सुधियां भुवि विश्रुतम् ॥

□

परिशिष्ट

सहायक ग्रन्थ-सूची

पाण्डुलिपियाँ

(१) धर्मशर्माभ्युदय, ऐलक पन्नालाल, सरस्वती भवन बम्बई, लिपि संवत् १६५२ वि. सं.।

(२) धर्मशर्माभ्युदय, भाण्डारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट पूना, लिपि संवत् १५३५ वि. सं.।

(३) जीवन्धरचम्पू, भूलेश्वर जैनमन्दिर बम्बई, लिपि संवत्—अज्ञात

सिद्धान्तग्रन्थ

(४) षट्खण्डागम, बन्धस्वामित्वविचय-अधिकार, भाग ८, शिताबराय लक्ष्मीचन्द्र ग्रन्थमाला अमरावती द्वारा १९४७ ई. में प्रकाशित।

(५) मोक्षशास्त्र (तत्त्वार्थसूत्र) जैन विजय प्रेस सूरत से प्रकाशित, सम्पादक—पन्नालाल साहित्याचार्य, सन् १९७१ (अष्टमावृत्ति)

महाकाव्य

(६) धर्मशर्माभ्युदय—भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसी (सम्पादक—पन्नालाल साहित्याचार्य) सन् १९७१ में प्रकाशित।

(७) रघुवंश—कालिदास, निर्णय सागर, बम्बई से १९२५ में प्रकाशित।

(८) चन्द्रप्रभचरित—वीरनन्दी, पं. अमृतलालजी सा. आ. द्वारा सम्पादित और ब्र. जीवराज ग्रन्थमाला सोलापुर से प्रकाशित सन् १९७१।

(९) वर्धमानचरित—असगकवि, सम्पादक जिनदासशास्त्री, मराठी टीका सहित, सोलापुर से सन् १९३१ में प्रकाशित।

(१०) मुनिसुव्रतकाव्य, अर्हद्दास, सम्पादक पं. के. भुजबली शास्त्री, जैन सिद्धान्तभवन, आरा से १९२९ में प्रकाशित।

(११) शिशुपालवध, महाकवि माघ, निर्णयसागर प्रेस बम्बई से सन् १९१४ में प्रकाशित।

(१२) नैषधीयचरित, श्रीहर्ष, निर्णय. बम्बई से १९१२ में प्रकाशित।

(१३) किरातार्जुनीय, भारवि, ,, १९२२ ,,

(१४) कुमारसम्भव, कालिदास, ,, १९१२ ,,

(१५) क्षत्रचूडामणि, वादीभसिंह, टी. एस. कुप्पूस्वामी द्वारा सम्पादित तंजोर में सन् १९०३ प्रकाशित ।

गद्यकाव्य

(१६) गद्यचिन्तामणि, वादीभसिंह, पन्नालाल साहित्याचार्य द्वारा सम्पादित और भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसी से १९६८ में प्रकाशित ।
(१७) कादम्बरी, बाणभट्ट, निर्णय सागर बम्बई से १९४० में प्रकाशित
(१८) दशकुमारचरित, दण्डी, ,, १९१३ ,,
(१९) श्रीहर्षचरित-बाणभट्ट ,, १९३७ ,,
(२०) कादम्बरी—एक अध्ययन, वासुदेवशरण अग्रवाल, चौखम्बा विद्याभवन से १९५८ में प्रकाशित ।

चम्पूकाव्य

(२१) जीवन्धरचम्पू, महाकवि हरिचन्द्र, सम्पादक पन्नालाल साहित्याचार्य भारतीय ज्ञानपीठ से १९५८ में प्रकाशित ।
(२२) यशस्तिलकचम्पू—सोमदेव, निर्णय सागर बम्बई से १९०३ में प्रकाशित ।
(२३) नलचम्पू, त्रिविक्रमभट्ट, निर्णय सागर बम्बई से १९३१ में प्रकाशित ।
(२४) पुरुदेवचम्पू, अर्हद्दास, सम्पादक पन्नालाल साहित्याचार्य भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसी से प्रकाशित, सन् १९७२ ।

पुराण

(२५) महापुराण अपभ्रंशभाषा पुष्पदन्त, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई से प्रकाशित । प्रथम भाग १९३७ । द्वितीय भाग १९४० । तृतीय भाग १९४१ ।
(२६) उत्तरपुराण, गुणभद्राचार्य, सम्पादक पन्नालाल सा. आ. भारतीय ज्ञानपीठ से सन् १९५४ में प्रकाशित ।

नाटक

(२७) विक्रान्तकौरव, हस्तिमल्ल, सम्पादक पन्नालाल सा. आ. चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी से १९६९ में प्रकाशित ।
(२८) उत्तररामचरित, भवभूति, चौखम्बा विद्याभवन से १९५७ में प्रकाशित ।
(२९) अभिज्ञानशाकुन्तल, कालिदास, निर्णय सागर १८९५ में प्रकाशित ।

साहित्य

(३०) काव्यप्रकाश, मम्मट, आनन्दाश्रम मुद्रणालय पूना से सन् १९११ में प्रकाशित ।

(३१) रसगंगाधर पण्डितराज जगन्नाथ, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी से १९५७ में प्रकाशित ।

(३२) अलंकार-चिन्तामणि, अजितसेन, कोल्हापुर से १८२९ शकाब्द में प्रकाशित ।

(३३) साहित्यदर्पण, विश्वनाथ कविराज, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी से १९५७ में प्रकाशित ।

(३४) ध्वन्यालोक, आ. आनन्दवर्धन ज्ञानमण्डल लिमि. काशी से सन् १९३३ में प्रकाशित ।

(३५) सुवृत्ततिलक, क्षेमेन्द्र, चौखम्बा विद्याभवन से १९३३ में प्रकाशित ।

छन्दोग्रन्थ

(३६) छन्दोमञ्जरी, चौखम्बा विद्याभवन से १९४० में प्रकाशित ।

(३७) वृत्तरत्नाकर—केदारभट्ट, निर्णय सागर, १९२६ में प्रकाशित ।

व्याकरण

(३८) सिद्धान्तकौमुदी, भट्टोजि दीक्षित, तत्त्वबोधिनी सहित वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई से सन् १९२९ में प्रकाशित ।

कोष

(३९) अमरकोष (संस्कृत टीका सहित) निर्णय सागर से सन् १९१५ में प्रकाशित ।

(४०) विश्वलोचन कोष, धरसेन, सोलापुर से प्रकाशित ।

शोधप्रबन्ध

(४१) संस्कृत साहित्य के इतिहास में जैन कवियों का योगदान—ले. डा. नेमिचन्द्र जी शास्त्री, आरा, भारतीय ज्ञानपीठ से सन् १९७१ में प्रकाशित ।

इतिहासग्रन्थ

(४२) संस्कृतसाहित्य का इतिहास—ले. डॉ. बलदेव उपाध्याय शारदामन्दिर वाराणसी से सन् १९५८ में प्रकाशित ।

(४३) जैन साहित्य का इतिहास, ले. नाथूराम प्रेमी हिन्दीग्रन्थरत्नाकर बम्बई से सन् १९५६ में प्रकाशित ।

पत्र-पत्रिकाएँ

(४४) जैनसिद्धान्तभास्कर—भाग २, किरण ३, जैनसिद्धान्तभवन, आरा ।

□